उनसे न कहना

मनोवैज्ञानिक सामाजिक उपन्यास

भगवतीप्रसाद वाजपेयी

राजपाल एण्ड सन्ज़, कश्मीरी गेट, दिल्ली

मूल्य : छः रुपये

© राजपाल एण्ड सन्ज, १९६८

चौथा संस्करण : १९६८

UNASE NA KAHANA by Bhagwati Prasad Vajpeyee
Novel 6·00

उनसे न कहना

उनसे न कहना

जीवन के विजय-पथ में सृष्टि और विकास का बड़ा महत्त्व है। सृष्टि में सान्निध्य और सम्पर्क के मूलभूत अवयव स्वच्छन्द रहते हैं और विकास में एकता, मिलन और केन्द्रीकरण के। जीवन-तत्त्वों का अनुभव धीरे-धीरे होता है। इसलिए जब अनुभव जीवन को आगे बढ़ाता है तभी वह विकसित होता है। सृष्टि में भी एक रहस्य रहता है। पांच और तीन का मिलन सम्भावनाशील होता है; किन्तु चार और चार का मिलन दोनों को पृथक्-पृथक् बनाए रखता है। समान तेज और ओज, अहम् और दम्भ परस्पर टकराते रहते हैं। तीन और पांच के मिलन अधिक प्रीतिपूरक होते हैं। द्वार की चौखट में जैसे चूल होती है कि रिक्त स्थान की पूर्ति अतिरिक्त द्वारा हो जाती है। यदि एक अपने को रिक्त करता है तो दूसरा अतिरिक्त की संज्ञा से मिलकर उसमें भिद जाता है। इसीलिए चार और चार अंकों जैसी समान अवस्थाएं जीवन में बहुधा समवेत कम होती हैं। पीत वर्ण के साथ पीत वर्ण के मिलन का अर्थ हो सकता है, पर जहां तक सृष्टि का सम्बन्ध है, ऐसा मिलन जीवन को गति नहीं देता। इसके विपरीत पीत वर्ण के साथ यदि नील वर्ण घुल-मिलकर कभी जो अद्वैत-सा सायुज्य स्थापित कर लेता है तो सृष्टि का क्रम आपसे-आप प्रारम्भ हो जाता है!

संक्षेप में सृष्टि का यही रहस्य है।

कीर्तिदेव की अभी नई उमर थी। यौवन की आंधियों में पड़कर मानसिक सन्तुलन प्रायः खो बैठते थे। अभिमान इस सीमा तक था कि अपने बराबर किसीको समझते न थे। हठ इस सीमा तक कि तथ्य की भी उपेक्षा कर जाते और वस्तु-स्थिति के मर्म को समझने की भी चेष्टा न करते।

अपनी रुचियों में वे इतने दृढ़ थे कि सम्बन्धित लोगों की रुचियों के साथ वे किसी प्रकार सहयोग न कर सकते थे। फलों में उन्हें आम, अंगूर और केला पसन्द

थे। इसी प्रकार मिठाइयों में केवल रसगुल्ला। साग-भाजी का हाल यह था कि यदि किसी दिन घी में भुना हुग्रा ग्रालू थाली में न ग्राता ग्रौर ग्ररहर की दाल के स्थान पर कहीं मूंग, उड़द या चने की दाल सामने ग्रा जाती, तो उनसे खाना न खाया जाता। बचपन में पिता के साथ चाय पीने की जो ग्रादत पड़ गई थी, वह ग्रब इतनी दृढ़ हो गई थी कि दूध तो किसी प्रकार पी ही न सकते थे। बचपन में धोती ग्रौर पाजामा छोड़ 'हाफ पैंट' की जो ग्रादत पड़ गई, उसका परिणाम यह हुग्रा कि वयस्क होने पर 'हाफ पैंट' का स्थान 'फुल पैंट' ने ग्रहण कर लिया, ऐसे प्रभविष्णु थे कि जब तक वे घर में बैठे रहते, तब तक कोई ज़ोर से बोल भी न सकता था। इसलिए कीर्ति बाबू पिता के साथ कभी खाना खाने न बैठते थे। उनसे डरते इतना ग्रधिक थे कि विवाह के सम्बन्ध में ग्रन्त तक मौन रहे। परिणाम यह हुग्रा कि एक ऐसी लड़की के साथ उनका विवाह हो गया जो कुछ स्थूलकाय ग्रौर श्याम थी।

उसका नाम था कल्याणी। वह बड़े घर की बेटी थी ग्रौर बड़े ही लाड़-प्यार में पली भी थी। उसकी ग्रपनी रुचियां थीं, ग्रपने विचार थे। पिता के जीवन-काल में वस्त्र ग्रौर ग्राभूषण, खाद्य-पदार्थ ग्रौर दैनिक व्यवहारोपयोगी वस्तुएं उनकी इच्छा से ग्राती थीं। कीर्ति बाबू के लिए हस्तक्षेप का कोई ग्रवसर न था। पर जब वे न रहे, तो घर की व्यवस्था स्वाभाविक रूप से कीर्ति बाबू के हाथ में ग्रा गई।

कुछ दिनों तक तो कल्याणी स्वामी का रंग-ढंग देखती रही। उसने देखा कि वे केवल ग्रपनी रुचियों का ध्यान रखते हैं, मेरी रुचियों पर विचार ही नहीं करते। जिस प्रकार की साड़ियां उसे पसन्द होतीं, कीर्ति बाबू उनकी ग्रोर देखते भी न थे। कभी कोई ग्राभूषण बनवाने का प्रश्न उठता, तो ग्रसली सोने के स्थान पर वे 'गिनी गोल्ड' को ग्रधिक महत्त्व देते थे। कल्लाणी को उच्चकोटि के सूती कपड़े पसन्द थे, किन्तु कीर्ति बाबू रेशमी छोड़ बात न करते थे। दोनों ग्रगर साथ-साथ जलपान करने बैठते, तो गरमी के दिनों में कीर्ति बाबू के लिए चाय बनती, कल्याणी के लिए लस्सी। ग्रध्ययन के सम्बन्ध में भी यही बात थी। कीर्तिदेव को कहानी ग्रौर उपन्यासों से विशेष प्रीति थी, पर कल्याणी को कविता से। वर्षा के दिनों में कल्याणी खुले ग्राकाश के नीचे सोना पसन्द करती; किन्तु कीर्ति बाबू कमरे के ग्रन्दर सोते। कल्याणी प्रातःकाल जल्दी उठती थी, तो जल्दी सो भी जाती थी।

कीर्ति बाबू का हाल यह था कि वे देर से सोते तो देर से उठते। दोनों अगर साथ बैठते, वार्तालाप करते, तो दस-पांच मिनट के भीतर ही किसी न किसी बात पर बहस उठ खड़ी होती।

एक दिन कीर्ति बाबू ने कह दिया—"तुम्हारे मुंह से तम्बाकू की ऐसी बास आती है कि पास में बैठना मुश्किल हो जाता है।"

कल्याणी ने उत्तर दिया—"मैं जो तम्बाकू पान के साथ खाती हूं, वह बत्तीस रुपये सेर से कम की तो कभी होती ही नहीं। कभी-कभी तो साठ रुपये सेर की भी होती है। पर तुम्हारे मुंह से उस सिगरेट की बास आती है जिसकी तम्बाकू घोड़े की लीद-सी होती है।"

कीर्ति बाबू के यहां ज़मींदारी-कारबार उच्चकोटि का था। सवारियों में सेज-गाड़ी और सग्गड़ तो था ही, मझोली और रथ भी रहता था। स्वयं उनको जाना होता तो प्रायः घोड़े पर जाया करते। पिता के जीवन-काल में तो हाथी भी था, पर जिस दिन उनका देहान्त हुआ था, उसके दूसरे ही दिन हाथी का।

होते-करते एक दिन जब कल्याणी के भाई प्रसन्नमन उपाध्याय उसकी विदा के लिए आए, तो सवारी तैयार होते-होते 'ट्रेन' के समय के हिसाब से कुछ देर हो गई। कीर्ति बाबू ने कह दिया—"अब रथ पर जाने से गाड़ी नहीं मिलेगी। सग्गड़ पर क्यों न चली जाओ?"

कल्याणी ने कह दिया—"कार ऐसे ही समय के लिए होती है।"

कीर्तिदेव उद्दंड स्वभाव के थे ही, बोल उठे—"ऐसा ही था तो बाप के घर से 'कार' लेकर आई क्यों नहीं?"

कल्याणी ने भी आवेश में आकर उत्तर दिया—"स्वयं जिनके करे-धरे कुछ नहीं होता, वही ससुराल का सहारा पाने को लपकते हैं!"

बस कल्याणी का इतना कहना था कि वाक्-युद्ध छिड़ गया।

"जिनके घर में खाने को नहीं होता, वे पति के घर में आकर चार-चार साग और आध-आध पाव घी उड़ाने में कभी नहीं चूकतीं।"

"जिनको आध-आध पाव घी खाने का हौसला होता है वे भरे हुए टीन के टीन घी अपने घर से ले भी आती हैं।"

इस अवसर पर कीर्ति बाबू को यह कहना चाहिए था कि इसी प्रकार जिनको कार पर चढ़ने का हौसला हो, उन्हें कार अपने घर से लेकर चलना चाहिए;

पर ऐसा न कहकर उन्होंने कह दिया—

"वे इतने भरे हुए होते हैं कि हमारे घर में एक मास भी नहीं टिकते।"

"वे इतने भरे हुए होते हैं कि ब्याह-जनेऊ में काम आने के लिए छिपाकर रख लिए जाते हैं।" कल्याणी को सच्ची बात कहनी पड़ी।

कीर्ति को ऐसे प्रश्नोत्तरों में आनन्द आता था। अतः वे बोले "और काम के समय जब उनका घी खराब निकलता है तो उसका उपयोग घर के मेहमानों के लिए न होकर प्रजाजनों के लिए होता है।"

"प्रजाजनों के लिए तो नहीं होता, खास समधी के घर जानेवाले पकवानों में होता है।"

कल्याणी जानती थी कि अभी गतवर्ष उसकी ननद के विवाह में ऐसा ही हुआ था।

कीर्ति बाबू सत्य को तो पचा लेते थे, पर कटु सत्य को नहीं। अतएव आवेश में आकर उन्होंने कह दिया—"तुम झूठ बोल रही हो।"

कल्याणी भला कब चूकनेवाली थी। उसने और भी उग्र स्वर में कह दिया—"तुम हमेशा झूठ बोलते हो।"

तब मां बनी हुई थीं। लड़के और बहू के बीच वाक्युद्ध का उच्च स्वर सुनकर दौड़ पड़ीं। बोलीं—"मनइयां, यह तुम्हारी बड़ी खराब आदत पड़ गई है। कम से कम इतना तो खयाल किया करो कि अभी मैं जीवित हूं।"

कीर्ति ने उत्तर दिया—"अम्मा, तुम नहीं जानतीं, यह कितनी असभ्य हो गई है। शिष्टाचार तो जानती ही नहीं। इसकी मूर्खता से मैं ऊब गया हूं। इसने मेरा जीवन बरबाद कर दिया!"

कल्याणी रो पड़ी। बोली—"अम्मा, ये मेरा ही नहीं, मेरे माता-पिता का भी अपमान करते हैं। मैं इसे कभी सहन नहीं कर सकती!"

मां ने कह दिया—"क्यों मनइयां! तुम्हारे बाबू क्या नहीं रहे, बात-बात में बहू को इस तरह रुलाने की छूट मिल गई? बड़ी खराब बात है। अगर फिर कभी इस तरह की भनक मेरे कान में पड़ी, तो मैं तुम लोगों के साथ रह न सकूंगी। पहले से बताए देती हूं।"

कीर्ति बाबू ने उत्तर दिया—"मेरे साथ अब इसकी एक घड़ी नहीं पट सकती, पर जहां जा रही है अब इसको वहीं रहना होगा। मैं भी पहले से सावधान किए

देता हूं।"

मां ने बहू को बहुत समझाया कि तुम रथ पर ही चली जाना। आज न सही कल सही। पर कल्याणी किसी तरह न मानी। उसने उत्तर दिया—"अम्मा! अब मैं आज ही जाऊंगी। भले ही मुझे सग्गड़ पर जाना पड़े।"

इस प्रकार कल्याणी अपने भाई के साथ चली गई। फिर न कभी कीर्तिदेव उसको लेने के लिए ससुराल गए, न वही लौटकर स्वामी के घर आई।

उत्तेजना में आकर साधारण व्यक्ति कभी-कभी ऐसे कार्य कर डालता है जिसको असाधारण पुरुष भी साधारण रूप से नहीं कर पाते। कीर्तिदेव उन व्यक्तियों में थे जो धन-सम्पदा में पर्याप्त भरे-पूरे और सम्पन्न थे। पिता की अर्जित की हुई धनराशि के भोग का नवल उत्साह था और अब तो मानस-लोक में तरंगों के साथ-साथ एक उत्तेजना भी थी। विचार उनके भौतिकवादी थे। जो भावनाएं पिता के भय से दबी पड़ी रह गई थीं, वे अब उभर उठी थीं। परिणाम यह हुआ कि उन्होंने एक ऐसी लड़की के साथ विवाह कर लिया जो तन्वंगी, सुहासिनी, परम लावण्यमयी और स्वभावतः अवलम्बिता थी। नाम उसका था सत्यवती।

सत्यवती को विवाह से पूर्व ही इस बात का पता लग गया था कि किस कारण एक पत्नी के रहते हुए भी ये दूसरा विवाह कर रहे हैं। वह चाहती तो न थी कि ऐसे व्यक्ति के साथ उसका विवाह हो, जो एक पत्नी को छोड़ चुका है; किन्तु प्रश्न यहां एक परित्यक्ता नारी के साथ सहानुभूति के प्रवाह में बह जाने का उतना न था, जितना व्यक्तिगत संयोग-लाभ का।

एक बात और थी। सत्यवती प्रकृति से भी इतनी साहसी और आत्मनिष्ठ न थी कि अपने माता-पिता से स्पष्ट और दृढ़तापूर्वक कह सकती—'इस प्रकार का विवाह मुझे स्वीकार नहीं है।'

इस विवशता की प्रतिक्रिया यह हुई कि कीर्ति बाबू के यहां आकर सत्यवती की वह अंतश्चेतना भी दब गई, जो अनुकूल अवसर पाकर कभी न कभी उभर भी सकती थी।

कल्याणी जिस समय अपने पिता के घर इलाहाबाद चली गई, उस समय उसके पेट में एक नवीन आत्मा ने अपनी स्थापना का श्री गणेश कर दिया था। एक ओर जब सत्यवती के जीवन में नई-नई तरंगें उठ रही थीं, दूसरी ओर

कल्याणी का मन विद्रोही भावनाओं से आन्दोलित हो रहा था। जब सत्यवती मन ही मन सपनों का संसार बना रही थी, कल्याणी का स्वप्न टूट चुका था। सत्यवती जब अपनी सखियों के साथ हंसती और अठखेलियां करती, तब कल्याणी के आंसू अधरों तक आते-आते गिर पड़ते थे। कभी-कभी उसके मन में यह भी आता कि इससे तो यही अच्छा था कि मैं विवाह ही न करती।

उस समय कल्याणी की मां ज़िन्दा थीं। पिता वृद्ध अवश्य हो गए थे, किन्तु अभी शिथिलतन, गलितमन नहीं हुए थे। मां सांत्वना देती हुई कहतीं—"मत रो बेटी। तुम्हें यहां किसी प्रकार का कष्ट नहीं हो सकता। हमारे घर में किस बात की कमी है!" और पिता गरज उठते—"मैं अभी गुज़ारे का दावा करता हूं! बच्चू को आटा-दाल का भाव मालूम हो जाएगा। उन्होंने मुझे समझा क्या है!"

ऐसे समय कल्याणी कुछ न बोल पाती थी। वह उन्हें कैसे समझाती कि जग-जननी जानकी ने ऐसे ही अवसर के लिए गोस्वामी तुलसीदासजी के शब्दों में कहा था – 'जिय बिनु देह नदी बिनु बारी। तैसेहिं नाथ पुरुष बिनु नारी।'

परिस्थिति में केवल इतना अन्तर था कि जानकीजी ने यह बात अपने स्वामी से कही थी। किन्तु कल्याणी इस अवसर पर चाहती तो अपने माता-पिता को कह सकती थी। लेकिन उसने ऐसा कुछ कहना तो दूर रहा, कोई संकेत देना भी उचित नहीं समझा। इसमें उसको अपनी हीनता स्पष्ट दिखलाई पड़ती थी। वह दयनीय नहीं बनना चाहती थी। उसका वश चलता और घर का वातावरण अनुकूल होता तो सम्भव था कि वह अपने अन्तःकरण का स्वर प्रकट करके ही मानती। विचार अवश्य उसके आधुनिक थे, किन्तु संस्कार पुरातन थे। फिर सामाजिक मान-मर्यादा और प्रतिष्ठा का लोभ भी उसमें कम न था। क्रांति करती तो कैसे करती?

मध्यम वर्ग के व्यक्ति का सबसे अधिक दुर्बल मर्मस्थल यही होता है। एक ऐसी काल्पनिक किन्तु समाज-सम्मत, मर्यादाशीलता से वह भारनत और पीड़ित रहता है कि विद्रोह की भावना रहते हुए भी उसे चरितार्थ नहीं कर सकता। इसी दुर्बलता में उसका आर्थिक पक्ष भी सन्निहित था। एक स्वामी को त्यागकर जब वह दूसरा स्वामी बना लेती है, तब एक तो वह समाज की सहानुभूति खो देती है; दूसरे, स्वामी की धन-सम्पदा बंटा लेने की अधिकारणी भी नहीं रह जाती। भारतीय न्याय-विधान भी इसमें उसका सहायक नहीं होता। इन सब बातों पर विचार करने के अनन्तर कल्याणी ने अन्त में यही निश्चय किया कि वह आजीवन

एकाकिनी रहेगी।

केवल एक आशा-किरण वह मन ही मन छिपाए रही, फिर जब नवसृष्टि हुई, तो वह किरण अपने-आप क्षितिज से फूट निकली।

सत्यवती में शील, विनय और मानवीय सहानुभूति की कमी न थी। माना कि स्वभाव से वह अवलम्बिता थी। यह भी माना कि वह स्वामी की चेष्टा देखकर चलती थी। किन्तु व्यावहारिकता का उसमें अभाव न था। समय और अवसर के अनुरूप उसके मन में जो लहरें उठतीं, भावनाओं के ज्वार आते, कामनाओं के पंख फैलते, इच्छाओं के अंकुर उदय होते, कल्पनाओं के पलक खुलते, उनका संकेतात्मक मन्तव्य प्रकट करने में वह कभी चूकती न थी।

कल्याणी के जब बच्चा उत्पन्न हुआ तब सत्यवती कीर्ति बाबू की पार्श्ववर्तिनी बन चुकी थी। समाचार पाते ही कीर्ति बाबू की मां ने कहा—"अरे मनइयां! भगवान ने बड़ी बहू की गोदी भरी है। मेरे भाग्य जगे हैं कि पोते का मुख देखने का अवसर मिला। ऐसे समय हमें भी कुछ करना चाहिए, माना कि वह रूठकर चली गई है। यह भी माना कि तेरे सम्बन्धों में अन्तर पड़ गया है, पर उस अबोध बच्चे ने तो अपराध नहीं किया कि उसके जन्मोत्सव की खुशियां न मनाई जाएं।"

कल्याणी को गए हुए आठ मास व्यतीत हो चुके थे और कीर्ति बाबू सोचते थे कि जब बाढ़ का पानी निकल जाएगा, सरिता अपनी साधारण गति पर आ जाएगी; तब सीधे रूप से न सही, प्रकारान्तर से तो क्षमा, खेद और पश्चात्ताप से पूर्ण कोई न कोई सन्देश कल्याणी के पास से आएगा ही।

कीर्ति के मन की यह एक ऐसी कल्पना थी जो उच्छल अहंभाव से भरी हुई थी। कल्याणी कितना बड़ा आघात लेकर गई थी, इसका अनुमान लगा लेने की सुगम बुद्धि का उनमें लोप हो गया था। इस कारण उनके अहंभाव की क्षुब्ध तरंग-धार कुण्ठित हो उठती थी।

मां की उपर्युक्त बात के उत्तर में उनके मुंह से निकल गया—"इन बातों से मेरा कोई मतलब नहीं। जो स्त्री मेरी नहीं हुई, उससे उत्पन्न बच्चा मेरा कैसे हो सकता है?"

लड़के की इस बात को सुनकर मां को बड़ा क्लेश हुआ। जब और कोई उपाय न सूझ पड़ा, तब उसी दिन वे भी अपने मायके चली गईं। सत्यवती ने उन्हें बहुत

रोका, बड़ी प्रार्थनाएं कीं, किन्तु वे किसी तरह न मानीं ।

सत्यवती ने उस दिन स्वामी से कह दिया—"तुम मानो चाहे न मानो, लेकिन मुझे तो अपना कर्तव्य निभाना ही पड़ेगा। माना कि वह मेरी कोख से उत्पन्न नहीं हुआ, मगर है तो वह तुम्हारे ही रक्त-बिन्दु से उत्पन्न आत्मा का खिलौना । नहीं, नहीं, तुम मुझे इस विषय में रोक नहीं सकोगे ।"

बात वही थी, जिसको विरोध कहते हैं । केवल शैली में अन्तर था । फलतः कीर्ति बाबू ने कोई उत्तर नहीं दिया। मुख पर मुस्कराहट झलक उठी, यही उनका उत्तर था ।

ऐसी बात न थी कि कल्याणी समन्वय जानती ही न थी । वह मानती थी कि समन्वय और सायुज्य के बिना जीवन प्रवाहहीन हो जाता है । धूप न हो तो निदाघज्वाला डूब-डूबकर इधर-उधर अपने पांव पसार-पसारकर, तपी हुई हवाएं कैसे प्रवहमान बनाए । लपटें न चलें तो न वाष्पोत्पादन हो, न गगन-मण्डल में बादल-परियां उड़ने का अवसर पाएं। एक ऊष्मा ही तो है जो पहले मेघों का निर्माण करती है, फिर नन्ही-नन्ही बूंदों के रूप में प्रायः रिमझिम और कभी-कभी मूसलाधार बरसकर निखिल पृथ्वी-तल को शस्य-श्यामला बना देती है । इस प्रकार जल और अनल भी परस्पर समवेत हुए बिना नहीं मानते । इसके विपरीत हमारे यहां होता यह है कि जल कहता है—मैं ही मैं हूं, मेरे बिना काम नहीं चलेगा—और अनल कहता है—ऐसी-तैसी तुम्हारी । मैं तुमको भस्म करके छोड़ूंगा ।

कल्याणी को कभी-कभी अपनी इस परिस्थिति पर हंसी आ जाती थी । सुदूर भविष्य की कल्पना कर वह सोचने लगती—अब मुझे देखना यह है कि ये सत्यवती को चिड़ी का गुलाम बना लेते हैं, या सत्यवती 'स्पेनिश क्वीन' बनकर रहती है ।

कल्याणी के प्रसूति-गृह में दाई का स्वर फूट पड़ा— 'कहां हैं उपाध्यायजी? सोने की मोहर चाहिए । नन्दलाल पैदा हुए हैं ।"

उपाध्यायजी तो बाद में आए पर द्वार-मण्डप के ऊपर शहनाई बजने लगी । उस समय कल्याणी की मां बनी हुई थीं । पांच रुपये निकालकर दाई को तुरन्त दे दिए ।

इस अवसर पर बच्चे के लिए वस्त्राभूषण तो बहुत आए, पर कीर्ति बाबू स्वयं

नहीं पहुंचे । अपने मैनेजर कांतिलाल को भेज दिया था ।

सत्यवती पद-मर्यादा में कल्याणी से छोटी थी, किन्तु अवस्था में उससे भी एक मास बड़ी।

जब जन्मोत्सव-कार्यक्रम में ब्रह्मभोज हो रहा था, तब कहीं कल्याणी की मां ने आचार्यजी से पूछा था—"इस बच्चे के ग्रह-नक्षत्र देखे कुछ आपने ? कैसा योगायोग है ?"

आचार्यजी ने मुस्कराते हुए उत्तर दिया—"होगा तो बड़ा प्रभावशाली और आयु भी बहुत बड़ी है, किन्तु पिता से सदा वैर रखेगा । वह तो कम रखेगा, पिता स्वयं अधिक रखेंगे और एक बड़े अरसे तक चिन्तित भी रहेगा ।"

दिन जाते देर नहीं लगती। दो वर्ष यों ही व्यतीत हो गए। फिर समाचार आया कि सत्यवती के लड़की हुई है। फिर आचार्य आए, फिर उनसे पूछा गया—"इस लड़की की ग्रह-दशा कैसी है ?"

आचार्यजी ने बतलाया—"और सब बातें ठीक हैं, किन्तु इस लड़की के ऊपर कोई भाई न होगा, अगर होगा तो बचेगा नहीं ।"

कल्याणी ने जब यह बात सुनी, तब आकाश की ओर हाथ जोड़कर आंखें मूंदते हुए उसके मुंह से निकल गया— तुम बड़े समर्थ हो। परम पिता, तुम्हारे बड़े-बड़े हाथ हैं। तुम सब कर सकते हो ।"

कहते हैं, कल्याणी की मां ने उसी समय आचार्यजी से कहा कि मेरे इस नाती की जन्मपत्री देखकर बताओ कि इसके भाई लिखा है या नहीं ।

आचार्यजी ने इसका जो जवाब दिया था, तब तक वह कल्याणी के कान में पड़ चुका था।

इस अवसर पर कल्याणी अपने यहां के मैनेजर के साथ गढ़ी गई थी। जो सामग्री सत्यवती ने उसके यहां भेजी थी, उससे भी कुछ अधिक शानदार सामग्री लेकर; और गई थी घर की कार में बैठकर, सो भी दो घण्टे के लिए ।

सत्यवती उससे मिलकर बहुत प्रसन्न हुई थी और जब वह चलने लगी, तो बहुत रोई भी थी। उसने कहा था—"जो कुछ हुआ, उसको भूल जाओ दीदी। क्या एक पेड़ में दो डालियां नहीं होतीं ?"

कल्याणी मुस्कराई और उसने कह दिया—"होती हैं, मगर वे डालियां पेड़ से संलग्न होकर रहती हैं; विलग नहीं की जातीं। और दूसरी बात यह है कि डालियां

तो रह भी सकती हैं और अधिक भी हो सकती हैं, पर एक म्यान में दो तलवारें नहीं रह सकतीं।"

सत्यवती ने पूछा—"उनसे मिलोगी नहीं ?"

कल्याणी मुस्कराते हुए बोली—"था ऐसा अवसर, पर उन्होंने उसे अपने हाथ से खो दिया। विजय के जन्मोत्सव पर अगर वे घड़ी-भर के लिए चले आते···"

सत्यवती ने और भी अधिक प्रसन्न होकर कह दिया—"तो राजा बेटा का नाम तुमने विजय रखा है !"

"हां ! आचार्य ने यही नाम रखा है।"

सत्यवती ने कह दिया—"आचार्यजी ने इसकी भी ग्रह-दशा तो देखी होगी। उनसे कहना, इसका भी नामकरण, संस्कार वही कर दें।"

तब उसका नाम रखा गया—'नयनतारा'

कीर्ति बाबू तो बहुत दिनों तक उपाध्यायजी के यहां नहीं गए, किन्तु इस दिन के बाद सत्यवती कल्याणी के यहां जाती-आती रहती थी।

फिर अनेक वर्ष इसी प्रकार बीत गए।

विवाह चाहे पहला हो, चाहे दूसरा, पुरुष के जीवन में एक बार तो झंझानिल उपस्थित कर ही देता है। दूसरा विवाह करने पर दो-तीन वर्ष तो ऐसे निकल गए जैसे किसी सरिता का प्लावन हो। फिर कालान्तर में जब जीवन साधारण स्तर पर आ गया, तब कीर्ति बाबू ने अनुभव किया कि साथी मिला अवश्य, मगर अपने जोड़ का न मिला। वे तेवर ही नहीं हैं इसमें। मुख पर वह भ्रूभंगिमा ही नहीं उत्पन्न होती, वाणी पर वे शब्द ही नहीं उतरते, जिनको सुनकर उत्तेजित हो उठता था। उस तिलमिलाहट में भी एक आनन्द रहता था। वार्तालाप में वह उत्साह का एक ऐसा झकोरा उपस्थित कर देती थी कि कभी-कभी तो अप्रत्याशित रूप से भीतर से 'वाह' निकल ही जाती थी। सदा इस बात की लालसा बनी रहती थी कि ज़रा-सा इसको छेड़ दिया जाए तो मज़ा आ जाए।

लगता था, मिज़राब वही है मगर वीणा कहां है जो लघु से लघु स्पर्श में झनकार कर उठती थी ?

नयनतारा के बाद सत्यवती के दो कन्याएं और हुई थीं। एक पहले वर्ष के भीतर, जो नहीं रही, दूसरी दो वर्ष बाद। उसके बाद इधर पांच वर्ष बीत गए

और कोई सन्तान नहीं हुई। घर में तीन नौकर थे। एक मोटर ड्राइव करता और बाजार से सौदा ले आता था। एक माली था, जो लॉन और उसके पुष्पों, पौधों और गमलों की रक्षा और शोभा के लिए नियुक्त था। तीसरा कपड़े साफ करने, घर की सफाई और चौका-बर्तन के लिए। इनके अतिरिक्त एक विधवा ब्राह्मणी भी थी जो खाना बनाती थी। कभी-कभी सत्यवती अपनी भतीजी को भी बुला लिया करती थी। अकेले दिन काटे नहीं कटता था। पैसे की कमी नहीं थी और भोगनेवाला जो था उसे दूध में पड़ी हुई मक्खी की तरह अलग फेंक दिया गया था, केवल इस दम्भ के नाम पर कि अगर क्रोध मुझे आ जाए, तो उसका परिणाम यहां तक हो सकता है। लेकिन क्रोध ऐसी वृत्ति नहीं जो सदा एकरस बनी रहे। क्रोध का विलय सदा करुणा में होता है। क्रोधी व्यक्ति का पश्चात्ताप बड़ा ही कारुणिक होता है।

सत्यवती प्रायः सोचा करती—यह क्या बात है कि क्रोध ये करते हैं और उसका फल मैं भोगती हूं।

उधर ज्यों-ज्यों दिन चलते जाते थे, त्यों-त्यों कीर्ति के मन में आता था, बच्चे को कैसे यहां बुलाया जाए? सत्यवती के कारण तो और भी नाक में दम था। एक दिन वह खाना खाकर पलंग पर पड़ी हुई थी कि कीर्ति बाबू जा पहुंचे। सत्यवती को उदास देखा, तो पूछ बैठे—"क्यों, क्या कुछ तबियत खराब है?"

सत्यवती ने कोई उत्तर नहीं दिया, पर उसकी आंखों में आंसू आ गए।

कीर्ति ने पूछा—"बात क्या है, बतलाती क्यों नहीं?"

सत्यवती आंसू पोंछने लगी। कीर्ति बाबू पलंग पर बैठ गए।

इतने में एक बिल्ली अन्दर आ गई। आगे-आगे वह थी पीछे-पीछे उसका छोटा गुटमुटार बच्चा। सत्यवती ने कहा—"विजय अब नौ-दस वर्ष का हो गया है, अगर वह यहां रहता तो जीवन में कितने आनन्द की सृष्टि होती!" कथन के नये रूप में वह अपना वह यह मनोभाव भूल गई कि मेरी कोख से पुत्र का जन्म ही नहीं हुआ!

कीर्ति बाबू गम्भीर हो गए। बोले—"माना कि उससे सुख मिलता, परन्तु उसकी मां की कलह के कारण जो दुःख पैदा होगा उसे हम कैसे सहन करेंगे?"

"तुम जीजी को नहीं जानते। उनके मन में तुम्हारे लिए कितना स्थान है, यह भी तुम नहीं जान पाए। एक भ्रम तुमने अपने भीतर पाल रखा है। वह

तुम्हारे मन को भोजन देता है और उसीने तुमको मिथ्या प्रशंसा का लोभी बना दिया है।"

यह बात तुम अपने मन से कह रही हो, या किसीने तुमको सिखलाया है?"

"मुझे स्वयं मेरी बुद्धि ने बताया है। मैं किसीके सिखाए-पढ़ाए पर नहीं चलती। मैं जो प्रत्यक्ष देखती और अनुभव करती हूं वही कहती हूं और कहती हूं समय पर। फिर वह विचारणीय नहीं है कि मैं किसीके सिखाए-पढ़ाए से कह रही हूं या अपने मन से। विचारणीय तो यह है कि हम अपने भीतर से कितनी प्रेरणाएं और भविष्य के लिए कैसा सुगम पथ निकाल सकते हैं। यह नहीं कि बाहर का कितना कर्दम और कलुष भीतर डाल चुके हैं और कंजूस के धन की भांति उसे छिपाए बैठे हैं।"

कीर्ति ने अनुभव किया कि यह बात अपना कुछ अर्थ रखती है। मेरे अन्तस् की पीड़ा का मर्म इसने भी समझा है। इसने भी अनुभव किया है कि हमारी एक समस्या है, हमारे सामने एक प्रश्न है।

पर व्यावहारिक-सा बनकर उसने उत्तर दिया—"देखो सत्य, मेरे सामने कोई दार्शनिक चर्चा मत करो। स्पष्ट कहो कि तुम चाहती क्या हो?"

सत्यवती पहले पलंग से उठकर नीचे खड़ी हो गई, फिर एक अंगड़ाई लेती हुई बोली—"तुम इलाहाबाद क्यों नहीं जाते? मेरे ऊपर जो लांछन आ रहा है, उसे तुम समझने की चेष्टा क्यों नहीं करते?"

"कैसा लांछन? कहीं कोई लांछन नहीं आ रहा है।"

"अकेले तुम्हारे कहने से क्या होता है? कौन नहीं जानता कि मेरे ही कारण तुम विजय को यहां नहीं ले आते? एक मैं हूं जिसके कारण तुम जीजी की उपेक्षा करते हो।"

"पर इस स्थिति में आकर अब यह प्रश्न ही कहां उठता है? निर्वाह के लिए विजय की मां ने न्यायालय की शरण ली। उसका जो परिणाम हुआ, उसका भोग उसे भोगने दो। डेढ़ सौ रुपये मासिक उनके निर्वाह-भर के लिए बहुत हैं।"

"और विजय का खर्चा?"

"विजय का खर्चा भी उसमें शामिल है।"

"और नयना के ऊपर कितना खर्च होता है?"

इतने में नयनतारा खेलती हुई आ पहुंची। कमरे के अन्दर प्रवेश करती हुई

बोली—"अम्मा, हमारा बिल्ला कहां है ?"

सत्यवती ने उत्तर दिया—"घूम रहा होगा कहीं इधर-उधर, किसी चुहिया की तलाश में ।"

नयनतारा कानवैंट की श्वेत-नील वेश-भूषा में थी। बायें कान के ऊपर बैंजनी रिबन लगा था । बायें हाथ में एक रिस्टवाच और दायें ओर कन्धे पर लटकता हुआ पुस्तकों-कापियों का बैग । कजरारी आंखों के उत्पल पलक गिराती-उठाती हुई एक बार नाक-भौं सिकोड़कर आश्चर्य से बोली—

"चुहिया की तलाश में ! मगर अम्मा, यह बिल्ला चुहिया क्यों खाता है, जब उसे दूध पीने को मिलता है ?"

इधर कुछ दिनों से सत्यवती को स्वामी का कुछ नया परिचय मिलने लगा था, अतएव कुछ स्पष्ट न कहकर उसने कह दिया—"अब इस बात का मर्म अपने बाबू से पूछ लो ।"

मुस्कराती हुई सत्यवती इतना कहकर कमरे से बाहर चली गई । कीर्ति बाबू उसकी इस मर्मवाणी को सुनकर पहले कुछ मुस्कराए फिर नयनतारा की ओर देखकर गम्भीर हो गए ।

विजयदशमी की छुट्टियां अगले दिन से प्रारम्भ हो रही थीं । अतएव उसी दिन से नयनतारा को साथ लेकर इलाहाबाद जाने का उन्होंने निश्चय कर लिया ।

रात के नौ बजे थे । नीला बल्ब कमरे के बीचोबीच दीवार पर जल रहा था । कीर्ति बाबू पलंग पर लेटे हुए थे । सुक्खू पैर दाब रहा था ।

कीर्ति बाबू ने पैर समेटते हुए कहा—"तुमको पैर दाबने का शऊर नहीं है । तुमको अंगुलियां तक तो चिटकाना आता नहीं ।"

सुक्खू ने अवसर देखकर जवाब दिया—"मालिक, सचमुच नहीं आता है और सच पूछो तो सेवा का कोई काम मुझे नहीं आता । मगर एक पेट है, जो करा लेता है । बाप जुआरी थे । यही एक लत काफी थी । फिर अफीम खाने लगे । एक दिन हारकर घर में लौटे तो मालूम नहीं क्या सूझी कि अफीम कुछ ज़्यादा खा ली । फिर ऐसे सोए कि हमेशा के लिए सो गए। अम्मा ने चक्की पीसकर, मज़दूरी करके किसी तरह पाला-पोसा । पढ़ाई हो नहीं सकी । इसीलिए ऐसी नौकरी करनी पड़ी । नहीं तो मालिक, मेरे घर में कमी तो किसी बात की थी नहीं ।"

अंगड़ाई लेते हुए कीर्ति बाबू बोले—"अच्छा जाओ।"

इतने में आ पहुंची सावित्री और कुर्सी पर बैठते ही बोली—"सो गए क्या ?"

कीर्ति बाबू ने उसी ओर मुंह कर लिया जिधर सावित्री बैठी हुई थी और अण्डी के चादर से सारा शरीर ढकते हुए पूछा—"विजय सो गया क्या ?"

सावित्री ने उत्तर दिया – "हां। जीजी ने जब बहुत मनाया, तब किसी तरह से मान पाया है। कहता था—'मेरे पिता हैं कहां ? पिता ही होते, तो तुमको कर्म-भोग के लिए यहां मामा के घर दिन काटने पड़ते ?' मैंने भी उसे बहुत समझाया, यहां तक कह दिया कि अच्छा, कहीं मत जाओ, बस ! तब किसी प्रकार उसकी सिसकियां बन्द हो पाई हैं।"

नयनतारा कीर्ति बाबू के पार्श्व में पड़ी सो रही थी। उसीकी केशावलि वे सहलाते हुए बोले—"अब तुम्हीं बताओ, मैं क्या करूं ?"

सावित्री ने बात टालते हुए उत्तर दिया—"उहं, बच्चे ठहरे। झगड़ते ही रहते हैं। बड़े होने पर आपसे-आप आ मिलेंगे। छूटकर जाएंगे कहां ?"

इसी प्रकार दिन चलते गए और ग्रन्थि पर पानी पड़ता गया। इण्टर कर लेने के बाद जब यह प्रश्न उठा कि नयनतारा को पढ़ने के लिए कहां भेजा जाए, तो सत्यवती ने कहा—"मेरे विचार से अब उसे इलाहाबाद भेज देना चाहिए।"

कीर्ति बाबू ने थोड़े रुककर उत्तर दिया – "इलाहाबाद क्यों ? कानपुर ही में क्यों न पढ़ाया जाए ?"

सत्यवती ने उत्तर दिया – "नयना का कहना है कि यहां के कालेज 'फैक्ट्री' बन गए हैं। पढ़ाई की ओर प्राध्यापकों का बिलकुल ध्यान नहीं रहता। प्रायः सभी लोग अतिरिक्त समय में 'ट्यूशन' करके पहले मकान बनवाने के फेर में रहते हैं फिर दुकानदारी के।"

"अच्छी बात है, मगर इलाहाबाद में वह रहेगी कहां ?"

सत्यवती बोली—"रहेगी 'होस्टल' में। जब उसका मन होगा, तब अपने मामा के यहां हो आया करेगी।" किन्तु जब कीर्ति बाबू उसे इलाहाबाद ले गए और उपाध्यायजी के यहां ठहरे, तब उपाध्यायजी की पत्नी सावित्री ने कहा—"छात्रावास में नहीं, वह हमारे यहां रहेगी।"

कीर्ति बाबू मुस्कराने लगे। "अच्छी बात है ऐसा ही सही। इसी प्रकार अगर विजय की मां की नाराज़गी दूर हो जाए तो बड़ा अच्छा हो।"

सावित्री हंसने लगी। बोली—"मैं कल्याणी बिटिया से कहूंगी। कहूंगी कि कीर्ति बाबू जब तुमको प्रसन्न करने के लिए, तुम्हारे पास नयना तक को रखने को तैयार हैं, तब तो तुमको सन्धि कर लेनी चाहिए।"

कीर्ति बाबू ने उत्तर दिया—"जो हो गया, सो हो गया। उसके लिए अब मैं कर ही क्या सकता हूं ?"

सावित्री के मुंह से निकल गया—"तो ऐसा क्यों नहीं करते कि कल्याणी बिटिया को तुम अपने साथ लेते जाओ, और सत्यवती बिटिया को यहां भेज दो।"

कीर्ति बाबू थोड़ी देर चुप रहे, फिर कुछ सोचकर मुस्कराते हुए बोले—"यह बात मेरे मन में कई बार आ चुकी है, यद्यपि मैंने कभी प्रकट नहीं किया है। आज तुम्हारे मुंह से वही बात सुनकर मुझे कितनी प्रसन्नता हुई है, मैं कह नहीं सकता। अच्छा तो है, अगर उनको कोई आपत्ति न हो तो मैं उन्हें ले जाने को तैयार हूं।"

नन्दोई और सरहज में जब ये बातें हो रही थीं, तब चिक की ओट में खड़ी कल्याणी छिपकर चुपके-चुपके सुन रही थी। ज्योंही कीर्ति बाबू की बात समाप्त हुई त्योंही चिक उठाकर वह भीतर प्रवेश करती बोल उठी—"जो लोग वर्तमान में विश्वास रखते हैं उनको अतीत के साथ खिलवाड़ करने की क्या आवश्यकता है ? मूल प्रश्न है नैना को पढ़ाने का। वह यहां पढ़ेगी ही। शेष बातों में कोई दम नहीं है, क्योंकि अर्धसत्य का मुंह मिथ्या से भी काला होता है।"

इस प्रकार टका-सा जवाब देकर जब कल्याणी कमरे से बाहर हो गई, तब कीर्ति बाबू एकाएक हतप्रभ हो उठे और सावित्री स्तब्ध, मौन।

दूसरे दिन नयनतारा को वहीं छोड़ कीर्ति बाबू कानपुर चले गए।

२

रस्सी में जब एक बार गांठ पड़ जाती है, तब योंही उसका खुलना दुष्कर हो जाता है। पर यदि कहीं उस गांठ पर पानी पड़ गया, तब तो वह और भी दृढ़ किंवा स्थायी बन जाती है।

कीर्तिदेव और कल्याणी के बीच जो भेद पड़ गया, वह किसी प्रकार जब दूर न हो सका, तो उसका परिणाम यह हुआ कि पिता के प्यार का पूरा उपभोग करने का अवसर नयनतारा को मिला। इधर कालान्तर में जब ज़मींदारी-उन्मूलन का अवसर आया, तब उपाध्यायजी दुर्दैव के शिकार होकर वकालत करने लगे। उनकी स्थिति में एकाएक इतना अन्तर पड़ गया कि वे विजय की पढ़ाई का भार भी न संभाल सके। परिणाम यह हुआ, विजय की शिक्षा का क्रम बी० ए० के बाद स्वभावतः रुक गया।

विजय ने हाथ-पैर बहुत मारे, पर वह नौकरी में कहीं स्थिर न रह सका। एक जगह तो इस बात पर इण्टर कालेज के प्रिन्सिपल से खटपट हो गई कि वे अपने अधीनस्थ अध्यापकों को वेतन यदि सौ रुपये देते, तो हस्ताक्षर एक सौ तीस पर करवाते थे। कभी बात उठती भी, तो प्रबन्धकारिणी समिति के सामने स्पष्ट कह देते कि संस्था के हित में मुझे ऐसा करना पड़ता है। गीता का यह महोपदेश सदा उनकी जिह्वा पर रहता - 'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।'

अपने उद्दण्ड स्वभाव के कारण एक दिन विजय ने कह दिया —"किसी बेईमान व्यक्ति को ऐसा उपदेश देने का अधिकार नहीं है।"

प्रिन्सिपल साहब अब वृद्ध हो चुके थे। वे संघर्ष में आने से डरते थे। ऐसा अपमानजनक आक्षेप वे सहन न कर सके। बोले —"अपना कथन वापस लीजिए और क्षमा मांगिए।"

विजय के मुंह से निकल गया—"वे कोई और होंगे। आपने मुझे समझा क्या है? आपको मालूम होना चाहिए कि मैंने अपने श्रीमान् पिताजी तक से क्षमा नहीं मांगी और सिद्धान्त के विषय में मैं परमपिता परमात्मा से भी क्षमा नहीं मांगूंगा। भरण-पोषण ही जिनके जीवन का आदर्श है ऐसे मनुष्य नामधारी जानवर के सामने मैं क्षमा मांगूंगा? छि:!"

प्रिन्सिपल महोदय क्षण-भर उन्हें देखते रह गए और अन्त में जब वे अशिष्ट हो

उठे, तो विजय देव उनके कमरे से तत्काल बाहर चले आए। कहते हैं, जिस दिन उन्होंने अपने कालेज से विदाई ली, कस्बे के सभी सम्भ्रान्त जनों ने उनके सम्मान में एक पार्टी दी। कार्यकारिणी समिति के जो सदस्य उनके विरोधी थे, उन्होंने भी अपने संक्षिप्त भाषणों में यह स्वीकार किया कि शर्मा जी हमारे कालेज के गौरव रहे हैं। हमारे बच्चे इनके कार्य-काल में इनसे बहुत सन्तुष्ट और परम प्रभावित रहा करते थे। एक सदस्य ने तो आंखों में आंसू भरकर यहां तक कह डाला—"हमें दुःख इसी बात का है कि असमय में ही हमारा स्वप्न भंग हो गया। हम तो अगले दस वर्ष के भीतर ही इन्हें एक सफल प्रिंसिपल की कुर्सी पर देखना चाहते थे!"

विदा के समय जब विजय अपनी ट्रेन पकड़ने के लिए रेलवे-स्टेशन पर आए, तो लगभग डेढ़ सौ छात्र उनकी विदाई के लिए उपस्थित थे। गार्ड हरी झंडी दिखा रहा था; व्हिसिल बोल रही थी; एंजिन सीटी दे रहा था। गाड़ी जब चल पड़ी, तो बीसों छात्र अपने रूमाल से अपने आंसू पोंछ रहे थे। कहते हैं, ऐसा दृश्य संस्था के बीस वर्ष के जीवन में पहले कभी उपस्थित नहीं हुआ था।

इतना सब होने पर भी अपनी उद्दण्ड प्रकृति में वे किसी प्रकार का परिवर्तन न कर सके। उनके वस्त्र सदा स्वच्छ रहते थे। वे कानपुर नगर में राजमार्ग पर कभी पैदल न निकलते थे। रेस्टोरां में बैठकर जब कभी चाय-पान करते, तो बिल का भुगतान स्वयमेव करते, चाहे कोई अमीरज़ादा ही उनकी बगल में क्यों न बैठा हो। इस स्थिति का एक दुष्परिणाम भी उन्हें कभी-कभी भोगना पड़ता था। प्रायः एक स्थान पर अधिक काल तक रह जाना उनके लिए सम्भव न हो पाता। वे अपने घनिष्ठ से घनिष्ठ मित्र के यहां सो सकते थे, जलपान कर सकते थे, खाना भी खा लेते थे, लेकिन पैसा मांगने के लिए उनका मुंह न खुलता। इसलिए कभी-कभी कई दिनों तक वे घर से बाहर न निकल पाते थे।

इन दशाओं में विजय कितने दिनों तक कालक्षेप करते? क्योंकि उन मित्रों पर भी इसकी प्रतिक्रिया होती रहती थी, जो उनके प्रति सक्रिय सहानुभूति रखना चाहते थे।

एक बार कहीं गोविन्द ने उनसे कह दिया—"चलो विजय, आज एक चित्र-कथा देख आएं।" विजय ने उत्तर दिया—"मैं कैसे जा सकता हूं?"

"क्यों, जा क्यों नहीं सकते? टिकट का पैसा जब मैं देने को तत्पर हूं, तब

तुमको इसमें आपत्ति करने का अवसर कहां है ?"

"आपत्ति मुझे आपपर नहीं, उस व्यवस्था पर है जो एक व्यक्ति को ऐसे अवसर पर उदार और दूसरे को दयनीय बनाती है। न मैं तुम्हारी इस कृपा पर विश्वास करता हूं, न उदारता पर। मैं तुमको यह सोचने का अवसर ही नहीं देना चाहता कि हार्दिकता की इस अभिव्यक्ति में तुम मुझसे उच्च हो।"

"तुम्हारा दिमाग खराब हो गया है। तुम बोलते तो हिमालय की चोटी से हो, पर सामर्थ्य इतनी भी नहीं रखते कि अपने पैरों खड़े हो सको।"

"और तुमको बात करने की भी तमीज़ नहीं है। तुमको मेरी बात का और कोई उत्तर न सूझ पड़ा, तब तुम मेरा अपमान करने पर तुल गए।"

कथन के साथ विजय उठकर खड़े हो गए।

हंसकर गोविन्द बोला—"बैठो, बैठो, विजय। बिगड़ो मत बहुत।"

विजय ने द्वार के बाहर होकर उत्तर दिया—"बस, माफ करो मुझे। मैं अब तुमसे तभी मिलूंगा, जब अपने पैरों खड़ा हो जाऊंगा।"

चैत्र मास को व्यतीत हुए अभी केवल दो ही दिन हुए थे। दोपहर होते ही पवन-दोलन में गरमाहट प्रतीत होने लगी थी। बी० ए० की परीक्षाएं समाप्त हो गई थीं। नगर के कोलाहलपूर्ण छात्रावास अब सुनसान, उदास और मूक हो गए थे। विजय अब पहले की अपेक्षा घर में अधिक बैठने लगा था। छोटी बहन नयनतारा बी० ए० प्रथम वर्ष की परीक्षा में बैठ रही थी। गाड़ी से उतरकर जब वह पड़ोसियों की आंखों से बचती, संकोच से सिकुड़ती हुई घर में प्रवेश करने लगती, तो भूख के मारे शिथिल-व्याकुल-सी प्रतीत होती थी।

प्रसन्नमन उपाध्याय अपनी बैठक में मित्रों और परिचितों के बीच गद्दी पर आराम से बैठे विविध मंत्रणाओं के माध्यम से उपदेश देने की स्थिति में जा पहुंचते थे। इच्छा के प्रतिकूल वे नाक पर मक्खी कभी न बैठने देते थे। विजय उनका भानजा था। उसके ब्याह की बात कभी छिड़ती तो उनके पास प्रायः नपे-तुले शब्द रहते—"आप जानते हैं, विजय अध्ययनशील लड़का है।···फिर आपसे छिपा नहीं है माई लार्ड। आज की दुनिया के ये पढ़े-लिखे वयस्क लड़के कितने स्वतन्त्र विचार के हो गए हैं! इसलिए ऐसे कोमल तथा अतिसंवेदनशील विषय पर उससे कुछ कहना अथवा उसपर दबाव डालना मेरे खयाल से अनुचित होगा। जब तक

वह किसी योग्यतम पद पर नियुक्त नहीं हो जाता, तब तक उससे इस विषय में एक शब्द तक नहीं कहा जा सकता। ऐसी दशा में मेरे खयाल से जन्माङ्क देने में कोई लाभ नहीं है, माई लार्ड।"

परिणाम यह होता कि किसी साधारण व्यक्ति के यहां विजय का विवाह होने की स्थिति ही न उत्पन्न हो पाती थी।

विजय का एक मित्र था ब्रजमोहन। वह उसकी बैठक में नित्य घण्टों जमा रहता। दोनों साथ ही घूमने जाते। कभी-कभी साथ ही भोजन भी करते। नाक छिदी हुई और केश बढ़े हुए। स्वभाव का शीलवान, विनयी और अवलम्बित।

कभी-कभी उपाध्यायजी के मन में आता, ब्रजमोहन से इस विषय में काम लिया जा सकता है। यों तो दुनिया काफी ऊंची-नीची है, रास्ते भी कहीं सीधे और कहीं टेढ़े-मेढ़े, लेकिन बुद्धि से काम लिया जाए, तो यही विदित होगा कि दुनिया गोल है और उसके रास्ते भी यथेष्ट सीधे-सादे। और सच पूछो तो यहां सब कुछ सम्भव है। जब कभी ऐसी बातें उपाध्यायजी के मन में आतीं, तब वे अपने-आप ही मुसकराने लगते।

विजय का स्वभाव विचित्र था। समझ में भी वह कम आता था। बनियान और पाजामा पहने वह घण्टों आत्मलीन रहकर कमरे में इधर से उधर टहलता, ठहरता और खड़ा-खड़ा आकाश की ओर इकटक कुछ देखता रहता, फिर खिड़की बन्द कर लेता। कुर्सी पर बैठकर पुस्तकों के पन्ने पलटता और जब कुछ स्थिर न कर पाता तो चारपाई पर जाकर चुपचाप लेट रहता।

वह इच्छाचारी भी कम न था। कभी भोजन में देर कर देता। कभी सोकर ही देर से उठता। प्रायः घूमकर लौटने में देर हो जाती। प्रायः घर के आवश्यक से आवश्यक कार्य उसकी स्मृति में धुंधले पड़ जाते। तिमंजिले पर उसकी बैठक के दायें ओर एक खिड़की थी, जिससे नगर का पूर्वी भाग, मीलों तक फैला दिखलाई पड़ता। पक्के और खपरैल से आवृत छोटे-बड़े मकान, जिनके निर्माण में कोई क्रम नहीं था; कहीं-कहीं पीपल और नीम के सघन वृक्ष, मस्जिदों की मीनारें और मंदिरों के कंगूरे, मूक और अनकही कामनाओं के इतिहास बने हुए, सिर उठाए चुपचाप खड़े रहते। निकट के मकानों की मुस्लिम नारियां, जो घर के बाहर कदम तक न रखतीं, जब बुर्के से सारा शरीर ढक लेतीं और वे युवतियां जो अपने कालेजों को जाते समय अपने कमरे से ही बुर्का डालकर बाहर निकलतीं, द्वार पर खड़ी

गाड़ी पर चढ़ते हुए चप्पल से पैर-मात्र ही खुले हुए दिखलाई पड़ते, मकान की खुली खिड़की से कभी न कभी दिखलाई पड़ ही जाती थीं।

वे रमज़ान के दिन थे। दिन-भर उन्हें उपवास में भूखा-प्यासा रहना पड़ता। प्यास लगने पर भी गिलास-भर पानी पी लेना उनके लिए एक वर्जना थी। शीतल पवन-झकोरों में रात जब ढल जाती, साढ़े तीन बजे ढोल पिटता और ढोल पीटने-वाले सावधान करते हुए कहने लगते—"रमज़ान के प्यारे, उठो, अल्लाह के बन्दे, उठो।" तब अपने तिमंज़िले मकान की ऊपरी विस्तृत छत पर सोता हुआ विजय एकाएक जग उठता। न जाने कहां से, कोई उसके मन के भीतर फुसफुसाने लगता—अब रशीदा को एक बार पुनः कुछ खाने का अवसर मिलेगा!—और इसके साथ ही वह सोचने लगता—कैसी अद्भुत बात है कि क्रिश्चियन हो जाने पर भी डॉक्टर साहब की पत्नी हमीदा और उनकी बेटी रशीदा अब तक मुस्लिम संस्कारों और रूढ़ियों को त्याग नहीं सकी हैं!

विजय के अध्ययन का कमरा दूसरी मंज़िल पर था। इस मंज़िल का शेष भाग किराये पर उठा हुआ था। उसके कमरे में पूर्व की ओर जो खिड़की थी, वह या तो खुलती न थी, और अगर कभी खुलती तो उसका एक निश्चित समय रहता था।

बात यह थी कि इस मकान से लगा हुआ, जो दूसरा मकान था, वह इस मुहल्ले के प्रसिद्ध डॉक्टर अमजद गोम्स का था। दोनों मकानों के बीच जो गली थी, वह इतनी संकरी थी कि यदि कभी पूर्व से पश्चिम और पश्चिम से पूर्व दोनों ओर से एक-एक व्यक्ति आकर आगे बढ़ने लगते, तो किसी एक के दीवार से सटे बिना, दूसरे का निकलना दुष्कर हो जाता और संयोग से दूसरी मंज़िल पर जहां विजय के अध्ययन का कमरा और उसकी खिड़की पड़ती थी, उसके सामने, गली के ठीक उस पार, डॉक्टर साहब के अन्तःपुर का स्नानागार था।

डॉक्टर गोम्स का धन्धा अच्छा चलता था। सायं-प्रातः तो वे अपने निदान-गृह में बैठते ही थे। इसके अतिरिक्त रोगियों के देखने के लिए अपनी गाड़ी पर दिन-भर दौड़ते रहते थे। यहां तक कि खाना खाते-खाते उन्हें प्रायः तीन बज जाते थे। उनके मकान की सजावट में कोई कमी न रहती। कमरों का फर्श काफी चिकना और साफ रहता था। दीवारें चित्रों से सुशोभित रहतीं। हमीदा की अपनी बैठक का फर्श साबुन से धोया जाता और गीले कपड़े और ब्रुश से बारम्बार स्वच्छ

होता रहता था। स्नानागार संगमरमर का था। उसमें जो खिड़की थी, उसपर सदा एक चिक पड़ी रहती। जिसका भीतरी ग्रावरण ग्रासमानी रंग का था।

उपाध्यायजी ग्रौर डॉक्टर साहब में पहले बहुत मैत्री थी। पर इधर नगरपालिका के चुनाव में सदस्यता के लिए एक ही क्षेत्र से एकसाथ दोनों के खड़े हो जाने से परस्पर कुछ मनोमालिन्य उत्पन्न हो गया था। पर ग्रब ये बातें पुरानी हो गई थीं ग्रौर दोनों के मन का मैल भी बहुत कुछ मिट चुका था। समय ने करवट ले ली। इस कारण हाथ मिलाने, एकसाथ खड़े होकर दुकान पर पान खाने या कहीं किसी बैठक में एकसाथ या ग्रामने-सामने बैठकर चाय पीने की नौबत ही न ग्राती थी।

यह सब यथाविधि था; किन्तु दोनों परिवारों के बच्चों के मन के तार ग्रभी टूट न पाए थे। कहीं कोई एक रेशा भले ही कमज़ोर पड़ गया हो, पर डोरा बहुत कुछ जुड़ा हुग्रा था। डॉक्टर साहब का व्यवसाय ही कुछ इस प्रकार का था कि ग्रावश्यकता पड़ने पर दोनों परिवारों के बच्चे बिना किसी रोक-टोक के मिलते-जुलते रहते थे।

डॉक्टर साहब के पुत्र का नाम था मुज़फ्फर गोम्स ग्रौर पुत्री का रशीदा गोम्स। दोनों विजय ग्रौर नयनतारा के साथ उठते-बैठते ग्रौर मनोविनोद में भाग लेते रहते थे।

एक ऐसा भी समय था, जब डॉक्टर साहब ग्रौर उपाध्यायजी के ये बच्चे एकसाथ ग्रांगन में बैठकर ताश ग्रौर कैरम खेलते थे। विजय को मुज़फ्फर के साथ बैठकर चाय पीने में कभी ग्रापत्ति न होती थी ग्रौर रशीदा तो नयनतारा के साथ घण्टों बैठी रहती थी।

क्रिश्चियन कालेज के लॉन में छात्रावास के विद्यार्थी जब बैडमिण्टन खेलते, तब भी उनमें एक सहयोग-भाव बराबर बना रहता था।

दोनों परिवारों के मेल-जोल ने ऐसे दिन भी देखे हैं, जब रशीदा विजय का फाउण्टेनपेन लेकर इस भावना से परीक्षा में बैठती थी कि पेन के स्वामी होने के नाते विजय का कुछ प्रभाव तो उसे मिल जाएगा। उसकी 'चेम्बर्स इंगलिश डिक्शनरी' तो सदा ही विजय की ग्रालमारी में बनी रहती थी। एक-ग्राध बार रशीदा ने चाहा कि उसे उठा ले जाए, तो उसकी गोल-गोल, बड़ी-बड़ी ग्रांखों के निहारते-निहारते नीचे का होंठ हिलाकर विजय ने उत्तर दिया—"जब तुम ससुराल चली

जाओगी, तब तो इसे छोड़ न जाओगी। इसलिए···।"

आगे विजय कुछ कह न सका।

रशीदा ने भी इस आशंका से खिड़की बन्द कर ली कि कहीं आंखें मन का भेद न खोल दें।

उन दोनों में जैसे प्रीति-प्रसंगों में विशेष अन्तर न था, वैसे ही लड़ाइयां भी उनमें कम नहीं हुई थीं। मानसिक संघर्ष भी उनमें चलता रहता था। एक बार वर्ष-भर बोलचाल बन्द रहने के बाद विजय मुज़फ्फर से तब मिला था, जब आगरा के मेडिकल कालेज में भर्ती हो जाने के कारण वह इस नगर से प्रस्थान कर रहा था। इसका कारण यह था कि क्रिसमस के अवसर पर जो मिठाइयां हमीदा ने विजय और नयनतारा को खाने के लिए भेजी थीं वे सबकी सब चार दिन बाद एक अंधे भिखारी को दे दी गई थीं और संयोग की बात कि जब सुखराम उन मिठाइयों को उस अंधे भिखारी की झोली में डाल रहा था, तब स्वयं मुज़फ्फर ने उसे देख लिया था।

एक बार कुछ ऐसा हुआ कि संयोग से 'बेदिंग ब्यूटी' देखने के लिए दोनों अपने-अपने मित्रों के साथ 'इन्सपिरेशन थिएटर' में अकस्मात् आ मिले। रशीदा नयनतारा से लिपट गई और मुज़पफर ने इस खुशी में में एकसाथ बैठकर सबको चाय पिलाई। फिर यह भी निश्चय हुआ कि कल फोटोग्राफ होगा। कुछ दिनों के बाद बात किसी प्रकार हमीदा के कान में जा पहुंची। वैसे चाहे वे इसको टाल भी जातीं, पर उस फोटोग्राफ की एक कापी उनके सामने थी। अतः उन्होंने उपाध्याजी से कह दिया—"भाईजान, ज़रा अपने विजय को संभालिए।"

उस अवसर पर उपाध्यायजी ने तपाक से उत्तर दिया—"हमीदा बहन, आज यह तुम क्या कहने लगीं! विजय क्या केवल मेरा है, तुम्हारा नहीं?"

हमीदा पहले तो निरुत्तर हो उठी, फिर कुछ मुस्कराती हुई बोली—"कहते तो तुम ठीक ही हो भाई।"

परिणाम यह हुआ कि बात आई-गई हो गई। बाहर की बात ज़रूर आई-गई हो गई, किन्तु भीतर की स्थिति विषाक्त हो उठी।

रशीदा अब अठारह की हो ही चुकी थी। यौवनागम कभी न कभी एक न एक आनन्द-झकोर उपस्थित कर ही देता। कभी रशीदा की साड़ी का अंचल कन्धे

से खिसककर भूमि-तल पर फिसलने लगता, आधुनिकतम कंचुकी का युग्मकंदुक-मिलन-द्वार अनावृत हो उठता। परिणाम यह होता, हमीदा की दृष्टि जो कहीं इस स्थिति-विशेष पर पड़ जाती, तो वह तत्काल बोल उठती—"इस बाडिस की भी क्या ज़रूरत है? इसको भी उतारकर फेंक क्यों नहीं देती. शैतान की बच्ची!"

"माफ करना मामा। हवा के झकोरों पर तो दुनिया की हुकूमत चल नहीं सकती। आदमी अलबत्ता बेबस रहता है। इसलिए मुझको जो चाहो सो कह लो।"

ऐसी बात न थी कि हमीदा वय:सन्धिप्राप्त तरुण लड़की की अन्तश्चेतना को समझती न हो। किन्तु मुख्य कठिनाई यह थी कि रशीदा यदि उसके साथ चर्च में जाती भी, तो सदा उसके ही पास बनी रहती थी। कभी किसी नवयुवक के साथ उसने उसे बात करते नहीं देखा था। एक बार चर्च में जॉन्सन नाम का एक लड़का उसके पीछे खड़ा 'सरमन' पढ़ रहा था। कहीं उसके मुंह से निकल गया—"मुझे बड़ा खेद होता है, जब मैं देखता हूं कि मेरे पास ही खड़े हुए लोग प्रभु ईसू की पवित्र वन्दना में भाग नहीं लेते।"

रशीदा ने एक बार घूरकर उस युवक की ओर देखा और कह दिया—"प्लीज़, माइंड योर ओन बिज़नेस। डोंट टॉक इर्रेलेवेण्ट।"[1]

हमीदा ने यह बात सुन ली और चर्च से अपने मकान को लौटने लगीं तो उसने कह दिया—"समझ में नहीं आया रशीदा कि तुमने उस नवयुवक को ऐसा रूखा उत्तर क्यों दिया? उसने कोई गलत बात भी नहीं कही थी!"

"हूं, गलत बात भी नहीं कही थी! सरमन के ज़ोर-ज़ोर से पढ़ने में ही अगर प्रभु ईसा मसीह की आत्मा को विशेष सुख मिलता हो, तब तो उस हाल के अन्दर हरएक के हाथ में एक-एक ढोल दे देना, अथवा सभी आगतजनों से 'बैंड' बजवाना अधिक उपयोगी होगा?"

"बस कर रशीदा। मैं समझ गई। मुझे सब पता है कि आजकल की लड़कियां प्रभु ईसा मसीह को किस सीमा तक पूजती हैं। लेकिन मैं तो सिर्फ यह कह रही थी कि यही बात क्या और शिष्टता के साथ मुस्कराकर नहीं कही जा सकती थी?"

---

१. साहब, अपना काम देखिए। अनापशनाप न बकिए।

रशीदा समझ गई थी कि मामा प्रकारान्तर से क्या कह रही हैं । इसलिए साथ बैठे लोगों के सामने उस बस में उसने इस विषय में कुछ नहीं कहा ।

दो दिन बाद जब हमीदा मकान के दरवाज़े के पास खड़ी हुई फलवाले से मोल-भाव कर रही थी कि एकाएक जॉन्सन उधर से आ निकला । उसे देखकर 'नेम प्लेट' को पढ़ता हुआ वह थोड़ा ठहर गया । तब भी उसके मन में आया कि हो न हो, यह रशीदा से मिलने आया है । परन्तु उसको ध्यान आ गया कि हो सकता है यह बात रशीदा को अच्छी न लगे । फलतः उसने उसे बुलाया नहीं । यद्यपि जॉन्सन बहुत सज-धजकर आया था । उसकी पैण्ट की क्रीज़, उसकी सुन्दर टाई का रंग काला और आसमानी मिला हुआ उसके नये सूट पर बहुत शोभन लग रहा था ।

केले, संतरे और लीची टोकरी में लेकर जब वह अन्दर गई तो अपनी छोटी बहन फातिमा से कहने लगी—"जॉन्सन अभी दरवाज़े से निकल गया है ।"

फातिमा ने उसके गले में बांह डालकर धीरे से कह दिया—"मुझे वे दिन याद हैं जब तुमसे मिलने के लिए, तुम्हारी सिर्फ एक झलक देखने के लिए गिलबर्ट, मरकरी, राबिन और मिस्टर गोम्स कभी बस के अड्डे पर, कभी दरवाज़े की सड़क के लैम्प-पोस्ट के पास, कभी क्रिश्चियन कालेज के मुख्य फाटक पर और कभी बड़े चौराहे के 'नीला आसमान' रेस्टोरां में प्रवेश-स्थल पर खड़े मिलते थे ।"

कथन के साथ उनके होंठों पर मुस्कराहट झलक उठी ।

फातिमा का इतना कहना था कि हमीदा के मुंह से निकल गया —"हट पगली !"

रशीदा उस समय केटली के गर्म पानी में चम्मच से चाय डाल रही थी । आंटी की बात उसने सुन ली थी, समझ गई कि ये बातें मुझको सुनाकर कही जा रही हैं । अतः उसने कह दिया —"मामा, कल तुम जितने खरबूज़े लाई थी, वे थे तो तीन-चार जाति के, मगर उनमें मीठा कोई भी न निकला ।"

हमीदा ने उत्तर दिया —"हुश । वह लखनउवा खरबूज़ा कम मीठा था ?"

तपाक से रशीदा ने उत्तर दिया —"माफ करना मामा, निगाह अपनी-अपनी, पसन्द अपनी-अपनी ।"

कथन के साथ रशीदा चीनी लेने के लिए पास के ही कमरे में जा रही थी कि

हमीदा ने कह दिया—"देखा ? समझती खूब है ।"

जेठ मास के दिन थे । रात में दो-तीन बार पलंग बाहर से भीतर, भीतर से बाहर इसलिए डालना पड़ा कि पहले उमस हुई, बूंदाबांदी हुई, फिर ठंडी हवाएं चलीं और साथ में टपाटप बूंदें पड़ने लगीं । पहले धीरे, फिर एक अर्राटे के साथ । बड़ी कठिनाई से नींद आई । फिर रात को लगभग दो बजे हमीदा को प्यास लगी । सुराही में पानी लेकर उसने दो गिलास खाली कर दिए । इसके बाद एकाएक उसकी दृष्टि जो रशीदा पर पड़ी, तो उसने देखा, रशीदा बेसुध पड़ी हुई सो रही है । उसका पेटीकोट एक ओर पैर की गांठ के ऊपर तक खुल गया है और वक्ष-प्रान्त तो बिलकुल निरावरण हो गया है ।

एकाएक उसके कलेजे पर सांप लोट गया । चुपचाप उसने पास ही पड़ी हुई जार्जेट की एक झीनी साड़ी उसके ऊपर डाल दी और दायें पैर का खुला हुआ भाग पेटीकोट से पूरी तरह ढंक दिया ।

धीरे-धीरे हमीदा का यह सन्देह पक्का होता जा रहा था कि कहीं न कहीं दाल में काला ज़रूर है । फिर संयोग से एक घटना हो गई । मकान-भर का कूड़ा जब बाहर ले जाने के लिए नौकरानी टोकरी उठाने को तत्पर होती, तभी एक बार हमीदा सरसरी दृष्टि से उसका निरीक्षण कर लेती थी । उस दिन अकस्मात उस ढेर में उसे एक ऐसा कागज़ दीख पड़ा, जिसकी गोली बनी हुई थी । हमीदा ने झट उसे उठा लिया । फिर जो उसकी सिकुड़नें खोलकर देखा, तो यह देखकर वह अवाक् हो उठी कि उसमें वी० और डी० — इन दोनों अक्षरों को लेकर एक मोनोग्राम बनाने के नाना प्रयोग किए गए हैं और अक्षरों की लेखन-शैली रशीदा की है ।

उसने रशीदा के पास जाकर पूछा — "यह मोनोग्राम तूने बनाया है ?"

रशीदा इनकार न कर सकी ।

अन्दर बैठी हुई छोटी बहन फातिमा और हमीदा दोनों में इसी विषय में अभिसन्धि होती रही । फातिमा ने कहा—"मेरे ख्याल से इसको चाचीजी के पास अलीगढ़ भेज देना चाहिए ।"

हमीदा ने पहले तो कह दिया —"हां, चाचीजी के पास पहुंच जाने पर कोई खतरा नहीं रहेगा ।"

फातिमा बोली—"सुनती हूं, चाची जब कभी कहीं जाती हैं, चाचा साथ में

रहते हैं। बंगले में सब स्त्रियां ही नौकर हैं, पुरुष एक भी नहीं।"

"पुरुष एक भी नहीं !" सुनते ही हमीदा पुनः चिन्ता में पड़ गई।

अपराह्न में डॉक्टर साहब जब मकान में आए, तो हमीदा ने उस कागज़ को उनके सामने पेश करते हुए कहा —"तुम भी देख लो अपनी लाड़ली बेटी की करतूत।"

डॉक्टर साहब की दो पत्नियां थीं। पहली यह हमीदा थी, दूसरी सोफिया—एंग्लो इंडियन। वे निजी विषयों में किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं करते थे। सारी बातें सुनकर बोले—"तो क्या हुआ ? मैं इसमें कोई बुराई नहीं देखता।"

"तुम इसमें कोई बुराई नहीं देखते, लेकिन मैं देखती हूं। मैं इस बात को कभी भूल नहीं सकती कि उन्होंने हमारी क्रिसमस की भेजी हुई मिठाइयां भिखारियों के आगे फिकवा दी थीं ! मुझे ऐसे लोगों की शक्ल से नफरत है, जो हमको हिकारत की नजर से देखते हैं।"

डॉक्टर साहब बोले—"यह तुम्हारा अन्याय है, डार्लिंग। तुम्हारी रुचिकर वस्तुएं उन्होने उन्हींको तो दीं, जो हवा खाते और आंसू पीते हैं ! इस घटना को तुमने इस दृष्टि से क्यों नहीं देखा ?" पर हमीदा अपने हठ पर दृढ़ रही। उसका बड़बड़ाना बन्द नहीं हुआ। अन्त में उसने रशीदा से यहां तक कह डाला —"कल से अब तू कालेज नहीं जाएगी। विवाह से पूर्व मैं अब तुझे इस घर से बाहर कदम न रखने दूंगी !"

उसे यह बात भूलती न थी कि कभी हाथ में हाथ लेकर, कभी गले में बांहें डालकर, सिनेमा देखने की बातें विजय से अवश्य तय हो गई होंगी।

थोड़ी देर में जब डॉक्टर साहब डिस्पेंसरी चले गए, तब हमीदा ने रशीदा के निकट जाकर पूछा —"सच-सच बता, तेरा इरादा क्या है ?"

रशीदा का मुख एकाएक गम्भीर हो गया। उसने कह दिया —"इन्सान की तरह जीना।"

"ठीक है, इन्सान की तरह जीने से किसको ऐतराज़ हो सकता है ! लेकिन सवाल तो यह है कि मैं जिस समाज को बिलकुल दकियानूसी, गया-गुज़रा और चिड़ी का गुलाम समझती हूं, तू उसीमें क्यों इतनी घुल-मिलकर रहती है ?"

एक वाक्य में रशीदा ने उत्तर दिया—"क्योंकि मैं ऐसा नहीं समझती।"

बस, रशीदा का इतना कहना था कि उसने बेंत हाथ में लेकर उसके बदन पर

तीन-चार सड़ासड़ जमा दिए ।

रशीदा बेंत पड़ते क्षण तिलमिला तो ज़रूर गई, पर उसने कहा कुछ नहीं ।

हमीदा प्रत्येक बार यही कहती गई—"नहीं समझती ?—नहीं समझती ?—तुझे समझना पड़ेगा ।"

उसके बाद हमीदा ने उसे एक ऐसी कोठरी में बन्द कर दिया, जिसमें चार ट्रंक, दो सूटकेस और भूमि-तल पर एक पुरानी शीतलपाटी के सिवा और कुछ न था । पीने के लिए पानी-मात्र दो बार अलबत्ता उसके अन्दर रख दिया । रशीदा फूट-फूटकर सिसकियां ले लेकर रोती-रही थी । किन्तु न उसे सान्त्वना देने के लिए कोई वहां पहुंचा, न खाना देने के लिए ।

डॉक्टर साहब तीन दिन तक सोफिया के यहां ही बने रहे । मुज़फ्फर के द्वारा जब उनको रशीदा पर ऐसे अत्याचार की सूचना मिली, तो वे स्तम्भित हो उठे । उन्होंने घर जाकर कह दिया—"आज से रशीदा मेरे साथ रहेगी ।"

धर्म-परिवर्तन के अनुरूप सारा परिवार क्रिश्चियन अवश्य हो गया था, किन्तु कठोरता और दृढ़ता में हमीदा के संस्कार अब भी मूलभूत बने हुए थे ।

दो दिन बाद डॉक्टर साहब की 'फार्मेसी' में कहीं रशीदा से नयनतारा की भेंट हो गई । उस समय डॉक्टर साहब तो मरीज़ देखने चले गए थे, कम्पाउंडर पुराने नुस्खों के अनुसार दवा बनाने में व्यस्त थे । रशीदा ने सारा हाल बताते हुए अन्त में कह दिया – "जो कुछ हुआ वह ठीक ही हुआ । प्रभु ईसा मसीह ने अपनी उपेक्षा का ठीक ही दण्ड मुझे दिया है । लेकिन नियति के इस व्यंग्य को तो ज़रा देखो नैना बहिन कि एक ओर तो मानवता का ऐसा अपमान होता है और दूसरी ओर सामने की खिड़की के द्वार भी बन्द रहते हैं ।"

कथन के साथ रशीदा की आंखों में आंसू झलक उठे और रूमाल से उसने अपना मुंह ढक लिया ।

नयनतारा बोली—"दीदी, तुम्हारी बातें सुनकर मुझे बड़ा दुःख होता है । पर हमारे समाज की अवस्था ही यह है, किया क्या जाए ?"

थोड़ी देर में जब रशीदा कुछ आश्वस्त हुई तो उसने पूछा—"क्या आजकल तुम्हारे भैया कहीं बाहर गए हैं ?"

नयनतारा ने उत्तर दिया—"नहीं तो, हैं तो घर ही में । मैं उनसे पूछूंगी, क्या बात है !"

रशीदा ने उत्तर दिया—"नहीं बहन, उनसे कुछ न कहना।"

जब नयनतारा चली आई तो रशीदा सोचती रही—'मैंने नयना से ऐसा क्यों कह दिया?'

विजय छत पर कुछ सोचता हुआ टहल रहा था। कई दिन से रशीदा उसे देखने को नहीं मिली थी। ग्यारह मई को प्रातःकाल ठीक सात बजे जब उसने खिड़की खोली थी, तब रशीदा कोठरी में बन्द थी। बारह मई को रविवार का दिन था। उस दिन भी आध घण्टे तक उसकी खिड़की खुली रही थी। किन्तु उस दिन जब उसे बाहर निकाला गया था, तब केवल इस अभिप्राय से कि उसे चर्च में जाना है। पर कहीं जाने का उत्साह उसके मन में न था। भारी-भारी मन, दबी-दबी सिसकती हुई आत्मा, सारा शरीर शिथिल। विद्रोह की आग से जलता हुआ लोम-लोम। उस समय उसे इस बात का ध्यान ही कैसे रह सकता था कि कोई खिड़की खोले उसकी प्रतीक्षा कर रहा है। उसने मामा से कह दिया था—"प्रभु ईसा से मेरी परिस्थिति छिपी नहीं है। वे सब जानते हैं। मेरे वहां जाने से ही क्या होता है! तुम्हीं चली जाओ मामा। आत्मिक शान्ति के बिना ईश्वर की अर्चना वैसी ही है जैसे बिना पंख की चिड़िया का खुले नीले आसमान में उड़ने का प्रयत्न।"

हमीदा ने देखा, रशीदा का कंठ भर आया है। आंखों से अनबिंधे मोती झर रहे हैं—टप्···टप्···टप्।

दुःख जब असह्य हो उठता है, तभी अन्तरात्मा से अमृत का झरना फूट उठता है।

कुछ दिन बाद डॉक्टर साहब के कुछ दुराग्रही साथियों ने यह विषय फिर उठाया। सो भी इस आरोप के साथ कि नियत समय और स्थान पर आने के लिए विजय ने ही रशीदा से कहा था।

अब बनी-बनाई बात पुनः बिगड़ गई। दोनों महीनों तक एक-दूसरे से नहीं मिले।

एक दिन जब हमीदा ने रशीदा से कह दिया—"विजय से अधिक खूबसूरत लड़का तुझे क्रिश्चियन समाज में आज तक नहीं दिखाई पड़ा, जो तू उसी पर मरने लगी है?"

रसीदा ने उत्तर दिया—"मुझे सारी दुनिया के अन्दर किसी भी समाज से नफरत नहीं। मैं अगर क्रिश्चियन हूं तो मेरी दृष्टि में सारी दुनिया क्रिश्चियन हो चुकी है।" फिर उसे बाइबिल की शपथ लेकर कहना पड़ा—"साज़िश की कोई बात न थी। मैं रज़िया और सुरैया के साथ गई थी। मुझे वहां किसीके आने का इल्म न था।"

तब उनका भ्रम दूर हुआ।

अन्त में हमीदा गोम्स उपाध्यायजी के घर गईं। कल्याणी से मिलीं, तो वे सारी बातें सुनकर स्तम्भित हो उठीं। बोलीं—"मेरा विजय घिसीकी ओर आंख उठाकर तो देखता नहीं, वह रशीदा से दोस्ती करेगा और उसके साथ सैर करने जाएगा! भला ऐसा कभी हो सकता है! और रशीदा बेचारी इतनी सीधी है कि अमिया छीलना तक तो उसे आता ही नहीं, विजय का साथ कैसे करेगी! राम, राम! कभी ऐसी बात ज़बान पर न लाना।"

हमीदा ने फिर विजय को बुलाकर उससे कहा—"बेटा, गलती हमीं लोगों से हुई। तुम्हारा कोई कसूर नहीं था। पर, क्या इसके लिए तुम मुझे माफ नहीं करोगे?"

हमीदा के मुंह से ऐसी बात सुनकर पहले तो विजय अवाक् हो उठा, फिर एक निःश्वास दबाते-दबाते उसने कह दिया—"माफीतो अम्मी को अपने दिल से मांगनी चाहिए।"

उसके इस उत्तर पर पहले तो हमीदा गोम्स का सिर झुक गया था, उस संकोच और लज्जा से जो मन को कुरेदती है, पर मुंह नहीं खोलने देती।

तब कहीं डॉक्टर साहब के स्नानागार की खिड़की खुली जिसके कपाटों पर अब धूल की एक मोटी पर्त जम गई थी।

रशीदा गर्मी के दिनों में दो बार स्नान करती: प्रातःकाल सात बजे और सायंकाल भी सात पर। ऐसे भी दिन आए हैं, जब एकाएक खिड़की खुलते ही विजय की दृष्टि उधर जा पड़ी है। रशीदा कुछ बोल न सकी है। मृगी की सी बड़ी-बड़ी कजरारी आंखों सेएक बार उसे इकटक निहारती रह गई है। वार्तालाप की कोई कड़ी नहीं मिल रही है, तब रशीदा स्वयं साहस कर पूछ बैठी है—"क्या हो रहा है?"

उस समय सद्यःस्नाता उसकी मुखश्री देखकर विजय स्तब्ध हो उठा है।

आजानु अनावृत केशराशि की अमन्द गन्ध पवन-झकोरे से उधर पहुंची है। मुख पर लगी मन्द-मन्द पाउडर की भीनी-भीनी सुगन्धित वायु भी उसकी खिड़की के भीतर चली आई है और उपकृत, विस्मित, मुग्ध-प्राण विजय सलज्ज भाव से बोल उठा है—"अध्ययन चल रहा है रशीदा।"

"ओः अध्ययन।" संस्कृत लेकर बी० ए० की परीक्षा में बैठनेवाली रशीदा के अधर हिल उठते। वह विजय की ओर इकटक देखती हुई बोल उठती है—"अध्ययन तो करना ही चाहिए; लेकिन केवल पुस्तकों का ही नहीं, ज़िन्दगी का भी भाईजान।"

बात विजय के शान्त-विमल मानस में सूचीवेधन की भांति भिद गई और चकित-विस्मित होता हुआ वह जब कोई उत्तर देने को उन्मुख हुआ, तब तक रशीदा की खिड़की के कपाट एकाएक बन्द हो गए।

३

उपाध्यायजी भोजन करने के पश्चात् थोड़ी देर विश्राम करते थे। चाहे जितना आवश्यक काम क्यों न हो, पर दुपहर का यह विश्राम वे छोड़ न सकते थे। कचहरी में ऐसा अवसर कम मिलता था। फिर भी काम से ज्योंही अवकाश मिलता, कुरसी पर बैठे-बैठे ही उनकी आंखें झपने लगती थीं और बीस-पच्चीस मिनट की एक झपकी ले ही लेते थे। उस दिन जब वे पलंग पर लेटे तो बड़ी देर तक लेटे रहे पर उनको झपकी न लगी। अब वायु में ग्रीष्म ऋतु के अनुकूल यथेष्ट गरमाहट आ गई थी। अतः कपड़े पहनकर जब वे मकान की देहरी तक आए और पैरों में फुलस्लीपर डालने लगे, तो उन्होंने सोचा कि सिर पर एक भीगा तौलिया भी डाल लेना चाहिए।

मकान के नीचे एक बढ़ई-मिस्त्री पलंग के पायों पर खराद कर रहा था। मशीन चलाने की आवाज़ ऊपर आती रहती थी। उपाध्यायजी सोचने लगे, मकान किराये पर उठाने का यही सबसे बड़ा दण्ड है। अब इस छदम्मीराम को निकाला

कैसे जाए ? जब देखो तब घर्र-घर्र की आवाज़ आती रहती है; माई लार्ड । फिर बाहरी कमरे की चिक के पास आकर चुपचाप खड़े हुए, किनारे से परदा थोड़ा-सा हटाकर झांककर देखा—विजय और ब्रजमोहन दोनों पड़े सो रहे हैं । कमरे में अंधेरा है और पंखा मन्द गति से चल रहा है । सोचा—'ब्रजमोहन को अभी नहीं, थोड़ी देर बाद बुलाएंगे' और तब उस कमरे के पास लगे हुए दूसरे कमरे के अन्दर चले गए । पलंग के पाये में ही पुकारने की घंटी का बटन लगा हुआ था । लेटे-लेटे दाहिने हाथ से उसी बटन को दबा दिया ।

सुखराम आ पहुंचा । उपाध्यायजी ने जेब से दो रुपये का नोट निकालकर सुखराम को देते हुए कह दिया—"देखो सुक्खू, सब्ज़ीमण्डी के बिलकुल बीच में त्रिवेणी खटीक की फल की एक दूकान है, माई लार्ड, वहां से ढाई सेर बढ़िया खरबूज़े ले आओ, और लौटते हुए थोड़ी बरफ भी लेते आना । बिरजू बाबू नीचे सो रहे हैं, दो प्लेटों में लगाकर दे आना । एक तश्तरी में बूरा भी रख लेना । फिर थोड़ी देर बाद शरबत बनाकर शीशे के गिलासों में पहुंचा देना । पहले से बिरजू बाबू से कुछ न कहना, मगर ध्यान रखना, जब वे चलने लगें तो मेरा नाम लेकर कह देना—बुलाया है । अच्छा, माई लार्ड ।"

कथन के साथ अपने लिए 'माई लार्ड' शब्द सुनकर सुक्खू की हंसी रुक नहीं पा रही थी । अतः विवश होकर वह कुछ घूमकर खड़ा हो गया । तब कहीं जान बच पाई ।

"बहुत अच्छा बाबूजी ।" कथन के साथ सिर हिलाकर सुखराम चला गया । नयनतारा अपनी धोती पर बिजली से लोहा करती हुई, उसके कलफ की सिकुड़न मिटा रही थी, और कल्याणी आंखों पर चश्मा चढ़ाए एक धार्मिक पत्रिका का सती अंक सामने रक्खे हुए पढ़ रही थी । चिड़ियों का कलरव गूंज रहा था । नौ बजकर सत्ताइस मिनट हो रहे थे । मिल की चिमनी के ऊपर उड़ता हुआ धुआं उत्तर की ओर बढ़ता हुआ फैल रहा था । मजिस्द की एक मीनार के ऊपर दो तोते बैठ गए थे । बाईं ओर सड़क पर से जाता हुआ ट्रक हार्न दे रहा था और फायर ब्रिगेड का साइरन उच्च स्वर से प्रारम्भ होकर मन्दतम होता हुआ मिट रहा था । पूरब के मकानों में कहीं से मुर्गे की बांग सुनाई पड़ रही थी कि सुक्खू ने आकर कह दिया—"बुआजी, मैं यहां एक झोला टांग गया था, इस खूंटी में !"

कल्याणी ने नाक के मध्य भाग तक खिसक आए चश्मेवाली खुली आंखों से सुखराम की ओर भौंहें सिकोड़ते हुए उत्तर दिया — "वहीं कहीं देखो, पड़ा होगा। तुमसे कई बार कह चुकी कि जब मैं कोई पुस्तक लेकर पढ़ने बैठूं या पूजा-पाठ करूं, तो कोई बात पूछकर मेरा ध्यान भंग मत किया करो। मगर तुम इतने लापरवाह हो गए हो कि इस बात को भूल जाते हो।" और फिर मन ही मन कहने लगीं—'विजय का विवाह हो गया होता, बहू घर में आ जाती, तो इन दिनों तीर्थ-यात्रा करती होती।···' "अब जाओ, खड़े क्यों हो ?" फिर सामनेवाले चित्र पर ध्यान जमाकर मन ही मन कहने लगीं— 'सावित्री माता, तुम धन्य हो।' और चश्मेवाली आंखों को उस मासिक पत्रिका के कुछ और निकट लाकर तिरंगे चित्र में बने सावित्री के चरणों को अपनी दायीं ओर की अंगुलियों के स्पर्श से मस्तक पर लगा लिया।

इस समय सुखराम सोच रहा था— बाबू लोग कमरे के भीतर, पंखे के नीचे, ठंडे अंधियारे में सुख की नींद ले रहे हैं। मालिक पलंग पर चढ़े हुकुम चला रहे हैं। कहते हैं कि धूप इतनी तेज़ है देखने को जी नहीं होता। मगर बाहर सड़क पर लू-लपट में हम झुलस जाएं, धूप में हमारी खोपड़ी चटक जाए, तो भी मंडी से खरबूज़े ले आओ। शहर के उस कोने से रसगुल्ले ले आओ। कहने में न-नुच नहीं होती। इतना ज़रूर है कि मौके-बेमौके बचा-खुचा शर्बत-पानी अपने राम पा जाते हैं। वे जो लखपती के नाती बिरजू बाबू हैं, उनकी तो लीला ही विचित्र है। घर पर चाहे बीड़ी ही पीते हों, पर यहां सिगार चाहिए। कैसी विचित्र खोपड़ी बनाई है भगवान ने इनकी कि लू-लपट के समय आपको भकभकाती हुई चाय की तलब लग आती है ! अरे, शरबत पिएं, सोडा-लेमनेड उड़ावें, लस्सी के गिलास पर गिलास झाड़ें, तो बात भी है। लेकिन एक-चौथाई दूध और तीन-चौथाई पानी और चीनी छोटके-छोटके डेढ़ चम्मच, दो भी नहीं ! ऐसा स्वाद ले-लेकर बेफिकरी के साथ धीरे-धीरे चुस्की लगाते हैं, जैसे जमा-जायदाद छोड़कर नानी को मरे अभी पहली पन्द्रहिया ही बीती हो।

विजय ने लेटे-लेटे दायें पैर के नीचे तकिया दबाकर सिर थोड़ा उठाते हुए कहा — "बिरजू बाबू !"

ब्रजमोहन की नींद उचट गई थी। फिर भी पहली पुकार में जान-बूझकर वह कुछ नहीं बोला, तब विजय बोल उठा — "उठो, उठो, पांच बज गए।"

ब्रजमोहन ने कह दिया—"अभी तो चार भी नहीं बजे; तुम पांच कह रहे हो।" विजय ने घड़ी सामने कर दी, साथ में यह भी कह दिया कि कितनी बार पढ़ाया पर मूर्ख की समझ में कुछ भी नहीं आया। अरे बांगड़, मैं जब उठता हूं सबेरा तब होता है। दुपहर के बाद जब मैं पलंग छोड़ता हूं, पांच तब बजते हैं। कुछ पता भी है तुमको, मुर्गी के अण्डा देने का समय कब होता है!"

ब्रजमोहन हसने लगा।

विजय कहता जा रहा था—"युग कहता है, क्षण-क्षण अपने को बदलो। वह न करो जो सदा करते जा रहे हो। कुछ ऐसा कर दिखाओ जो कभी न किया हो।"

"यह खरबूज़ा किस भाव से दिया?"

"आठ आने सेर।"

"दोगे किस भाव?"

"दो पैसे कम दे देना।"

"छ: आने सेर दोगे?"

"सात आने सेर मिलेगा, लेना हो तो ले लो।"

सुक्खू बोला—"हम साढ़े छ: आने सेर के भाव लेंगे और दो सेर ले लेंगे। देना हो तो दो, नहीं तो मक्खी मारो बैठे-बैठे।"

बात कहकर सुक्खू आगे बढ़ने ही जा रहा था कि त्रिवेणी खटीक ने उत्तर दिया—"लिए जाओ चौधरी, लिए जाओ।"

सुखराम ने खरबूज़े लेकर थैले में भर लिए और दुअन्नी जेब में डालते हुए मन ही मन कहा—'हिसाब बिगड़ रहा है। अभी बरफ भी लेनी पड़ेगी। अपने पल्ले इकन्नी ही पड़ेगी।' इसलिए एक खरबूज़े को थैले से निकालकर लौटाते हुए बोला—"मुझे अभी एक सौदा और लेना है। खयाल ही न था। इसके बदले में एक खरबूज़ा छोटा दे दो। न दो सेर होंगे, पौने दो सेर होंगे।" और कथन के साथ मन ही मन सोचने लगा—'इतनी कमी-बेसी कौन देख पाता है!'

त्रिवेणी खटीक कुछ थोड़ा मुस्कराया। बोला—"चौधरी, इस दूकान को अपनी ही समझो। मैं हमेशा तुम्हारे लिए कुछ रियायत कर दिया करूंगा। लो, सात पौने सवा पांच, सात और सवा पांच—सवा बारह आने का हिसाब बना दिया है।"

सुखराम सोचने लगा—'अब हिसाब ठीक रहा। चार पैसे की बरफ लेने के बाद ग्यारह पैसे बचेंगे। छः पैसे मेरी जेब में आएंगे और पांच बाबूजी की गोलक में।···मगर मैं पांच पैसे क्यों दूं उनको ? चार पैसे ही दूं, तो क्या हरज है ?··· हरज तो इसमें भी नहीं है कि उनको तीन ही पैसे दिए जाएं और आठ मेरी जेब में आवें। हा हा हा हा !'

कल्याणी बोली—"क्या कहा, बिल्ली दूध पी गई ?"

"हां अम्मा, बिल्ली दूध पी गई ? मगर नहीं, दूध तो थोड़ा छोड़ भी गई, हां, मलाई साफ कर गई है।"

"यह सब तेरी लापरवाही है। जब दूध पक गया था, तुझे उठाकर अलमारी में रख देना चाहिए था।"

"मगर मैं ब्लाउज़ जो काट रही थी, सो भी अपना नहीं, अम्मा तुम्हारा।"

कल्याणी ने उत्तर दिया—"सवाल यह नहीं कि किसका काम कर रही थी। सवाल तो यह है कि ध्यान क्यों नहीं रक्खा दूध का ?"

नयनतारा ने उत्तर दिया—"मगर बड़ी अम्मा, इधर इस महीने में बिल्ली को दूध-मलाई पर हाथ साफ करने का मौका भी तो नहीं मिला था।"

"ए नयना, तू मुझसे बहस न किया कर। हमने इन कुत्ते-बिल्लयों को हर महीने दावत देने का ठेका नहीं लिया।"

"मगर अम्मा, ये जानवर हैं तो हमारे ही सहारे। अगर हम लोग इनके साथ ऐसी कठोरता का व्यवहार करने लगेंगे, तो ये बेचारे रहेंगे कैसे ? वह भी कोई घर है जिसमें कुत्ता-बिल्ली झांकने न पाएं। फिर हमारी बिल्ली तो बिलकुल सफेद है। बड़ी अम्मा, सच कहती हूं, मुझे तो बड़ी प्यारी लगती है।"

अब खाकी ज़ोन के टुकड़े में बरफ का एक ढेला रखकर सुखराम उसे पत्थर की सिल पर कूट रहा था। उसका स्वर उपाध्यायजी के कानों में पड़ रहा था। तश्तरी में खरबूज़े की फांकें, बूरा अलग से, और केवड़े का शरबत।

उपाध्यायजी सोच रहे थे—'नुस्खा पूरे अट्ठाईस हज़ार का है माई लार्ड। सात हज़ार के ज़ेवर, मगर सात हज़ार के क्यों ? दस हज़ार के, और दस हज़ार पेशगी। पांच हज़ार का सामान और तीन हज़ार फुटकर। बेजा क्या है माई लार्ड?··· अच्छा, अगर ऐसा किया जाए कि किसी तरकीब से लड़की इसको दिखला दी

जाए ! चार महीने बाद दुर्गा-पूजा के लिए नाटक शुरू हो जाते हैं। एक दिन सामने बैठे हुए शैलेन्द्रकुमारदत्त की अंगुली दबा दी जाए और उससे कह दिया जाए कि सम्राट् पृथ्वीराज नाटक में संयोगिता का पार्ट एला को दे दिया जाए··· मगर···' और इतना सोचते-सोचते स्वयं ही नाक-भौं सिकोड़कर रह गए।—'पूर्वाभिनय में ही अभिनेता और निर्देशक लोग उस बेचारी की लज्जा, संकोच, शील अपहरण कर उसे मुखर, प्रगल्भ और धृष्ट बना देंगे !···नहीं, नहीं और कोई तरकीब निकालनी होगी माई लार्ड । इस विषय में बिरजू की बुद्धि बड़ी तीव्र है। एक बार उसे मिला-भर लिया जाए, फिर ठीक हो जाएगा, सब ठीक हो जाएगा !'

खरबूज़ा छीलकर छोटे-छोटे टुकड़े नयना ने तीन तश्तरियों में सजा दिए। फिर मां की ओर उन्मुख हो बोली—"बड़ी अम्मा !"

कल्याणी ने उत्तर दिया—"क्या है ?"

नयना बोली—"खरबूज़े ऐसे ही खाओगी कि बूरा भी साथ भेजूं ?"

कल्याणी ने उत्तर दिया—"बूरा-ऊरा नहीं लेती खरबूज़े के साथ। उसका जीवन खराब हो जाता है।"

"मगर अम्मा, अभी खरबूज़े मीठे आए नहीं, इसलिए कहती हूं कि खरबूज़े के साथ थोड़ा बूरा ज़रूर ले लेना चाहिए।"

कल्याणी बोली—"नहीं, नहीं। मैं ऐसे दूध को दूध नहीं समझती जिसमें चीनी डालनी पड़े, तू खरबूज़े की बात भिड़ा रही है। ऐसी मित्रताकिस काम की जो एक के गुण को दूसरे में खपा डालने को विवश कर दे। दूध में बूरा डालो, तो दूध का स्वाद समाप्त; और खरबूज़े में डालो तो उसका मज़ा चला जाए !"

इतने में नयना स्वयं खरबूज़ा और बूरा लेकर मां के पास आ पहुंची और बोली—"आवश्यकता न समझना तो न लेना। कोई ज़बरदस्ती तो मैं कर नहीं रही हूं।"

कल्याणी चश्मे की आंखों से उसे देखती रह गई। बोली कुछ नहीं। मन में इतना-भर कहा—'अभी इसको ज्ञान बिलकुल नहीं है। फूस, रुई, सन, कागज़ की कतरन कोई भी चीज़ हो, आग की लपटों के साथ बिना जले रह सकती है !' सोचती हुई स्पष्ट बोल उठीं—"तश्तरी में बूरा रक्खी होगी, और मैं खाऊंगी

नहीं ! पगली कहीं की !"

नयना हंसने लगी—"मैं जानती थी अम्मा, तुम यही कहोगी !"

सुखराम ने खरबूजा और बूरा की तश्तरियां ब्रजमोहन और विजय के सामने रख दीं। विजय जग ही रहा था, बोला—"बिरजू बाबू उठो, लो पहले हाथ-मुंह धोओ और फिर तबियत हरी कर लो।...सुक्खू, एक गिलास पानी दे जाना—मगर एक क्यों, दो गिलास !...अच्छा रहने दो। बाथरूम में जाकर हम लोग हाथ-मुंह धो लेंगे..."

सुखराम ने उत्तर दिया—"छोटे बाबू, अभी तो शर्बत भी लाना है।"

"ओ गुड, तब ठीक है, जाओ !" ब्रजमोहन ने कह दिया।

विजय उठकर बैठ गया। दोनों आंखों से हाथ मलता और अंगड़ाई लेता हुआ बोला—"सब गड़बड़ हो गया। जिस फल के नाम का पहला शब्द ही खर हो, उसे खाकर मैं अपना भेजा नहीं खराब करना चाहता।"

"अरे खाओ, खाओ, रंगबाज़ी मत दिखाओ।"

"तुम तो हो मूर्ख, तुमसे कौन बात करे ! अपनी-अपनी रुचि का प्रश्न है। इससे तो अच्छा होता कि मामा सेब या संतरा मंगवाते। जानते हो, अगर सारी मनुष्य-जाति एक ही रुचि की हो जाए, तो वह भेड़ बन जाएगी !"

अब सुखराम उपाध्यायजी के सामने था और वे सोच रहे थे, 'अगर जगमोहन बाबू से यह कह दिया जाए कि वे अपनी लड़की को यहीं बुला लें—अपने साढ़ू कमलकिशोर के यहां। और कमलकिशोर के यहां हम लोगों की एक दावत हो जाए, उस समागम में लड़की के साथ उसका पहले परिचय तो हो ही सकता है, माई लार्ड।'

सुखराम तश्तरी रखकर जाने लगा, तब उपाध्यायजी बोले—"अरे सुक्खू, शाम को किसी वक्त तुम कमलकिशोर के यहां जाकर उनसे कहना।...मगर तुम्हें वहां जाने की ज़रूरत क्या है ?...अच्छा टेलीफोन को इधर ले आना..."

सुखराम टेलीफोन ले आया।

डायल के छिद्रों में उंगलियां घूमने लगीं—थ्री, फाइव, सिक्स, टू। कड़क...कड़क..."हलो,...येस, स्पीकिंग...माई लार्ड, आज शाम को, शाम को किस

समय ?···अच्छा, ठीक साढ़े सात पर···अच्छा, अच्छा, वहीं चले आएंगे। नहीं, नहीं, साथ में और कोई नहीं होगा माई लार्ड।"

विजय बोल रहा था, "एक पोर्तगीज़ कहावत है, कुत्ता अपनी श्रद्धा के लिए नहीं, भक्ति और आदर के लिए भी नहीं, अपनी रोटी के लिए दुम हिलाता है। मनुष्य का संग-साथ भी अपनी रुचियों में सहयोग, उनके समर्थन और पोषण के लिए होता है···जल्दी करो, जल्दी कपड़े बदलकर तुरन्त तैयार हो जाओ।"

ब्रजमहोन चला गया और विजय अलमारी खोल कपड़े बदलने में लग गया।

इतने में कोमल और बड़े-बड़े केशों का एक छोटा-सा कुत्ता आकर विजय के पैर और धोती सूंघने लगा।

उस समय छत पर कोई न था। नयनतारा विजय के पास एक कुर्सी पर चुपचाप बैठी हुई थी और विजय पलंग पर लेटा हुआ था। नयनतारा जब कोई बात कहना चाहती, विजय कोई उत्तर न देता। उसका ध्यान या तो अन्यत्र रहता, या, वह नयनतारा की बात ही न सुन पाता था। किन्तु उसको जो कुछ कहना था वह बराबर कहती जा रही थी। अभी थोड़ी देर पहले पानी बरस चुका था। किन्तु भीगी हुई छत अब बहुत-कुछ सूख चुकी थी। नीचे सड़क के किनारे फुटपाथ पर चाय और लस्सी की दूकान में बरफ कट रही थी। लोहे से उत्पन्न लोहे की वह आवाज़ जो शीतलता की सुप्त-मूक जमी हुई लहरें काट रही थी, कानों को बड़ी प्यारी लग रही थी। सिनेमा हाउस 'आसमान' में इण्टरवल चल रहा था। सड़क पर भीड़ लगी हुई थी और कोलाहल के बीच कटाक्षों के माध्यम से कहीं-कहीं कतरनियां चल रही थीं। चाय और लस्सी, गांठिया-पापड़ी, चिउड़ा और दाल-सेव, बीड़ी-सिगरेट, पान-तम्बाकू खाते-पीते और धुआं फूंकते हुए बाबू लोग परस्पर खेल के सम्बन्ध में अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त कर रहे थे :

"खेल बुरा नहीं है।"

"कोई खास अच्छा भी नहीं है।"

"खेल, खेल-भर होता है, न अच्छा, न बुरा। अच्छे से अच्छा कहीं न कहीं बुरा भी होता है। बुरा यानी बासी, आधारित, चोरी किया हुआ, शिथिल, निर्जीव, निरुद्देश्य, बीभत्स और व्यर्थ। और अच्छा, यानी प्रभावशाली, मनोरंजक, प्रपंचों

और दुरभिसन्धियों से ओतप्रोत, जीवन को नरक के गर्त से उचकाकर एकदम तीसरी मंज़िल की छत पर खड़ा कर देनेवाला, नयनाभिराम और कर्ण-सुखद।"

"अपना-अपना मत है। ज़िन्दगी की सच्ची तस्वीर देनेवाले खेल सदा सफल होते हैं। भले ही आधारित हों, भले ही उधार हों। जनता का मानस-स्तर कभी इतने तीव्र विवेक पर नहीं रहता कि वह इन सूक्ष्म विषयों को समझता फिरे। फिर हरएक आदमी कभी न कभी आवारा और गैरज़िम्मेदार हो ही जाता है। कोई आदमी न बचपन में सन्त होता है, न युवावस्था में। मैंने आज तक ऐसे किसी आदमी को नहीं देखा, जो मानवता के प्रति इतना सजग हो कि उससे कभी कोई अपराध ही न बन पड़ा हो।"

"यह बात दूसरी है। इस तरह तो सन्त और महात्मा लोग भी, ध्यान से देखा जाए तो, पूर्वजीवन में बड़े से बड़े अपराध के उत्तरदायी सिद्ध किए जा सकते हैं। मैं कहना चाहता हूं कि असामयिक साधु-वृत्ति और अतिशय सज्जनता स्वयं एक प्रतिक्रिया है। मैंने तो बड़े आश्चर्य के साथ देखा है कि शील, सौजन्य और सहानुभूति की मात्रा एक अपराधी में कहीं अधिक होती है। आवश्यकता केवल अवसर पर उसे उभारने की रहा करती है।"

पास ही खड़े हुए मिस्टर खन्ना ने इसीसमय खांस दिया। सिगरेट की टुकड़ी नाली में फेंककर दो बीड़े पान मुंह में खोंस लिए और कह दिया—"चलो, चलो, घण्टी बज गई। अन्त में रोती और सिसकती हुई हीरोइन का गाना भी सुन लें।"

साथ चलते मिस्टर गुप्ता बोल उठे—"जब कभी ऐसा अवसर आता है, तब मैं सोचने लगता हूं कि ऐसे समय अगर कहीं निर्देशक सामने पड़ जाता तो निरुत्तर किए बिना मैं किसी तरह न मानता।"

अब छड़ी टेकते हुए लक्ष्मीचन्द्र से न रहा गया। बोले—"और तब मैं कह देता, बेटा पहिलौटी के, अब इसी बात पर तुम परदे पर आकर रोते हुए एक ग़ज़ल सुना तो डालो।"

इस तरह तीनों हा-हा-हा कर इतने ज़ोर से हंसने लगे कि इधर-उधर के लोग एक बार घूरकर रह गए।

थोड़ी देर बाद विजय करवट बदलते हुए कह रहा था—"पर ये सब बातें तुम्हें मालूम कैसे हुईं नयना?"

नयनतारा ने कहा—"खुद रशीदा ने ही मुझे बतलाया था कि एक हो आध दिन में वह अपने चाचा के पास चली जाएगी और फिर वहीं···।" बस इतना कहती-कहती वह एकाएक रुक गई थी।

नयनतारा की इस बात पर विजय ने कोई प्रश्न नहीं किया।

तब नयनतारा ने इतना और कह दिया—"भैया, रशीदा ने जब यह बात मुझसे कहीं थी, तब लगता था, मानो अन्तस् की पड़ी उसके कण्ठ पर उतर आई हो।"

सुनकर विजय सन्न रह गया। पलंग से उठकर वह छत की मुंडेर पर आकर सड़क की ओर मुंह करके शून्य गगन को देखने लगा। फिर थोड़ी देर बाद बोला—"अच्छा, अब तुम जाओ, नयना।"

नयनतारा चली गई।

विजय जल्दी में कोई कार्य न कर सकता था; यद्यपि वह सोचता यही रहता था कि जो सहानुभूति निष्क्रय है उसका जीवन में कोई महत्त्व नहीं।

उसी दिन शाम को बैठक से उठते-उठते उपाध्यायजी ने कहा—"विजय, तुमसे कुछ बात करनी थी।"

विजय ने बिना सिर उठाए उत्तर दिया—"आज्ञा दीजिए।"

साथ ही वह सोचने लगा—'हूं, तो रशीदा चली जाएगी।'

उपाध्यायजी बोले—"वो, अ···हमारे एक मित्र हैं, कमल बाबू। कल उनके यहां चिरंजीव कुमुद का जन्म-दिन है। निमन्त्रण में हमको सपरिवार जाना है।"

'हो सकता है कि इस निमन्त्रण में मेरी स्वतन्त्रता के वध का कोई गुप्त आयोजन हो'—सोचता हुआ विजय जैसे जड़ बन गया। बोला—"तो इसमें कहने की क्या बात है?"

उपाध्यायजी स्वभावतः अटकते हुए बोले—"अ···हां, कहने की ऐसी कोई बात नहीं है माई लार्ड, फिर भी कह इसलिए दिया कि उस समय तुम्हें यहां मौजूद रहना चाहिए। वैसे निमन्त्रण तो आठ बजे का है; लेकिन उन्होंने कहा है कि कुछ पहले आ आजाइएगा। अ···मेरा ख्याल है कि छः बजे हम लोग चले चलें तो ठीक रहेगा माई लार्ड।"

विजय ने सिर नीचा कर लिया। कहीं मुंह पर हंसी न झलक उठे। फिर बोला—"आठ बजे के निमन्त्रण में छः बजे से चलना···।" कहकर कुछ रुकता हुआ

आश्चर्य के साथ बोला—"मेरी समझ में नहीं आता।"

उसे फिर जैसे ध्यान हो आया—'क्या सचमुच रशीदा चली जाएगी ?'

"समझ में कैसे आए माई लार्ड ? बिरजू के साथ आठ घण्टे, दस घण्टे, बारह घण्टे रहते हो, तब समझ में आता है ? और अभी मैंने जो कहा कि वे हमारे मित्र हैं, तो यह बात तुम्हारी समझ में नहीं आती माई लार्ड ?"

उपाध्यायजी ने यह बात कुछ ऐसे आवेश में आकर कही कि विजय इसके सिवा अधिक कुछ न कह सका कि—"अच्छी बात है। छः बजे ही क्यों, आप कहेंगे तो चार बजे ही चला चलूंगा। वैसे मित्रता आपकी है, तो जाना भी आपको ही उचित है। अगर मैं न जाऊं, तो भी उनको बुरा नहीं मानना चाहिए।" और इतना कहकर वह कमरे से बाहर हो गया।

उपाध्यायजी देर तक सोचते रहे—'एक विजय ही ऐसे स्वतन्त्र विचारों का है कि बड़ों के आगे कभी झुकना नहीं जानता या आज अनास्था के इस युग में सभी लड़के माई लार्ड ?'

"देखो सुखराम, मेरी धोती में एक बट्टी तो लगेगा कपड़ा साफ करनेवाला साबुन और एक चम्मच ब्लीचिंग पाउडर माई लार्ड, समझ गए ? और देखो, रस्सी में टांगने का—धोती में—कोई दाग न लगना चाहिए। दाग से मुझे चिढ़ है। अगर धोती में कहीं एक भी दाग दिखाई पड़ गया, तो एक महीने की तनख्वाह ज़ब्त माई लार्ड। समझे कि नहीं ? यह लो एक टन्ना-सा रुपया और तुरन्त बाज़ार चले जाओ।"

सुखराम जब रुपया हाथ में लेकर कमरे से बाहर हो गया तो सोचने लगा—'पांच आने का मिलेगा साबुन। दो आने का ब्लीचिंग पाउडर। पांच और दो सात आने हुए। अच्छा, अगर इन्हीं सात आने में किसी तरह तीन आने और जुड़ जाएं, तो कैसा हो ? क्योंकि एक दाग के लिए अभी मेरी एक महीने की तनख्वाह ज़ब्त हो रही थी।'

और थोड़ी देर बाद जब सुखराम लौटकर आया, तो बोला—"बाबूजी, यह छतरी न जाने कैसे टूट गई ! घर से बाहर निकलने पर जब मैंने इसे तान दिया, तो इसकी एक कमानी न जाने कहां से टूटी हुई मिली। और बाबूजी, जब मैंने छतरी बनवा ली तब पानी भी बन्द हो गया ! और बाबूजी, खामखा तीन आने

पानी में चले गए।"

उपाध्यायजी का चश्मा खिसककर नाक की नोक पर आ गया और उनके मुंह से निकल गया – "अच्छा, अच्छा, सुन लिया। तुझे बातें बनाना खूब आता है। और पुनः वे रामायण-पाठ में लग गए—'कामिहि नारि पियारि जिमि···' फिर पढ़ते-पढ़ते यहीं अटक गए। मन ही मन विचार करने लगे—'ध्यान देने की बात है कि कामी पुरुष को स्त्री अत्यन्त प्यारी होती है—तो निष्कर्ष निकला—जिसको स्त्री अत्यन्त प्यारी होती है, वह 'कामी' होता है।' झट बोल उठे—"अरे सुन रही हो विजय की मामी ? गोस्वामीजी यहां क्या कहते हैं।"

सावित्री अंगीठी के निकट बैठी जीरा बीन रही थी। पहले धीरे से बोली, "उंह, कहते होंगे।" फिर कुछ ज़ोर से बोली—"क्या कह रहे हैं, बताओ न !"

उपाध्यायजी ने चश्मा नाक के ऊपर खिसकाते हुए कह दिया—"बस, मैंने तय कर लिया कि आज से फिर कभी किसी काम से तुमको अपने पास न बुलाया करूंगा और कान के पास मुंह ले जाकर बात करना तो कतई बन्द माई लार्ड। हां, 'कामिहि नारि पियारि जिमि, लोभी के जिमि दाम।' तो पैसे के साथ रहने-वाले प्यार की कोटि को भी उन्होंने, राम के साथ प्रेम करने से कम महत्त्वपूर्ण नहीं समझा, धन्य हो तुलसी बाबा।"

घोषणा सुनकर सावित्री मुस्करा उठी। उसी समय उपाध्यायजी बोल उठे—"धोती में एक दाग न रहने पाए सुखराम।"

नयनतारा दर्पण देख रही थी, खिलखिलाकर हंसने लगी। और सावित्री बोल उठी—"तुमको ज़रा शऊर नहीं है। लड़के जब समझदार हो उठें, तब तुमको इस तरह की बातें प्रकट में कहनी ही न चाहिए। फिर कम से कम तुममें इतना तो विवेक होना ही चाहिए कि जो बात केवल मन के संकल्प की है उसे मन में ही रख लो। कह डालने में क्या रस है ? फिर भी इन बच्चों के सामने कहने में संकोच नहीं होता; राम राम !"

"मेरा संकोच ? मैंने जैसे प्यार में कभी संकोच नहीं किया, वैसे वैराग्य में भी नहीं करूंगा। क्या कहने हैं—तिमि रघुनाथ निरन्तर प्रिय लागहु मोहि राम।"

यों तो उपाध्यायजी को छोटे-बड़े कई रोग थे, पर इस समय प्रधानता इस बात की थी कि वे विश्वास किसीका न करते थे। फलतः अविश्वास की नाना लहरें उनके मानस-लोक में डोलती ही रहती थीं।

वे बही के उस पन्ने पर दृष्टि गड़ाए हुए थे जिसमें कई लोगों पर ब्याज की रकमें बकाया चली आ रही थीं। अकस्मात् ध्यान आ गया कि कहीं विजय कपड़ों का बहाना न कर बैठे। इसलिए तत्काल बोले—"सुखराम ! ए सुखराम ?"

सुखराम सामने आ गया। हाथों में साबुन का फेन, मुंह पर साबुन के छींटे। गले और मस्तक पर पसीने की बूंदें। उपाध्यायजी सहन न कर सके। भौंहें सिकोड़कर बोले—"बड़े गन्दे हो। बदन साफ करके क्यों नहीं आते माई लार्ड ?"

"बाबूजी, बदन साफ करने में देर न लग जाती !"

"हां, यह तो तूने ठीक कहा। अच्छा खैर, वो···ज़रा मैं यही जानना चाहता था माई लार्ड, कि विजय के पास तो धुले हुए कपड़ों के कई जोड़े रक्खे हैं न ? कहीं ऐसा तो नहीं है कि जब कमल बाबू के यहां चलने का समय हो, तब सुनने में आए कि उसके धुले हुए कपड़े तो आए ही नहीं माई लार्ड ?"

मुंह घुमाकर बड़ी कठिनाई से हंसी रोकता हुआ सुखराम बोल उठा—"नहीं बाबू, ऐसी क्या बात है ! और बाबू, उनके पास धुले कपड़ों के दो ट्रंक भरे पड़े हैं।"

"तुझे ठीक मालूम है, या यों ही डींग हांक रहा है माई लार्ड ?"

"अच्छी तरह मालूम है बाबू। आप बेफिकर रहें।"

सुखराम चला गया।

बही के सामने एक रकम पर पुनः दृष्टि गड़ गई। अलग एक चिट पर उनका नाम लिखते हुए सोचने लगे—'इस विश्वम्भरनाथ ने एप्रिल, मई, जून तीन महीने से ब्याज नहीं दिया। छत्तीस रुपये हो गए।···लो यह विष्णुदत्त और भी खरा निकला। पांच बोरी सीमेंट गई थी। वादा था कि रुपये कल भिजवा देंगे माई लार्ड। उस कल के आज चार महीने बीत गए। मुझे ऐसे लोगों की शक्ल से नफ़-रत है। मगर विकास बोर्ड के बाबू ठहरे। कड़ाई के साथ उनसे कुछ कहा भी नहीं जा सकता। तो इनके साथ कुशलता से काम लेना होगा। सुखराम को भेजकर चाय पर न बुला लिया जाए ? इसी गद्दी पर बैठना ठीक होगा। बही का यही पृष्ठ सामने रहेगा। इतना कहने में क्या लगता है कि अचानक आपका नाम सामने आ गया, तो बड़ा आश्चर्य हुआ कि आप भूल कैसे गए माई लार्ड ! साथ में इतना और जोड़ दिया जाएगा—'हं हं समोसा ठीक रहा न, बात यह है कि यह नीचे बैठनेवाला सिन्धी घी वाकई अच्छा लगाता है। आपको मालूम नहीं, इसने पांच-सात भैंसें पाल रखी हैं माई लार्ड। और इधर बहुत दिनों से चाय

पर आपके पास बैठकर···जी, मगर किया क्या जाए माई लार्ड, चारों ओर न देखूं तो सारा गुड़ चींटे खा जाएं। है कि नहीं ?'

इस प्रकार उपाध्यायजी अपनी मनोगत योजना की काल्पनिक सफलता पर आप ही आप हंस पड़े।

सावित्री चादर ओढ़कर जाने लगी तो नयनतारा को लक्ष्य कर बोली—"पड़ोस के मकान में बेचारे जनार्दन बाबू के यहां इक बच्चा बीमार है। महरी कहती थी कि सारा हास्पिटल मरीज़ों से भरा पड़ा है। जिस कमरे में लल्लन को पलंग दिया गया, उसमें पांच पलंग और थे, जिनपर बच्चे ही बच्चे थे। कोई भी दस वर्ष से ऊंचा न था। मेरी समझ में नहीं आता, यह सब क्या हो रहा है ? न जाने भगवान की क्या इच्छा है ?"

"पर मामी, तुम कहां जा रही हो ?" नयनतारा ने पूछा।

"क्यों, मैं तनिक लल्लन को न देख आऊं। मेरा जी उसके लिए बेचैन है; अभी आती हूं।" सावित्री चादर ओढ़ती हुई बोली और द्वार की ओर चल दी। उपाध्यायजी सुखराम से कमरा धुलवाने में जुटे हुए थे, इसलिए तखत हटाया जा रहा था। वे निरन्तर मिनट-मिनट बाद कहने लगते थे—"सफाई अजब चीज़ है।" पर वे जब कमरे का कोना धुलवाने लगे तो बोल उठे—"साले लोग पान-तम्बाकू इस तरह थूक जाते हैं जैसे बाप का घर हो।"

इसी क्षण कहीं से नयनतारा उधर आ पहुंची। मामा की बात सुनकर हंसती-हंसती बोली—"मामा, शायद तुम्हें मालूम नहीं, पान की यह पीक है किसकी ?" कुछ आशंका के साथ दृष्टि स्थिर कर उपाध्यायजी ने कहा, "किसकी है ?" नयनतारा खिलखिल करती हुई बोली—"मामी की। होली के ठीक दूसरे दिन की बात है जब कमल चाचा आए हुए थे और साथ में चाची भी थीं। खाना सबने यहीं खाया था।···"

तब उपाध्यायजी ने अनुकूल अवसर देखकर उपस्थित विषय को टालते हुए कह दिया—"होगा माई लार्ड। कल सब लोगों को उनके यहां एक मर्यादा के साथ चलना है। जगमोहन बाबू के घर के लोग भी आनेवाले हैं। साथ में उनकी लड़की एला भी होगी माई लार्ड। किसी तरह विजय राज़ी हो जाए तो एक ज़िम्मेदारी से छुट्टी मिले। हो सकता है कल वे लोग यहां भी आएं। जल्दी करो सुखराम।"

कमरा जब धुल चुका तो नयनतारा दक्षिण की ओर रखी अलमारी के पास

चल दी। तब उपाध्यायजी बोल उठे—"ठहरो—ठहरो, नयना ! अभी वहीं रहो, नहीं तो गीले फर्श पर सूखे पैरों के निशान बन जाएंगे माई लार्ड।"

मामा की इस बात पर नयनतारा हंस पड़ी।

इतने में सावित्री ने अंदर आकर कुछ हांफते हुए और चादर उतारते हुए कह दिया—"लल्लन की तबियत तो कुछ ठीक भी है, पर अब उसकी बहिन उर्मिला को बड़े वेग से ज्वर आ गया है। न जाने क्या होनहार है। कहते हैं, यह बीमारी छूत की है। कोई घर ऐसा नहीं बचा जहां इसकी पैठ न हो। ज़रा पानी गरम करके ले आ नयना तो हाथ-पैर धो डालूं।"

उपाध्यायजी हंस पड़े। बोले—"बहुत अच्छा, मैं तो नहीं जाऊंगा। मगर विजय को भी समझा देना माई लार्ड, कहीं इधर-उधर न जाए।"

नयनतारा बोली—"जब बीमारी का इतना डर है, तो जाने की ही क्या ज़रूरत थी मामी !" और कथन के साथ अंदर चली गई।

"यह तू अभी नहीं समझेगी नयना।" उत्तर के साथ सावित्री वहीं बैठ गई। इतने में सुखराम आ गया और बोला—"पानी अभी गरम करता हूं मांजी।" तभी उपाध्यायजी सावित्री के पास जा पहुंचे। कल के कार्यक्रम के सम्बन्ध में वे कुछ कहने ही वाले थे कि सावित्री फिर बोली—"दूर ही रहना, मैं कालरा के मरीज़ के घर से आ रही हूं।"

विजय नौ बजे घूमकर लौटा तो उसने बतलाया कि मैं कालरावाले हास्पिटल से ही अभी लौट रहा हूं।

नयनतारा ने आकर झट कह दिया—"भइया, वे लोग आ गए।"

प्रश्नसूचक भंगिमा से विजय ने पूछा—"कौन लोग ?"

नयनतारा ने उत्तर दिया—"डाक्टर साहब के वे भाई जो अलीगढ़ में किसी कालेज के प्रिन्सिपल हैं।"

कल्याणी विजय की ओर देखकर एकाएक बोल उठी—"हाय ! यह तूने क्या किया ?"

विजय ने हंसते-हंसते कह दिया—"मेरा यही कार्य मुझे जीवित रखेगा अम्मी, पांच हज़ार रोगियों की दवा के लिए प्रबन्ध करके लौट रहा हूं।"

कल्याणी की आंखें चमक उठीं। बोली—"विजय यह काम तूने बहुत अच्छा किया। अरे सुनते हो भैया, इस काम में तुमको भी हाथ बंटाना चाहिए।"

उपाध्यायजी और सावित्री दोनों परामर्श के लिए जो दूसरे कमरे में जाकर एक ही पलंग पर बैठने लगे, तो उपाध्यायजी बिचककर अलग जा खड़े हुए। और बोले—"जो कुछ कहना है, दूर से कहो माई लार्ड।"

तिनककर सावित्री उठकर चल दी। बोली—"मुझे कुछ नहीं कहना है।"

कल्याणी के एकाएक बीच में बोल पड़ने से नयनतारा की जो बात अधूरी रह गई थी उसे पूरा करते हुए उसने विजय को बताया—"भैया, डाक्टर साहब का नौकर अभी-अभी बता गया है—रशीदा कल शाम की गाड़ी से चली जाएगी।"

"शाम की गाड़ी से ?"

"हां, दिल्ली एक्सप्रेस से, जो रात को यहां से नौ बजकर दो मिनट पर छूटती है।"

विजय ने दोहराते हुए कहा—"नौ बजकर दो मिनट पर ?" उसने समझ लिया—'जिस समय कमल चाचा के यहां दावत का कार्यक्रम है।' तब उसने साधारणतया तथा मन्द स्वर में कह दिया—"अच्छा।"

एक बार फिर किसीने जैसे उसके कान के पास आकर कह दिया हो—'रशीदा कल चली जाएगी ?'

४

नगर से सौ मील दूर एक गांव था और गांव के दक्षिण-पश्चिम कोने में एक गढ़ी थी। अब उसका खण्डहर ही शेष रह गया था। इस खण्डहर के सम्बन्ध में विभिन्न प्रकार की बातें प्रसिद्ध थीं। कोई उसे भुतही हवेली कहता था, किसी-किसीका मत था कि उसमें ब्रह्मराक्षस रहता है। गांव की वयोवृद्ध नारियां अपने बच्चों को लेकर जब इस खण्डहर के राजमार्ग से आने-जाने लगतीं, तो अपने अंचल से उनका मुंह ढक देती थीं। देवर या बड़ा लड़का बैलगाड़ी पर साथ में होता, तो उसको यह आदेश दिए बिना सन्तोष न होता कि बच्चा !

उस गढ़ी की ओर देखना नहीं, पीठ करके बैठ जाना ! प्रौढ़ और वयस्क पुरुष सम्मान के भाव से उन माताओं और बहिनों को कोई उत्तर न देते, पर एक बार शंकित अवश्य हो जाते थे।

विजय को घूमने-फिरने का चस्का था। दूसरे-चौथे दिन जीवन के साधारण क्रम से उसका मन विद्रोह कर उठता और तभी वह कोई ऐसी योजना बना लेता, जिससे ब्रजमोहन सहमत न होते हुए भी उबर न पाता था। बारम्बार वह अपने मन में सोचने लगता—'मैं इसके साथ चला ही क्यों आया ?' कठिनाई यह थी कि विजय के पास मामा की अपनी गाड़ी थी और ड्राइव भी वह स्वयं ही करता था। लेकिन इससे भी अधिक विचारणीय बात यह थी कि विजय जब गाड़ी पर जाने लगता, तब उस समय तक, ऐसा कोई कार्यक्रम वह बतलाता न था कि कहां जाना है और किसलिए जाना है।

गांव की उस भग्न गढ़ी में एक-दो नहीं, दस-बारह मकान थे। किसीमें एक दीवार गिर गई थी, अतः छत की धन्नियां लटककर तिरछी हो गई थीं। वर्षा, आतप और आंधियों ने उनपर टूटी-फूटी ईंटों के ढेर और झाड़-झंखाड़ डाल दिए थे। किसी-किसी कमरे में सड़े-गले काठ-कबाड़ और दीवार के खड़ंजों का ढूह बन गया था। उसके ऊपर पथरीली मिट्टी जम गई थी। काल के चरण बहुत आगे बढ़ आए थे और अब उस ढूह के ऊपर हरी दूर्वा, घमरा, आक और धतूरे के पौधे उगकर वयस्क हो चले थे। लुटे हुए वैभव के इस भग्न प्रासाद में कुछ कमरे ऐसे भी थे, जिनमें एक-एक ईंट खील-खील-सी बिखरी पड़ी रहती थी। कहीं नोना लग गया था, और कहीं सौ-सौ, पचास-पचास ईंटों का खड़जा ढहा पड़ा था। कहीं सियार और कुत्ते घूमते रहते, कहीं चिड़ियां आकर बैठतीं और चहचहातीं। कौए ऊपर मंडराया करते। कहीं-कहीं बीच में नीम और आम के पेड़ बड़े हो गए थे, जिनपर कभी कोयल आकर बोलने लगती और कभी मोर-मोरनी का जोड़ा, तने के निकट सघन छाया-वितान के नीचे, मानो किसी अज्ञात अतीत की स्मृति-मात्र से विह्वल होकर नाच-नाच उठता।

एक दिन जब निरुद्देश्य विजय हवेली के निकट तक आ पहुंचा, तो अकस्मात् एक किसान से पानी मांगकर पीने के क्षण-भर बाद उसने पूछा—"सुनते हैं, इस गांव का इतिहास बड़ा विचित्र है।"

माखनलाल ने गमछे से मुंह का पसीना पोंछते हुए उत्तर दिया—"बाबूजी,

गांव का नहीं, इस हवेली का इतिहास ज़रूर विचित्र है।"

ब्रजमोहन साथ में था। सदा की भांति अब उसे पता चला कि हो न हो, यह विजय इस गढ़ी को देखने-दिखाने के लिए ही मुझे साथ ले आया है।

विजय ने उत्तर दिया—"अच्छा, गढ़ी का ही सही, पर विचित्र कैसा? यही जानना चाहता हूं।"

माखनलाल थोड़ा पढ़ा-लिखा आदमी था। लोटा-डोर को कुएं के एक पत्थर की शिला पर रखते हुए उसने उत्तर दिया—"विचित्र इस अर्थ में कि गढ़ी तो यह बहुत पुरानी है। हो सकता है, तीन-चार सौ वर्ष हो गए हों। पर कहते हैं, इसकी ऊंची चोटी पर आसपास की जमींदारियों के स्वामियों ने सौ-सौ, पचास-पचास वर्ष के अन्तर से अनेक बार अपने लिए मकान बनवाकर रहने का प्रयत्न किया है। परिणाम आपके सामने है। जो कोई भी आकर इसमें रहा और बसा, उसका वंश-दीप कालान्तर में बुझता ही चला गया। मुझे तो ज्ञात नहीं और सच्ची बात है, मैंने देखा भी नहीं, पर सुनता अवश्य हूं कि पूर्णिमा के दिन जब चांदनी छिटकती है, तो वहां बैठने वाले लोगों को दस-ग्यारह बजे रात के समय वाद्य और संगीत की ध्वनियां स्पष्ट सुनाई पड़ती हैं। मेरे एक चचा का तो यहां तक कहना था कि अंधेरी रात में कभी खिलखिलाहट और कभी सिसकियों की ध्वनि के स्वर तो उन्होंने भी सुने हैं। बाबूजी, आप लोग बहुत पढ़-लिख जाने के कारण इन बातों पर विश्वास नहीं करेंगे। लेकिन अल्प वय में जिन सुन्दरियों और तरुण, वयस्क, प्रौढ़ नरपुंगवों ने अपने विवश प्राण इस हवेली के सुरम्य कक्ष में छोड़े हैं, उनकी असमय भग्न आशाएं इस भूमि को कैसे छोड़ सकेंगी! कभी न कभी वे आत्माएं यदि इधर फेरा करती हों, तो इसमें आश्चर्य की क्या बात है?"

ब्रजमोहन बोला—"अब आज तो समय नहीं रह गया, क्योंकि घूमते-घूमते ही रात हो जाएगी। देखना ही है तो फिर किसी दिन आएंगे।"

परिहास के ढंग से कथन को दोहराते और घोड़े जैसा मुंह चलाते हुए विजय बोला—"हां, फिर किसी दिन आएंगे। अरे डरपोक, कोई संयोग दुबारा नहीं आता। हम इस गढ़ी को या तो आज ही देखेंगे या फिर कभी न देखेंगे!"

"देखो विजय, तुम जिद मत किया करो। मैं तुमसे उमर में ग्यारह महीने बड़ा हूं, ग्यारह महीने।"

"ज्ञान और साहस के क्षेत्र में महीनों नहीं, युगों के व्यवधान की प्रभुसत्ता

पर भी मैं विश्वास नहीं करता। मैं इस गढ़ी में आज ही जाऊंगा और अभी। तुमको मेरे साथ चलना ही पड़ेगा।"

व्रजमोहन में यही कमी थी। उसका व्यक्तित्व आक्रमणात्मक न था। मित्र अथवा गुरुजन के सामने वह प्रायः अनुगामी और समर्पित हो जाता था।

सहमत न होते हुए भी उसके मुंह से निकल गया—"जैसी तुम्हारी इच्छा!"

गाड़ी की ओर चलते हुए व्रजमोहन ने पूछा—"भाई माखनलाल, तुमने पानी पिलाया है, इसलिए तुम्हारा थोड़ा-सा ऋण तो हमारे ऊपर हो ही गया है। वह ऋण थोड़ा मैं और बढ़ाना चाहता हूं। इस भग्न हवेली को मेरे साथ चलकर ज़रा दिखला ही दीजिए अब! आप जानते ही हैं कि एक से दो भले होते हैं और जब दो से तीन हो जाते हैं, तब तो एक परिवार बन जाता है।"

पर माखनलाल ने टालते हुए उत्तर दिया—"बाबू साहिब, आप लोगों को काम तो है नहीं। मटरगश्ती के लिए निकले हैं। नौ-दस बजे रात तक भी घर पहुंच जाएंगे तो कोई कुछ नहीं कहेगा और यहां हालत यह है कि अगर मड़नी न की, तो बेझर कैसे उठेगा। और समय निकल जाने पर मिज़ाज गरम हो गया, तो भैंस दूध न देकर लात से बात करेगी, सो अलग। इसलिए जो कुछ देखना है, सो आप ही देखिए और मुझको माफ कर दीजिए।" और कथन के साथ सोचने लगा, 'हम खुद ही ऋण के मारे दबे जा रहे हैं। क्या दुनिया है? लोग अपना ही मतलब साधने की कोशिश करते हैं।'

माखनलाल खलिहान की ओर चलने लगा।

व्रजमोहन ने सोचा, यह तो अच्छी मात दे रहा है। अतः उसके निकट जाते हुए बोला—"अरे सुनिए, सुनिए भाई साहब, ज़रा बात तो सुन लीजिए।"

माखनलाल ने लोटे में डोर की पिण्डी छोड़कर घूमते हुए उत्तर दिया—"सुन ली बात, सुन ली, जिनको कोई काम नहीं होता, बेमतलब का सैर-सपाटा उन्हींको सूझता है।"

कथन के साथ माखनलाल खलिहान की ओर घूम गया और व्रजमोहन ने मुस्कराते हुए कहा—"चलो, अब लौट चलो। अब फिर किसी दिन आएंगे।"

"ऐसी-तैसी तुम्हारी! हम आज के काम को कल पर कभी टालते हैं? मैंने अक्सर देखा है कि आदमी अपना निश्चय बहुत जल्दी बदलते हैं। ध्यान है कुछ, विलियम जेम्स ने क्या कहा है?"

"क्या कहा है ?" मुस्कराते हुए ब्रजमोहन ने पूछा।

"कहा है, जो कभी किसी निश्चय पर दृढ़ नहीं रहता, वह आदमी संसार में सबसे अधिक दुःखी रहता है।" कथन के बाद विजय गाड़ी पर जा पहुंचा। तब विवश होकर ब्रजमोहन को भी बैठ जाना पड़ा।

गाड़ी स्टार्ट कर विजय आगे बढ़कर ठीक उसी स्थल पर जा पहुंचा जहां एक घना और विस्तृत इमली का पेड़ था।

हवेली की चढ़ाई वहीं से प्रारम्भ होती थी।

गाड़ी से उतरकर विजय ने चाबी लगा दी।

अब आगे-आगे चला विजय और पीछे-पीछे ब्रजमोहन।

उपाध्यायजी ने कहा—"देखो भाई, कोशिश मैं पूरी करता हूं। सफलता और विफलता भावी के हाथ है। इस काम में कितनी बड़ी चतुराई की आवश्यकता है, यह तुमसे छिपा नहीं है! तुम जगमोहन के साढ़ू भाई हो, इसलिए एला को सहज ही में अपने यहां बुला सकते हो।···तुम्हारे चिरंजीव कुमुद का जन्म-दिन कब है ?"

अब कमल बाबू मुस्कराने लगे।

"बोलो, ठीक-ठीक बताओ कब है ?"

'वह तो अष्टमी को ही है।"

"तारीख कौन-सी है ?"

कमल बाबू प्रसन्नता के साथ बोले—"तारीख इक्कीस और दिन है रविवार!"

"तो बस तय रहा। दावत ज़रा धूम के साथ होनी चाहिए। वैसे तो स्वयं तुम्हींको करना चाहिए, लेकिन जब साढ़ू भाई का ही कार्य सिद्ध करना है, तो उस खर्चे को उन्हींके निमित्त एक उपकार समझकर स्वीकार कर लो।···अरे दस-बीस रुपये का सवाल है। कहो तो मैं दे दूं!"

कमलकिशोर बोले—"नहीं, नहीं, सब हो जाएगा।" कथन के साथ उन्होंने धीरे से कहा—"तब तो फिर पत्र आज ही भेज देना चाहिए जिससे जगमोहन बाबू अपनी पत्नी आत्मा और पुत्री एला के साथ परसों ही आ जाएं!"

"हां, अभी लिखकर पोस्ट करवा दो।"

कथन के साथ उनके कुछ और निकट जाते हुए धीरे से कहने लगे – "सारी मुसीबत यह है कि अगर विजय को मन की कोई नौकरी मिल गई, तब तो वह एक स्थान पर स्थिर हो ही जाएगा। यह तो तुम मानोगे ही कि ऐसा अवसर आने से पूर्व उसका विवाह कर देना कितना आवश्यक हो गया है।"

कमल बाबू ने उत्तर दिया —"ऐसी तो कोई बात नहीं है। कभी भी विवाह हो सकता है। मैं तो समझता हूं कि नौकरी लग जाने पर ही विवाह करना अधिक उत्तम होता।…"

"अरे तुम कुछ नहीं जानते कमल बाबू, समय बड़ा बलवान होता है। यह समय ही है जो मनुष्य को कभी चोटी पर चढ़ा देता है और कभी उसे खन्दक में फेंक देता है। बाबूजी कहा करते थे कि हज़ार बरस जो बीत गए और आगे जो हज़ार बरस आनेवाले हैं, ये दोनों मिलकर दो हज़ार बरस भी उस समय की तुलना में हीन हैं जो समय हमारे सामने है।…हर समय का मूल्य होता है। अगर इस समय हम चूक गए तो रोने को मकान में कहीं ठौर न मिलेगा। स्वतन्त्र और स्वच्छन्द छोड़ देने में अब बुराई ही बुराई है। कौन जानता है किस अवसर पर विजय का मन डोल जाए, और फिर उस नगर में जहां रूप और सौन्दर्य का प्रदर्शन जीवन-निर्माण में प्रमुखता प्राप्त कर रहा हो।"

"हां, यह तो आप ठीक कहते हैं!"

इतने में परदा हिल उठा और कमल बाबू की धर्मपत्नी शारदा ने हाथ जोड़ते हुए मन्द मुस्कान के साथ कह दिया —"नमस्ते।"

"ओ; आप भी हैं, मुझे मालूम ही न था। पर अब तक आप कहां बैठी थीं?" उपाध्यायजी बोले।

शारदाजी हंस पड़ीं। बोलीं—"जब आपका तांगा भीतर प्रवेश कर रहा था, तब मैं ट्यूबवेल के पास खड़ी थी। चांदनी रात में, बगिया के भीतर घूमने में बड़ा आनन्द आ रहा था। मैंने सोचा, ऐसे समय पहुंचूं जब आप लोगों की बातचीत की नाव एक किनारे लग जाए!"

उपाध्यायजी बोले—"क्या बतलाऊं भाभी, अब तो मैं यहां तक सोचने लगा हूं कि मुझसे गलती हो गई, और भी दो-एक साल पहले विवाह हो गया होता, तो कहीं अच्छा होता।"

"आपको स्मरण नहीं है, मैंने तो एक बार आपसे कहा भी था। खुद मेरी ही

बुआ के एक लड़की थी—तारिणी। पर आपने यह कहकर टाल दिया कि विजय तो अभी पढ़ ही रहा है।"

"मुझे अब बहुत खेद हो रहा है भाभी !"

"पर यह सम्बन्ध भी बड़ा उत्तम है भाई साहिब ! सबसे बड़ी बात यह है कि एला जितनी गुणवती है, उससे अधिक रूपवती ! चौड़े पाढ़ की हरी-हरी साड़ी तथा मूल्यवान रत्नाभरणों की अभिनव सज्जा में, एड़ियों में महावर लगाए, बिम्बाफल जैसे अधरों में लाली सजाए, झिलमिल-झिलमिल वेश-विन्यास में, जब उसे आप अपने आंगन में इधर से उधर आते-जाते, लज्जा से ठिठुकते और प्रसन्नता से खिलखिलाते, विस्मय से चौंकते और कभी-कभी एकाएक सामने देखते ही घूंघट के भीतर लजाते, तत्काल एक झटके के साथ मुंह फेरते हुए देखेंगे, तब प्रसन्नता के मारे फूले न समाएंगे।"

"सुनता तो ऐसा ही हूं भाभी। इसीलिए मैंने यह सम्बन्ध बिना विशेष छान-बीन किए आप लोगों के आग्रह से मन ही मन स्थिर कर लिया है। अब मैं चाहता हूं कि विजय भी स्वीकार कर ले तो मेरी बहुत कुछ चिन्ता दूर हो जाए। वैसे कल्याणी का तो यही मत है कि जीजा को बिलकुल पूछा न जाए। किन्तु सारी बातें स्थिर हो जाने पर उनको सब बातें बतलानी तो पड़ेंगी ही। किसी भी दशा में उन्हें यह सोचने का अवसर नहीं देना चाहिए कि हमें पूछा तक नहीं।"

"इन्होंने मुझे उसी समय सूचना दे दी थी, जब आपसे फोन पर बात हुई थी। उस दिन जीजी के साथ नयनतारा को भी अवश्य भेज दीजिएगा। माना कि आप आएंगे समय पर ही, पर उसको पहले से ही भेज दीजिएगा। एला से परिचय हो जाएगा, तो उस विषय में कुछ सहायता ही मिलेगी।"

"हां, यह आपने ठीक कहा।"

इतने में कुमुदकिशोर आ गया और झुककर उपाध्यायजी के चरण छूने लगा।

"सुखी रहो, सुखी रहो। अब तक कहां थे ? पहले से क्यों नहीं आए ?"

"चाचाजी, मैं आपके मृगछौने से बातें कर रहा था। बहुत प्यारा लगता है मुझे।"

"हां, विजय का एक शौक ही तो है। अच्छा तो मुझे भी लगता है बेटा, पर इस तरह के शौकों में झंझट कितना है ! एक आदमी तो इसीके लिए रखना पड़ता

है। सबसे पहली बात है उसकी रुचि के खाने की। फिर उसके घूमने-फिरने की, वातावरण की। विजय का हाल तो यह है कि बिना एक-दो घण्टा यहां बिताए उसका जी नहीं मानता। तुम देख लेना दस-पांच मिनट में आता ही होगा।"

इन्हीं सब बातों ने तो जगमोहन बाबू और मेरी बहिन आत्मा को मुग्ध कर रखा है। आपको पता है, आए दिन नित्य ही उनका पत्र आ जाता है। अभी कल भी उन्होंने पत्र में लिखा था कि मैं तो सीधी बातचीत के लिए भी तैयार हूं। जब हमें सम्बन्ध करना ही है, तो परोक्ष रूप से इस विषय को उसके सामने प्रस्तुत करने की क्या आवश्यकता है ?"

"यहां मैं जगमोहन बाबू से सहमत नहीं हूं। आज के युग में कोई भी उच्च-शिक्षित लड़का यह कभी पसन्द नहीं करेगा कि वर और कन्या दो में से किसीको भी जान-बूझकर इसी मन्तव्य के अनुसार उसके सामने उपस्थित कर दिया जाए। इसमें कोई सौन्दर्य नहीं, इसमें कोई कला नहीं, मैं उस सुन्दरता का प्रभाव कभी नहीं स्वीकार करता जो मेरे ऊपर लादी जाती है। अगर किसी भावना की सुन्दरता चमत्कार की भांति मुझे आश्चर्य में नहीं डाल देती, अलौकिक आनन्द के रत्नाकर में स्वच्छन्द सन्तरण के लिए विवश नहीं कर देती, तो मुझे ऐसा लगता है जैसे पेड़ा बहुत स्वादिष्ट होने पर भी मुंह में ठूंसा जा रहा है।"

"वाह ! क्या बात कही है आपने भाई साहब ! जैसे आप हैं वैसे ही विजय भी हैं।"

"वैसा कहां है ?" कमल बाबू ने बीच से बात काटते हुए कह दिया — "विजय का तो बात करना भी दुष्कर है। सारी बातों को वह अपनी एक मुस्कराहट में उच्छिष्ट सिद्ध कर देता है। जैसे वह सब कुछ जानता हो और सोचता हो कि कहकर स्पष्ट कर देने में क्या मज़ा है।"

अब अन्धकार कुछ सघन हो चला था। सीरी-सीरी पवन डोल रही थी। पीपल, आम और नीम के पत्ते हिलते हुए कुछ कहते-से जान पड़ते थे। विजय एक दीवार के ऊपर खड़ा होकर कहने लगा — "मैं तो पहले से ही जानता था, जाल है जाल। जिसमें राष्ट्र की इस धरोहर को कोई छू न सके। मुझे तो ऐसा लगता है कि यहां अगर मकान बनवाया जाए और इन झुकी हुई दीवारों को सहारा देकर खड़ा कर दिया जाए; भूमिसात् धन्नियों को उन दीवारों पर जमा दिया जाए, थोड़ा-

सी कंकरीट और सीमेण्ट आदि का उपयोग करके दीवारों पर प्लास्टरिंग कर दी जाए, झाड़-झंखाड़, काठ-कबाड़, मिट्टी और खड़ंजों का ढेर, छोटे-छोटे पौधे और पेड़ काटकर सारी भूमि समतल बना ली जाए, तो यही हवेली पुराने इतिहास की कालिमा धोकर पुन: जगमगा उठेगी !···सुनाई पड़ती है कहीं किसीकी हंसी ? आता है कानों में क्रन्दन का कोई स्वर ? कहां है वह अट्टहास, जिसको सुनकर सजग चेतन पुरुष भय से कांप-कांप उठते हैं ?"

ब्रजमोहन ने प्रकृतिस्थ भाव से मुस्कराते हुए साधारण स्वर में कह दिया—"मुझे तो ऐसा जान पड़ता है कि यह खंडहर एक रहस्य है। इतनी जल्दी इन थोड़ी-सी घड़ियों में न तुम कुछ समझ सके हो, न मैं। कुछ निश्चयात्मक रूप से न तुम कह सकते हो, न मैं। फिर अभी हमने इसको देखा ही कितना है ? जब हम पूरी तरह से इसे देखकर चप्पा-चप्पा इसका छान डालेंगे, तभी कुछ कहने की स्थिति में होंगे।"

अब विजय के दोनों होंठ फैल गए। उसपर ह्रास दौड़ गया। बोला, "शायद तुम ठीक कहते हो।"

विजय के हाथ में टार्च थी। और अब ज्योंही वह आगे बढ़ा, त्योंही एक जगह उसे टूटी हुई चूड़ियों के टुकड़े ढेर के ढेर, दिखाई पड़े।

ब्रजमोहन के मुख से निकल गया—"उफ ! इतनी चूड़ियां !"

विजय आगे बढ़ गया। बोला—"मैंने तुमसे पहले ही कहा था कि अपनी भावुकता पर थोड़ा नियन्त्रण रखना। पर तुम फिर बहकने लगे। जो खंडहर सैकड़ों वर्षों के इतिहास को मुट्ठी में भरकर वर्तमान को चुनौती दे रहा है, उसकी केशराशि के एक टूटे हुए बाल पर हमें आश्चर्य नहीं करना चाहिए।···" और कथन के साथ आगे पैर बढ़ाते हुए उसने टीन की एक चद्दर को बलपूर्वक उठाते हुए कह दिया—"देखो, देखो, यह शीशफूल। किसी सौभाग्यवती नारी की मांग का शृंगार।"

विजय ने उसे उठा लिया और ब्रजमोहन भावातिरेक से निकट पड़ी हुई एक शिला पर बैठकर बोल उठा—"कहा मानो विजय बाबू, अब लौट चलो यहां से।"

विजय बोला—"अच्छा, इस समय कोई नारी पीछे से आकर तुम्हारी आंखों पर कोमल-कोमल उंगलियां रख दे, तो···?"

ब्रजमोहन ने उत्तर दिया—"तुम मुझको तंग न करो विजय बाबू। इस समय लगता है मेरी भुजाओं के रोम-रोम खड़े हो उठे हैं।"

"अभी क्या हुआ है ?" मन ही मन कहता हुआ विजय बोला—"आ गए न तुम उन्हीं किंवदन्तियों के चक्कर में ?"

"चलो, बहुत हो गया, अब लौट चलें।" कथन के साथ ब्रजमोहन का हृदय धक्-धक् कर रहा था।

अब पूर्व दिशा की ओर चौथ का चन्द्रमा उदय हो रहा था। अंधेरा कम हो चला था, परन्तु हू-हू करती सिहरन पैदा करनेवाली वायु के भयानक झकोरे बढ़ रहे थे। कुछ पत्ते बोल रहे थे, कुछ खड़खड़ाते हुए उड़ रहे थे।

"अच्छी बात है, बाकी कल सही, लेकिन शपथपूर्वक कहो कि कल अवश्य आओगे।" विजय ने उत्तर दिया।

ब्रजमोहन को विवश होकर कहना पड़ा—"आऊंगा, आऊंगा।"

दोनों लौट पड़े। परन्तु उस मार्ग से नहीं जिससे आए थे, दूसरे मार्ग से।

तीन गज़ आगे बढ़ते ही सहसा ब्रजमोहन का पैर एक खोपड़ी से टकरा गया।

इसी समय विजय की टार्च ज्वलन्त प्रकाश के साथ उसपर जा पड़ी और उसके मुंह से निकल गया—"डरो नहीं, किसी मृतक की खोपड़ी है। दुःख इसी बात का है कि तुममें विष्णु भगवान की शक्ति नहीं, वरना जिस मृतक की खोपड़ी है, वही सशरीर, सप्राण खड़ा होकर, हाथ जोड़कर कह उठता—क्षमा कीजिएगा, आपके चरणों को चोट लग गई होगी।"

बस विजय का इतना कहना था कि ब्रजमोहन एक चीत्कार के साथ अचेत होकर वहीं गिर पड़ा।

ब्रजमोहन को ऐसा मालूम हो रहा था जैसे सुषमा उसके द्वार पर खड़ी है और भीतर नहीं आ रही है। वह जान तो गया है कि सुषमा ही है और कोई दूसरा नहीं और सुषमा संकोच में डूबी है। पैर आगे कैसे बढ़ाए! वे अप्रसन्न जो बहुत हैं।

ब्रजमोहन प्रतीक्षा करता रहा था। न सुषमा आई, न ब्रजमोहन ने ही यह कहा—'आ जाओ, डरो मत।' न वह पलंग से उठा था, न उसमें यही भावना जगी थी कि वह स्वयं द्वार तक जाए और बांह पकड़कर उसे भीतर ले आए। परिणाम यह हुआ कि सुषमा आंसू पोंछती हुई लौट गई थी।

बात यह थी कि ब्रजमोहन था रूप का लोभी और सुषमा कुछ सांवली थी।

ब्रजमोहन को ऐसा मालूम हुआ, बिलकुल सुषमा है। वैसी ही छोटी-छोटी पतली-पतली अंगुलियां, वैसे ही पतले-पतले होंठ; अधरों की चीरन में पान की रेखाएं, कानों में झुमके और गले में कंठश्री। फिर एक निःश्वास सुनाई पड़ा। फिर एक मुस्कराहट, खुली अपलक दृष्टि, एक स्वर—'ओः तुम ! आज यहां कैसे भूल पड़े।'

ब्रजमोहन सब सुन रहा था। उसमें इतना साहस नहीं था कि एक शब्द भी बोल सकता। यह उसकी प्रथम भार्या थी, जिसको दिवंगत हुए पांच वर्ष हो चुके थे। उसे टाइफाइड हो गया था। मास के अन्तिम दिवस थे और वह सोचता था, पहली तारीख आए, वेतन मिले, तब तो जाऊं !

और सुषमा पूर्व से आने वाली हर गाड़ी की प्रतीक्षा किया करती थी। 'सवेरे साढ़े सात पर पैसेंजर आती है। आते तो अब तक आ न जाते। फिर दो-तीन घण्टे बीते। पार्सल-एक्सप्रेस से चले होंगे तो अब स्टेशन पर आ गए होंगे। नौ-पच्चीस पर गाड़ी छूटती है।' टाइम-पीस घड़ी टिक्-टिक् बोल रही थी और दस बज रहे थे। 'अब तक तो गाड़ी पहला स्टेशन पार कर चुकी होगी। फिर ग्यारह बजे, बारह बजे। हो सकता है गाड़ी लेट हो। तब तो अभी आने की आशा है।'

'अरे भाभी, ज़रा रन्नो को दरवाज़े तो भेजो। मुझे लगता है वे आ गए हैं।'

रन्नो दरवाज़े गई और देखकर लौट आई। आंगन से ही शोर मचा दिया, 'नहीं आए, नहीं आए फूफाजी। बुआ ! फूफाजी नहीं आए।'

सुषमा की आंखों से आंसू बन्द नहीं होते थे। चार बज गए, पांच बज गए—'अब क्या आएंगे ! हो सकता है कल आएं !'

इसी तरह होते-करते कई दिन बीत गए। रोज़ गाड़ियां आती थीं, नित्य आठ, बारह और पांच बजते थे। और बात कल पर टल जाती थी। आज नहीं कल आएंगे। फिर मां का समझाना प्रारम्भ हो जाता, इस तरह रोज़-रोज़ रोया नहीं करते बेटी। नौकरी वाली बात है। कभी छुट्टी मिली, कभी नहीं मिली।'

लेकिन जी ही तो है। इन बातों से कहीं मानता है !

फिर सुषमा सोचने लगी—'लेकिन वे आने ही क्यों लगे ! इस दुनिया में प्यार तो उसको मिलता है जिसके रूप होता है।'

इसी प्रकार पहले तो कुछ दिनों तक सुषमा रोकर अपना जी बहला लेती,

फिर मूर्छित हो-होकर प्रतीक्षा की घड़ियां किसी तरह बिताने लगी ।

अन्त में ब्रजमोहन उस दिन पहुंचा जब सुषमा इस संसार से विदा हो चुकी थी।

वही सुषमा है । कोई दूसरी थोड़ी ही है ।

ब्रजमोहन को स्पष्ट सुनाई पड़ रहा था—'कभी मैं तुम्हारे पास आने से डरती थी और आज तुम मेरे पास आने से डर रहे थे । ऐसी क्या बात थी ?'

लेकिन ब्रजमोहन की वाणी तो खो गई है। वह कहे भी तो क्या कहे ! तब तक सुषमा फिर बोल उठी—'मैं प्यासी मर गई थी। भूल गए वह दिन । मेरे जी में आता है कि मैं अब तुमको छोड़ूं नहीं । साथ-साथ रहूं तुम्हारी छाया बनकर । सुषमा को अपने से दूर रखा था—पर छाया को कैसे दूर करोगे अपने से ? बोलो, उत्तर दो।'

बोलना दूर रहा, ब्रजमोहन तो टस से मस नहीं हो सकता । केवल कान हैं जिनसे सुन-भर सकता है । कोई जो चाहे कह ले । सुनना तो पड़ेगा ही ।

'अब तो अम्मा बहुत खुश रहती होंगी । एक दिन दाल में कहीं नमक ज़्यादा हो गया था, तो चैला उठाकर मेरी पीठी में मार दिया था । वह दाग अभी तक बना हुआ है । देखोगे नहीं ? डर के मारे तब नहीं बतला सकी थी । आज बतला रही हूं । देखो यह है काला-काला, दर्द अभी तक है । मरने पर भी नहीं गया । अब मैं तुमसे नहीं कहूंगी, तो फिर कहूंगी किससे ? कौन सुनेगा मेरी पीड़ा की कहानी ?'

अब ब्रजमोहन से नहीं रहा गया । वह अचेत पड़ा हुआ था । फिर भी उसकी आंखों से आंसू बह रहे थे । 'लेकिन अब तो तुम मुझको भूल गए होगे । हां ठीक भी है । मनुष्य का मन ठहरा । यदि बहक जाता है, तो अपने को भी भूल जाता है !'

अब स्वर बदल रहा था : 'एक बात मैं कहे देती हूं—तुमने मुझे प्यार नहीं दिया और मैं प्यासी रह गई । इसका यह मतलब तो नहीं है कि तुम अकेले मौज उड़ाओ और मैं निरन्तर उपवास ही करती रहूं । मैंने भी मनुष्य का हृदय पाया था । तुम समझते हो प्रतिक्रिया की भावना मेरे मन में नहीं हो सकती? अब मेरा मुंह क्या देख रहे हो ? उत्तरा को बहुत प्यार करते थे न? उसको सीढ़ी से मैंने ही गिराया था । अब तुमको चुनौती है, मुझसे घृणा कर लेना । मैंने उत्तरा को भी अपने में मिला लिया है। उसने मुझे तुम्हारे प्यार की जो कहानियां बताई हैं, उनको सुनकर मेरे मन में ईर्ष्या की आंधियां उठती रहती हैं । फिर एक प्रसन्नता भी होती

है कि जिसको तुम प्राणों से अधिक प्यार करते थे उसीको मैंने तुमसे छीन लिया है। आखिर बदला ले ही लिया न ! अ···र र र र—उत्तरा आ गई, लेकिन उसको मैं तुमसे मिलने न दूंगी। इसीलिए जाती हूं। जाती हूं। कभी-कभी यहां एक फेरा डाल दिया करोगे न ?'

ब्रजमोहन को मालूम हुआ, वह मुस्कराती हुई जा रही है—जा रही है। फिर उसने आंखें खोल दीं।

विजय ने कहा—"बड़े कमज़ोर दिल के हो। क्या हो गया था तुमको ?"

ब्रजमोहन ने उत्तर दिया—"यह मत पूछो !"

सारा खेल नियति का है। उपाध्यायजी अगर उस समय घर पर होते, तो सम्भव था कि खाना ही न खाते। किन्तु वे तो कमल बाबू के यहां उनके चिरंजीव कुमुद की वर्षगांठ के उपलक्ष्य में दावत खाने गए थे।

दावत साधारण न थी। उसमें जगमोहन बाबू आए हैं, जिनके साथ उनकी पत्नी आत्मा और इकलौती पुत्री एला भी है और विजय आने का वचन देकर भी जो नहीं आया, वह अकारण नहीं है। माना कि कारण महत्त्वपूर्ण हो सकता है, पर उसका कोई पूर्वाधार होना चाहिए। बारम्बार उपाध्यायजी के मन में आता—इस प्रसंग में सबसे अधिक लज्जा का विषय यह है कि एला अपने मन में क्या कहेगी ?

उपाध्यायजी ने थाली सामने आते ही नयनतारा से पूछा—"विजय नहीं आया ?"

"हां, भइया ने तो कहा था कि मैं सीधा वहीं पहुंच जाऊंगा।" नयनतारा ने कुछ आशंका के साथ उत्तर दिया।

सावित्री बोली—"उसने मुझसे भी यही कहा था।"

कमल बाबू बोले—कहिए तो थोड़ा और इंतज़ार कर लूं ?"

चिन्ता के साथ आत्मा बोल उठी—जब उसने आने के लिए कहा है, तो उसे आना तो चाहिए।"

उपाध्यायजी ने कोई उत्तर नहीं दिया। हाथ का जो कौर अभी रुका हुआ था उसे मुंह के अन्दर डालते हुए उनके मुंह से निकल गया—"केवल आने की बात ही नहीं है। बात असल में है मान जाने की माई लार्ड।"

जिस समय उपाध्यायजी ने यह बात कही, एला उनकी ओर एक बार दृष्टि डालकर रह गई।

एक आशंका के साथ सावित्री ने उत्तर दिया—"सचमुच जीजी, यही बात है···और मुझे कहना ही पड़ता है कि यही बात थोड़ी कठिन है।"

नयनतारा ने इतने में कह दिया—"मगर अब तो नौ बीस हो रहे हैं मामा। भइया को याद न रहा हो, ऐसा तो नहीं हो सकता।"

सावित्री ने भी कह दिया—"हां, उसके काम में देर हो सकती है, अन्धेर नहीं। वह अपने वचन का पक्का है। उसकी 'हां' का मतलब 'हां' होता है, 'न' नहीं।"

विवश होकर उन्हें भोजन करना पड़ा। पर यह कैसी विडंबना है ! जो पदार्थ संतोष और तृप्ति देने में समर्थ थे, वे भी इस समय उनको फीके और रूखे जान पड़ते थे। वे मन ही मन सोच रहे थे—'विजय से एला का परिचय कराने के लिए आज का दिन रखना ठीक नहीं हुआ।'

कभी-कभी कमल बाबू सोचने लगते—'उपाध्यायजी का सारा अनुराग ही समाप्त हो गया जान पड़ता है। आदमी की जाति कितनी स्वार्थसंलग्न होती है! अधिक न सही, एक बार तो कहा होता कि परवल की कलौंजी बहुत बढ़िया बनी है।'

उपाध्यायजी के मन में कभी-कभी एक झुंझलाहट भी आती थी—'आखिर इस विजय को हो क्या गया माई लार्ड ! वह समय पर आया क्यों नहीं ? ऐसा तो नहीं हुआ कि वह सड़क पार कर करते कहीं किसीसे टकरा गया हो? आजकल ये ट्रक वाले अन्धे होकर 'ड्राइव' करते हैं, और मान लो, रिक्शे वाला हो या टांगे वाला, धपसट में आकर अगर कहीं कुचल भी जाए, तो इन ड्राइवर को दण्ड भी क्या मिलता है माई लार्ड! यह साबित करना बड़ा कठिन है कि उसने जान-बूझकर कुचल दिया है और अगर साबित हो भी गया, तो साल-छः महीने की सज़ा भुगतने में क्या लगता है माई लार्ड ! किन्तु ऐसा अवसर भी कहां आता है ? सौ दो सौ रुपये जुर्माना दे दिया—चलो छुट्टी हुई। आदमी के जीवन का मूल्य कानून की दृष्टि में तुच्छ है माई लार्ड !'

शारदा परवल की कलौंजी परस रही थी। अंचल को कमर में खोंसती हुई वह जो ठिठुक गई तो कमल बाबू बोले—"एक और रख दो। क्या कहूं, सारो

योजना विफल कर दी इस लड़के ने।" और जगमोहन बाबू ने कटहल का बीजा छीलते हुए कह दिया—"मगर इसमें चिन्ता की क्या बात है? फिर अवसर आएगा, फिर देखेंगे।"

इस विषय को सबसे अधिक गोपनीय रखा गया था एला से। इस अवसर पर जगमोहन बाबू ने जो यह बात कह दी तो एला एकाएक गम्भीर हो उठी।

नयनतारा बोली—मामी, रशीदा इस समय दिल्ली एक्सप्रेस से जा रही होगी।"

उसका इतना कहना था कि आत्मा ने शारदा की ओर देखते हुए कह दिया—"यह रशीदा कौन है दीदी?"

उपाध्यायजी कुछ गम्भीर दृष्टि से सावित्री की ओर देखने लगे। इस समय यह भी उनके मन में आया—"कहीं वह भी उसी ट्रेन से···!"

शारदा बोल उठी—मुझे नहीं मालूम।"

तभी सावित्री ने कह दिया—"हमारे पड़ोस में एक डॉक्टर साहब रहते हैं। उनके पूर्वज थे तो पहले मुसलमान पर फिर ईसाई हो गए। रशीदा गोम्स उन्हींकी लड़की है। इस वर्ष उसने बी० ए० किया है। बचपन में मेरे घर आती-जाती रहती थी।"

एला विचार में पड़ गई—एक तो क्रिश्चियन, दूसरे बी० ए०, फिर पड़ोस में रहना।"

उपाध्यायजी का भोजन अब समाप्त हो गया। वे हाथ में गिलास लेकर पानी पीने लगे। अब सभी लोग अपना-अपना भोजन समाप्त कर चुके थे, केवल कमल बाबू अभी जुटे हुए थे। पुरानी आदत थी कि सबके अन्त में वे एक कचौड़ी अवश्य खाते थे। इस समय कुमुद जो कुछ हंसता हुआ-सा एला के कान में फुसफुसाने लगा तो एला हंस पड़ी। कुमुद कह रहा था—"दीदी, बाबू के दांत के प्लेट में धनिया या मिर्च का बीज कहीं उसी तरह आ गया है जैसे रास्ते में सामने ही इटखुर्रा आ जाए। जीभ के द्वारा उसीको इधर-उधर किनारे पर फेंकने की चेष्टा कर रहे हैं।"

मुस्कराती हुई एला ने मन्द स्वर में पूछा—"पर यह तुमने जान कैसे लिया?"

कुमुद ने कहा—"बाबू स्वयं बतला चुके हैं। इसीलिए वे पान-इलायची कुछ

नहीं लेते ।···एऽऽऽ ये लो, गाड़ी रुक गई। दांत उन्हें निकालने ही पड़े। मैं कह रहा था न ?"

इतने में एला बोल उठी—"क्या हुआ मौसिया ?"

उसके इस प्रश्न पर पहले शारदा हंस पड़ी, फिर आत्मा और जगमोहन बाबू।

एला ने निकट आकर कह दिया—देखूं ज़रा।"

तब कमल बाबू बोले—"मगर ये दांत खाने के हैं दिखाने के नहीं।" और कथन के साथ झट से उन्हें पुनः मुंह में खोंस लिया।

जगमोहन ने घड़ी पर दृष्टि डालते हुए कह दिया—"दस बज गए।"

तब सभी लोगों ने कुमुद को पास बुलाकर उसे उपहार दिए और फिर क्रम-क्रम से सिर पर हाथ रखकर एकसाथ आशीर्वाद देते चल दिए।

एक दिन विजय अपनी नई मां सत्यवती के पास जो गया तो वे प्रसन्नता से फूली न समाईं। उस समय उसके पिता कीर्तिदेव अपने कार्यालय में थे। सत्यवती जो फोन से उन्हें सूचना देने लगी, तो विजय ने जान लिया कि वे और किसीको नहीं बाबू को ही मेरे आने की सूचना दे रही हैं। तब उसने कह दिया—"यह तुम क्या कर रही हो अम्मा ? जब उनकी दृष्टि में मेरे अस्तित्व का कोई मूल्य नहीं है तब यह सब बेकार है।"

सत्यवती ने उत्तर दिया—"ऐसा मत कहो बेटा। तुम्हें मालूम नहीं, वे तुम्हारे लिए मन ही मन कितने दुःखी रहा करते हैं।"

विजय को विश्वास नहीं हुआ, उसने मुस्कराते हुए कह दिया—"स्वामी विवेकानन्द का कथन है कि दुःख का कारण अज्ञान है।"

"हो सकता है, बेटा, तुम्हारी बात सही हो; किन्तु अपने पिता को अज्ञानी बनाकर क्या तुम्हें सुख मिलता है ? अच्छा लगता है ?"

विजय विचार में पड़ गया।

सत्यवती ने उसे बड़े प्यार के साथ रखा। बढ़िया-बढ़िया चीज़ें खिलाईं, उसके लिए दो सूट भी सिलवाने को दिए, और फिर यह भी कह दिया—"जाड़े में आओगे तो, गर्म सूट भी बनवा दूंगी।"

उस दिन कीर्ति बाबू कुछ देर से लौटे। विजय उस समय घूमने निकल गया

था। लौटते समय काफी देर हो गई थी। सत्यवती ने बतलाया कि बड़ी देर तक तुम्हारी प्रतीक्षा करते रहे। तुम्हारा हाल-चाल पूछते रहे। फिर दीदी के विषय में भी पूछा। अभी-अभी खाकर सो गए हैं।

विजय को आश्चर्य हुआ। उसके मुंह से निकल गया—"सो गए हैं ?"

सत्यवती ने उत्तर दिया—"हां। इस समय ज़रा जल्दी सो जाते हैं। जाओ, देख लो। मिल आओ। शायद जग ही रहे हों।"

विजय मन में सोच रहा था, वर्ष दो वर्ष में कहीं एक-आध बार आना होता है। यह जानकर कि मैं आया हूं, मेरी अनुपस्थिति में खाना खा लेते हैं और इसके बाद सो भी जाते हैं। जिनको इस परिस्थिति में नींद आ जाती है वे ही मेरे पिता हैं। फिर भी मां के कहने पर वह उनके पास पहुंचा।

द्वार पर चिक पड़ी थी। बायें हाथ से उसे हटाकर अन्दर पैर रख दिया। देखा, फर्श पर नीली दरी बिछी है। बीच में दो पलंग पड़े हैं। दोनों ओर मसहरी लगी है। 'सीलिंग फैन' मन्द गति से चल रहा है। सामने नीला 'बल्ब' जल रहा है। पलंगों के बीच में एक छोटी टेबल है जिसमें सुगन्धित पुष्पों का गुच्छा एक शीशे के पात्र में रखा हुआ है। चारों ओर ऊंचे स्टूलों पर कलात्मक मूर्तियां रखी हुई हैं। चित्र केवल एक है, एक प्रसिद्ध सौराष्ट्रीय कलाकार का। चित्र का भाव है राधा का वंशीवादन। उत्तर और दक्षिण सुलगती हुई धूपबत्तियां सौरभ बिखेर रही थीं। जिस पलंग पर वे लेटे हुए थे, उसके दाहिनी ओर एक बड़ी अलमारी है जिसका एक कपाट मनुष्याकार दर्पण से विजड़ित है। अलमारी के कपाट बन्द थे किन्तु उसके ताले में एक गुच्छा लटक रहा था। पलंग के नीचे श्वेत नागरा जूतियां पड़ी हुई थीं, जिनमें अन्तर एक फुट से कम न था। एक जूती कुछ तिरछी रखी हुई थी। फूलों की गुच्छों वाली टेबल पर कपड़े की जिल्द वाली कोई पुस्तक पेट के बल खुली पड़ी थी। एक अलमारी उत्तर की ओर भी थी, आकार में उतनी ही बड़ी। उसके ऊपर दैनिक और मासिक पत्र क्रमहीन दशा में रखे हुए थे। कमरे की दीवारों पर छोटे-छोटे छींटों की 'पेंटिंग' थी, स्लेटी रंग की। सब मिलाकर वह कमरा वास्तव में एक गौरव की छाप डालने में समर्थ था।

विजय के आने की आहट पाकर कीर्ति बाबू ने पहले आंखें खोलीं और फिर बन्द कर लीं। विजय को यह सब कुछ नहीं मालूम हुआ। मालूम होता तो यही सम्भव था कि वह लौट जाता। क्षण-भर वह रुका रहा, फिर आगे बढ़कर धीरे से

बोला—"बाबू, सो गए क्या ?"

कीर्ति बाबू जग रहे। कुछ अचकचाकर बोले—"कौन ? विजय ?"

विजय ने उत्तर दिया—"हां बाबू।"

उत्तर के साथ विजय ने आगे बढ़कर पिता के चरण छू लिए।

कीर्ति बाबू ने कहा—"आओ, बैठो।" कथन के साथ उन्होंने पैर समेट लिए। विजय उसी पलंग पर पैताने बैठ गया।

कीर्ति बाबू—"मेरा पत्र मिला होगा ?"

"हां मिला था।"

"अपनी मां को भी सुनाया होगा तुमने ?"

"सुनाया था।"

"पत्र सुनने के बाद कुछ कहा था उसने ?"

"कहा था कि अब इन बातों में क्या दम है ! तीन-चौथाई आयु कट ही गई। एक-चौथाई जो बची है, वह भी कट ही जाएगी किसी तरह।"

"तो वह यहां आने को तत्पर नहीं है !"

"हां, बात तो ऐसी ही है बाबू।"

"और तुम्हारे मामा का क्या कहना है ?"

"वे इस विषय में तटस्थ रहना चाहते हैं।"

"ठीक। अच्छा, और तुम्हारे विवाह के सम्बन्ध में वह जो बात चल रही थी ?"

"मुझे कुछ नहीं मालूम।"

"हूं, तुमको क्यों मालूम होने लगी ! लेकिन मुझे मालूम है, तुम तो शायद किसी क्रिश्चियन लड़की से विवाह करना चाहते होगे।"

विजय हक्का-बक्का-सा रह गया।

अभी एक भी क्षण नहीं बीता था कि कीर्ति बाबू ने कह दिया—"मुझे सब मालूम है।" और कथन के साथ वे उठ बैठे, फिर पलंग के नीचे उतरकर बिजली का एक बटन दबाकर दूसरा उचका दिया। अब कमरे-भर में दूध के वर्ण का ज्वलन्त प्रकाश फैल गया, फिर उन्होंने अलमारी खोलकर एक फोटोग्राफ निकाला और कह दिया—"इस 'ग्रुप' में तुम्हारे बाद जो लड़का बैठा है, वह उस लड़की का भाई है, और उसके बाद वह लड़की स्वयं है।"

विजय ने अब भी कुछ नहीं कहा। लेकिन कीर्ति बाबू बोले—"मुझे यह भी

मालूम है कि यह लड़की रूप और गुण में तुम्हारे सर्वथा योग्य है, लेकिन नियति का विधान यह है कि पहले यह लड़की अलीगढ़ भेजी गई और अब समाचार मिला है कि पाकिस्तान पहुंचने पर तीसरे ही दिन एक आर्मी आफीसर के साथ उसका विवाह हो गया है।"

विजय को ऐसा प्रतीत हुआ जैसे उसे सांप ने डस लिया हो। बिना कोई उत्तर दिए उसने जो उठने की चेष्टा की, कीर्ति बाबू ने कह दिया—"बैठो, बैठो, मुझे अभी तुमसे बहुत बातें करनी हैं।"

५

जब अपनी प्रतिक्रियाओं को विजय किसी प्रकार व्यक्त न कर पाता, तो उसके मन का क्षोभ और भी बढ़ जाता। जीवन के प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष नाना स्रोतों से बहती हुई युग की पीड़ा जब असह्य हो उठती, तब कुछ न कर सकने की स्थिति में, उसका अन्तर्द्वन्द्व और भी प्रखर हो उठता। सम्पूर्ण समष्टि उसकी व्यष्टि पर केन्द्रित होकर केवल एक ही प्रश्न करती —सिद्धान्त या सिद्धि ?

तब एक से अनेक प्रश्न उठने लगते। अवसरवादिता, व्यावहारिकता एवं स्वार्थ की पृष्ठभूमि में पालित-पोषित सिद्धि क्या सामूहिक सिद्धि का प्रतिनिधित्व कर सकती है ? क्या वह जीवन का शाश्वत आधार बन सकती है ? क्या वह युग बदल सकती है; समाज में नूतन क्रान्ति कर सकती है ? क्या वह सिद्धि आत्मोत्सर्ग का कारण बन सकती है?

और अन्त में जब उसके मुखमण्डल पर व्याप्त विवर्णता का ज्वार धीरे-धीरे शमन होने लगता, जान पड़ता, मानो उसे कोई ऐसा उत्तर मिल गया है जिससे उसकी सारी मनोव्यथा शान्त हो गई है। उसमें एक ऐसी दृढ़ता आ गई है जो अणु-परमाणु में व्याप्त होकर चतुर्दिक् यह घोषित कर रही है कि जीवन-पर्यन्त सफलता न मिले, बला से, लेकिन पद और अधिकार-लोलुपता के नाम पर वह अपने सिद्धान्तों की हत्या कभी न होने देगा।

विजय के ऐसे मित्र दो ही एक थे, जिनके समक्ष वह अपने जीवन के नाना प्रयोगों को संयोजित आत्मीयता के साथ व्यक्त कर सकता। जब उसकी ऐसी मन:स्थिति होती तो वह अक्सर ब्रजमोहन के यहां चला जाता।

ब्रजमोहन उन दिनों आयकर-विभाग की एक शाखा का प्रधान लिपिक था। शरीर इकहरा और वर्ण उज्ज्वल। नित्य सवा नौ बजे पैंट की जेब में हाथ डाले हुए वह मकान से बाहर निकलकर, बायें कोने पर स्थित पान की दूकान पर जा खड़ा होता। उस दिन का दैनिक पत्र उसे वहीं देखने को मिल जाता था। जितनी देर में पान वाला उसके लिए पान लगाता, बस उतनी ही देर में वह उस समाचारपत्र के मुख्य स्तम्भ और समाचार सरसरी दृष्टि से देख लिया करता था। धीरे-धीरे यह अभ्यास इतना बढ़ गया था कि कार्यालय के साथी लोग संसार की राजनीति की जानकारी के विषय में उसको एक अधिकारी व्यक्ति मानने लगे थे।

ब्रजमोहन बाबू के माता-पिता, भाई-बहन सब कोई थे, किन्तु रहते वे कानपुर नगर में अकेले थे। उनकी पहली पत्नी का स्वर्गवास तो वर्ष-भर के अन्दर ही टाइफाइड से हो गया था। दूसरी पत्नी भी मुश्किल से छ: मास उनके साथ रह पाई थी। पेट में बच्चा आ चुका था। मकान की सीढ़ी कुछ ऐसी चिकनी हो गई थी कि पैर रखते ही फिसल गया। फलत: एक बार जो गिरी, तो फिर लुढ़कती ही चली गई। चोट इतनी अधिक आ गई कि पहले गर्भपात हो गया फिर सन्निपात; और दूसरे दिन प्रात:काल होते-होते वह भी सदा के लिए इस संसार से विदा हो गई।

इस प्रकार उन दिनों ब्रजमोहन विधुर-जीवन व्यतीत कर रहा था। कुछ दिन तो दु:ख-शोक के वातावरण में व्यतीत हुए, फिर धीरे-धीरे साथ उठने-बैठने वाले लोग विवाह की चर्चा चलाने लगे। ऐसे अवसरों पर ब्रजमोहन बाबू अन्यमनस्क हो उठता। कभी कुछ जवाब ही न देता। कण्ठ के उतार-चढ़ाव से लगता जैसे भीतर ही भीतर कुछ पी रहा हो।

प्रात:काल उठते ही ब्रजमोहन अपने हृदय में एक आघात का अनुभव करता। एकाकी जीवन का हर क्षण एक इसी स्मृति के रूप में समक्ष आ जाता कि मेरी दुनिया उजड़ गई है। उत्तरा का स्वप्न ही केवल शेष है, जो फिर कभी साकार न होगा।

जिस मकान के ऊपरी भाग में वह रहता था, उसके ठीक नीचे एक जलपान-गृह और होटल था। प्रातःकाल उस 'रंजना' का ब्वाय चाय-टोस्ट दे जाता और नौ बजते-बजते भोजन-सामग्री का थाल रख जाता। उसके बाद फिर वही कार्यालय और फिर वही कार्य। दुपहर को लंच के समय जब चाय पीने बैठता, तो साथियों का मनोविनोद प्रारम्भ हो जाता—"अाच्छा; ब्रजमोहन बाबू हैं ! कहो यार, कहीं से कोई पतंग कटकर तुम्हारी सूनी अटरिया पर आई या नहीं ?"

ब्रजमोहन जैसे कटकर रह जाता। उसके होंठों पर एक ऐसी मुस्कराहट झलक उठती जिसमें मिठास के स्थान पर एक मृदुल निर्वचनीयता होती।

'सुन रही हो उत्तरा ! यह वही व्यक्ति है जो तुम्हारे हाथ की बनाई मिठाइयों की निरन्तर प्रशंसा किया करता था। आज तुम नहीं हो, तुम्हारा वह संसार भी नहीं रहा इसके लिए ?'

कार्यालय के साथियों में कुछ लोग ब्रजमोहन की मनःस्थिति से परिचित भी थे। एक थे मुरलीधर। कभी-कभी सहानुभूति प्रकट करते हुए कह देते—"देखो भाई, और सब कुछ कहो, पर ऐसी कोई बात मत कहो जिससे बिरजू बाबू के मन को दुःख पहुंचे। अभी ताज़ा घाव है। भरते-भरते भरेगा।"

एक थे रजनीकांत। उनको महापुरुषों के आदर्श वाक्य रटे हुए रहते। एक दिन कहीं उन्होंने कह दिया—"इसी अवसर के लिए लांगफेलो ने कहा हैं—दिवा-स्वप्न में बैठ और उन लहरों के बदलते हुए रंग को देख, जो मन के अलस किनारों पर आ-आकर टकराती हैं।"

मुरली बाबू बोल उठे—"वाह् रजनी, बेटा, चिड़िया बड़ी दूर की लाते हो।"

इतने में कहीं सुदामाचरण बोल उठे—"आप लोगों को शायद यह बात नहीं मालूम कि रजनी बाबू का घोंसला अभी नया है।"

इसपर सब लोग एकसाथ हंस पड़े।

इस प्रकार कार्यालय में ब्रजमोहन बाबू की तबियत तो किसी तरह बहल जाती थी, पर मकान का वातावरण सदा एक सूनापन लिए रहता। कुछ अजीब-सी हालत थी; न मकान में रहते बनता, न उसे छोड़ते बनता।

उस दिन जब बोझिल मन, उदास आकृति लिए विजय उसके यहां आया तो ब्रजमोहन भी उसे खोया-खोया-सा लगा। पीड़ित मन को परपीड़ा का परिचय तत्काल मिल जाता है, जब उसमें सहानुभूति उतनी ही प्रबल होती है।

अवसाद से थकी वाणी में विजय बोला—"जिन लोगों के प्रसन्न चेहरों को देखकर थोड़ी देर के लिए मैं जीने की घड़ियां निकाल लेता हूं—जब उनपर भी विषाद की खल रेखाओं को कौतुक करते देखता हूं, तो मर जाने की सी स्थिति में हो जाता हूं। कभी-कभी तो यह दाह इस सीमा तक पहुंच जाता है कि सोचता हूं—संसार के समस्त दुःखियों को मार डालूं, ताकि उन्हें देखकर सुखी लोगों की अन्तश्चेतना को अपराधी अनुभव करने का अवसर ही न मिले। तुम्हारे मुख पर भी आज कोई पीड़ा उभरी-सी जान पड़ती है ?"

"पीड़ा तो जीवन में शाश्वत होती है, विजय भाई ! प्रश्न केवल उन अवसरों और संयोगों का है जो उसे नाना रूपों में उभाड़ते रहते हैं। आज कार्यालय में कुछ सहयोगियों ने प्रहसन के रूप में जो दो-चार छींटे मार दिए, तो एकाएक धुंधली पड़ती स्मृतियां धुलकर निखर उठीं।"

सामने के कपाट की ओर स्थिर ब्रजमोहन की आंखों के सामने एक बार फिर एक स्वप्नचित्र स्पष्ट हो उठा—'इसी कपाट पर हाथ रखकर चुपचाप खड़ी हुई उत्तरा कभी-कभी मेरी पतलून और टाइयां निरखा करती थी !'

क्षण-भर बाद ब्रजमोहन स्नानागार के निकट जा खड़ा होता। तुरन्त उसे ध्यान आ जाता—'उत्तरा यहीं बैठकर दांतों में ब्रुश करती—फिर स्नान करते समय अपने गुलाबी चरणों की एड़ियां इसी शिला पर घिसा करती थी। उस समय वह कभी-कभी गुनगुनाने भी लगती थी—म्हाने चाकर राखो जी ! चाकर रहसू, बाग लगासूं, नित उठ दरसन पासूं—' और इतने में जेब से रूमाल निकलकर ब्रजमोहन की आंखों से लग जाता।

प्रातःकाल उठते ही ब्रजमोहन अपने हृदय में एक आघात का अनुभव करता—'ओह ! उत्तरा अब इस संसार में नहीं है। मुझे वह अकेला छोड़ गई है।'

फिर वही दैनिक जीवन-व्यापार आरम्भ हो जाता।

इन्हीं दिनों की बात है। एक दिन आगए ब्रजमोहन के बड़े भाई, शिवमोहन। रात का समय था। भोजन से निवृत्ति पाकर जब दोनों एक ही कमरे में लेटे रहे, तो शिवमोहन ने विवाह की चर्चा छेड़ दी। बोले—"देखो बिरजू, जो कुछ हुआ सो हुआ। पर अब तो तुमको ब्याह करना ही पड़ेगा। मैंने सभी बातों की जानकारी प्राप्त कर ली है। लड़की परम सुन्दरी और ग्रेजुएट है। सब तरह से तुम्हारे अनुरूप। और हां, अच्छी याद आई। संगीतकला में भी बहुत दक्ष है। आकाशवाणी

से उसको गायन के अवसर मिलते रहते हैं। शायद तुमने उसका नाम भी सुना हो, राजेश्वरी ? सवेरे मैं चला जाऊंगा। तब तक तुम इस प्रस्ताव पर विचार कर लेना। अच्छा !"

ब्रजमोहन ने उस समय बड़े भाई के इस कथन का कोई उत्तर नहीं दिया सिवाय इसके कि उसने करवट बदल ली।

दूसरे दिन जब शिवमोहन चलने लगे तो प्लेटफार्म पर पहुंचते ही उन्होंने फिर वही प्रश्न कर दिया—"हां बिरजू, तो मैं बाबू से क्या कह दूं ?"

एकाएक ब्रजमोहन गम्भीर हो गया। बोला—"इतनी जल्दी मैं कुछ निर्णय नहीं कर सका भैया। दस-पांच दिन में जैसा कुछ तै करूंगा, पत्र में लिख दूंगा।"

ब्रजमोहन ने बड़े भाई के पैर छुए। शिवमोहन ने आशीर्वाद देते हुए कह दिया—"मगर दस-पांच दिन में पत्र ज़रूर लिख देना। लग्न के दिन हैं। लड़की वालों को अधिक समय तक लटकाना ठीक नहीं।"

ब्रजमोहन चिन्ता में पड़ गया। उदासीनता के साथ उसने इतना ही कह दिया—"अच्छा !"

गार्ड व्हिसिल देता हुआ हरी झंडी दिखा रहा था। फिर एंजिन ने सीटी दी और क्षण-भर बाद गाड़ी चल दी।

अब ब्रजमोहन जब स्टेशन के बाहर चलने लगा तो उसे फिर उत्तरा का ध्यान हो आया, 'भाई को विदा करते समय भी वह उदास नहीं हुई थी। इसी तरह मैं उस दिन भी उसे भेजने आया था। घर लौटने पर भी वह प्रसन्न दिखलाई पड़ी थी। मैंने जब कहा कि मैं एक दिन भी तुम्हारे बिना नहीं रह सकता, तब वह हंसती-हंसती कहने लगी थी—अच्छा तो मुझको भी न लगता। सदा यही सोचा करती—कौन जाने खाना क्या बनाया हो ! तबियत भरी हो, न भरी हो ! मैंने कह दिया—बस केवल खाने की बात को लेकर स्मरण आता ! जीवन में अगणित प्रसंग होते हैं। उनमें से एक भोजन को ही तुम सर्वाधिक महत्त्व देती हो ! इसपर वह हंस पड़ी थी। आः, वह ऐसी हंसी थी, जिसे मैं आज भी भूल नहीं पाया हूं।...'

ब्रजमोहन इसी स्वप्न-स्मृति में आंसू पोंछने लगा।

विजय अक्सर ब्रजमोहन के यहां घंटों पड़ा रहता, ब्रजमोहन को यह पता ही न हो पाता कि वह चुपचाप पड़ा क्यों है ? घंटे दो घंटे बाद जब वह चाय या नाश्ता ग्रहण करने बैठता, तब दो-चार दिन की बढ़ी हुई दाढ़ी वाले मुंह में बिस्कुट या पकौड़ी का टुकड़ा डालते हुए मुस्करा उठता और साथ में बस इतना कह देता—"आज मैंने खाना नहीं खाया।"

ऐसे अवसर पर ब्रजमोहन अगर थोड़े आश्चर्य के साथ यह पूछ बैठता, "क्यों ?" तो विजय कोई न कोई नया और विचित्र कारण बतला देता।

होते-करते ब्रजमोहन को उसके सम्बन्ध में इस बात का पूर्ण अनुभव हो गया था कि वह भावुक व्यक्ति है। इच्छा के प्रतिकूल कोई छोटी बात भी सहन नहीं करता। न तो यह भविष्य की चिन्ता करता है, न उसके प्रलोभन में पड़कर अपनी अन्तश्चेतना का हनन।

उस दिन कुछ ऐसा हुआ कि ब्रजमोहन ने पूछा—'आज खाना खा आए हो कि नहीं, यह बतलाओ पहले।"

विजय चाय का पहला घूंट कण्ठगत करते हुए पहले मुस्करा उठा, फिर बोला—"जानकर क्या करोगे ?"

ब्रजमोहन विचार में पड़ गया। सोचने लगा—'जान पड़ता है आज भी इस मूर्ख ने उपवास ही किया है।'

तब उसने कह दिया—"क्यों, आज फिर किसीसे झगड़ा हो गया ?"

विजय ने उत्तर दिया—"बस, अब आज के बाद जीवन में कभी उसकी शक्ल न देखूंगा।"

"क्यों, क्यों ! आखिर बात क्या हो गई !" ब्रजमोहन ने पूछा। पर उसी समय उसे छींक आई। विजय के हाथ में प्याला था। छींक के कारण हाथ से गिरते-गिरते बचा। अतएव सम्हलकर उसने कह दिया—"बात केवल सिद्धान्त की है। उस प्रिंसिपल के पास बी० ए० परीक्षा की उत्तर-पुस्तकें जांच के लिए आई हैं। मुझसे बोला, 'खाली बैठे हो, मेरी उत्तर-पुस्तकें ही जांच दो। अंक-पत्र भेजने का समय निकट आ गया है।'—फिर बेशर्म की तरह दांत निकालता हुआ कहने लगा, 'क्या बताऊं, कुछ ऐसी मुसीबत है मेरे साथ कि प्रतिवर्ष इस काम के लिए मुझे किसी न किसी का मुंह ताकना पड़ता है।'

"मैंने कहा, 'यह मुझसे न होगा। परीक्षक तुम हो, पारिश्रमिक तुम्हें मिलेगा।

इसलिए उन्हें जांचना भी तुम्हींको चाहिए। यह सरासर बेईमानी है कि रकम तो तुम ऐंठो—और बेगार दूसरों से लो ।' "

विजय कथन के क्षण-भर बाद रुका, फिर बायें हाथ की अंगुलियां चटकाता हुआ बोला—"बस, इसी बात पर तू-तू मैं-मैं हो गई। उसने कहा, 'इन्हीं अवगुणों के कारण तुम्हें कहीं नौकरी नहीं मिलती और इसी कारण तुम जीवन-भर असफल रहोगे।' अन्त में उसने यहां तक कह डाला कि अगर मुझे पहले से यह मालूम होता कि तुम इतने अव्यावहारिक और अकर्मण्य निकलोगे, तो अपने मकान में शरण देना तो दूर, कमरे के भीतर पैर तक तो रखने देता नहीं।'

" मैंने कहा, 'मैं संसार की उस अभागी जाति का व्यक्ति हूं जो सफलता के नाम पर न कभी ईमान छोड़ती है और न कभी किसीके साथ विश्वासघात करती है। मैं जानता हूं कि तुम्हें दुर्बुद्धि का बड़ा अभिमान है। पर तुम धोखेबाज़ और बेईमान हो। मुझे अपने स्वाभिमान की हत्या कर तुम्हारे यहां टिकने की आवश्यकता ही क्या थी ? मैं तुम्हारी प्रार्थना पर यहां आया था; तुम्हारी बीवी बीमार थी और तुम अकेले थे। जब ठहर जाने के लिए तुम मेरे सामने गिड़गिड़ाए, तब मैंने केवल मानवता का ध्यान रखकर अपनी सेवाएं अर्पित कर दीं। और अब, जब तुम्हारा काम निकल गया, तब तुम इस रूप में अपनी कृतघ्नता का परिचय दे रहे हो ! तुम मुझसे वह काम कराना चाहते हो जो मेरे सिद्धान्त के प्रतिकूल ही नहीं, देश के होनहार नवयुवकों के प्रति जघन्य अपराध भी है। मेरा बस चले, तो मैं ऐसे भ्रष्टाचारी शिक्षकों को गोली से उड़वा दूं।' "

मुस्कराते-मुस्कराते ब्रजमोहन ने कह दिया—"बात तो तुमने बड़ी कड़ी कह दी। इस बात का भी ध्यान नहीं रखा कि वह तुम्हारा मित्र है। खैर···हां, फिर उसने क्या कहा ?"

"कहा क्या !" विजय गरजकर बोला—' "आप चले जाइए यहां से। इसी दम, इसी वक्त। जब आप तमीज़ से बात नहीं कर सकते, तो मेरे साथ रह भी नहीं सकते।' "

"बात तो उसने ठीक कही थी।" ब्रजमोहन बोला।

"पत्थर ठीक कही थी ! जानते हो, मैंने क्या उत्तर दिया ? मैंने कहा—'हां, मैं बईमान लोगों के साथ बात करने की तमीज़ नहीं रखता। जब मैं ऐसे पतित लोगों की शकल देखता हूं तभी मेरी वाणी का संतुलन नष्ट हो जाता है। बस,

यही मेरी कमज़ोरी है।' "

ब्रजमोहन हंसने लगा। बोला—"खाना बनवाने में तो देर होगी। अच्छा, तुम मेरे भाग की ये सब पकौड़ियां खा लो। तब तक के लिए कुछ आधार हो जाएगा। पर यह कमज़ोरी वाली बात तुमने खूब कही। इस बात को तो उसे एक मनोवैज्ञानिक तथ्य के रूप में लेना चाहिए था।"

"कौन खयाल करता है इन बातों का !" विजय इस तरह बोलने लगा, जैसे कुछ हुआ ही न हो। ब्रजमोहन ने कहा—"हां, बात तो कुछ ऐसी ही है वास्तव में।"

क्षण-भर बाद फिर विजय स्वतः अपना समाधान-सा करने लगा—"बात यह है कि जब दो व्यक्तियों में एक बार झगड़ा उत्पन्न हो जाता है, सत्य और सुहावनी बातें भी क्रोधाग्नि में स्वाहा हो जाती हैं।"

ब्रजमोहन ने चाय का प्याला समाप्त करते हुए कह दिया—"चलो, यह अच्छा हुआ कि तुम उनके यहां से चले आए। किसी स्वाभिमानी व्यक्ति को ऐसे व्यक्ति के यहां नहीं जाना चाहिए जो इस सीमा तक स्वार्थी हो !"

विजय के आगे की पकौड़ियां अभी समाप्त भी न हुई थीं कि वह तुरन्त उठ खड़ा हुआ। बोला—"एक आवश्यक काम याद आ गया। अभी आता हूं, एक आध घण्टे में !"

सुनकर ब्रजमोहन हक्का-बक्का रह गया। फिर रात को विजय जब सोते समय आया तो बहुत आग्रह करके ब्रजमोहन ने पूछा—"क्या बात थी ? कहां गए थे उस समय ?"

विजय ने हंसते-हंसते कह दिया—"कुछ नहीं, योंही, प्रिंसिपल साहब के एक नौकर कालियादीन के झोंपड़े में, उसकी घरवाली के बच्चा होने वाला था। उसने मुझसे पहले से कह रखा था—'उस वक्त मेरी मदद करनी होगी बाबूजी।' वह मुझे भी बड़ा आदमी समझता है। उसीके घर कुछ रुपये पहुंचाने थे।"

"पहुंचा दिए ?" ब्रजमोहन ने पूछा।

विजय ने उत्तर दिया—"हां, थोड़ी रद्दी इकट्ठी हो गई थी दैनिक पत्रों की। उसीको बेचकर जो आठ रुपये सात आने मिले, वही दे आया हूं। यद्यपि उसके जीने का भरोसा नहीं है। रुपये गुड़ तथा मसाले में न लगकर उसके कफन के ही काम आएंगे।"

और ब्रजमोहन ने लक्ष्य किया—विजय का कण्ठ भर आया है !

६

पण्डित बिहारीलाल पुरानी पीढ़ी के व्यक्ति थे । अवस्था यद्यपि पचास पार कर गई थी, किन्तु काठी उत्तम थी और केश भी बहुत कुछ काले बने हुए थे । वर्ण गेहुंआ, नाक लम्बी और आंखें प्रभावशाली थीं । जब गम्भीर हो जाते, तो मस्तक पर तीन रेखाएं बन जातीं । जब हंसने लगते तो मुंह में भरी हुई तम्बाकू का एक-आध बूंद टपक जाता और बायें कन्धे पर पड़े हुए गमछे का उपयोग मुंह पोंछने के लिए अनिवार्य हो उठता । आगे के दांत और दायीं ओर की दाढ़ गिर गई थी । खाना खाने में तो कोई कष्ट न होता था, किन्तु इतना वे अनुभव करने लगे थे कि यमराज के घर से पहला सूचना-पत्र तो मिल ही गया है ।

बिहारी पण्डित अधिक पढ़े-लिखे न थे, यद्यपि बचपन में लघु सिद्धान्तकौमुदी 'भ्वादि' तक पढ़ डाली थी । वे प्रातः-सायं सन्ध्या अवश्य करते थे । द्वार पर ही मन्दिर था । घर से मन्दिर की सीढ़ियों तक खड़ाऊं पहने हुए जाते, तो उनके पद-क्षेप के स्वर गूंजते रहते । उनका कहना था—"जो आदमी ब्राह्मण होकर संस्कृत नहीं पढ़ता, प्रातः-सायं संध्या नहीं करता, उसे मैं ब्राह्मण नहीं, बैल समझता हूं ।" जब कोई ब्राह्मण-युवक उनके घर आता, तो उससे यह पूछे बिना न रहते कि संध्या करते हो ? उत्तर में यदि वह कहीं सत्य ही सत्य बतला देता कि दादा, सन्ध्या तो नहीं करता, तो उनका प्रवचन प्रारम्भ हो जाता था—"अगर तुम सन्ध्या नहीं करते, तो तुम्हारी सारी आशाएं वन्ध्या रहेंगी ।"

यह अभ्यास यहां तक बढ़ गया था कि बिहारी पण्डित कभी-कभी अपने निश्चित कार्यक्रम को भूल जाते और जब तक उससे संध्या करने की प्रतिज्ञा न करवा लेते, तब तक उन्हें संतोष न होता था । इतना ही नहीं, वह जब कभी मिलता, तो उससे पुनः यही प्रश्न होता । वे यह जानने को सदा उत्सुक रहते थे कि मेरी शिक्षा का कुछ प्रभाव पड़ा है या नहीं ।

संतान तो उनके कई हुई थीं, किन्तु जीवित दो ही थीं। बड़ा लड़का राज-किशोर सुलतानपुर ज़िले में थानेदार था। उससे छोटी थी राजेश्वरी। वह इलाहाबाद में पढ़ रही थी। वहां बिहारी पण्डित के बहनोई रहते थे। राजेश्वरी रहती तो लड़कियों के छात्रावास में थी, पर जब उसका मन होता, तब वह एक-आध दिन को अपनी बुआ के यहां भी चली आती थी।

राजेश्वरी संगीतकला में बड़ी दक्ष थी। मार्यादा के विचार से हो या कि संकोच के भाव से, गांव में दो-चार घर ही ऐसे थे जहां आवश्यकता पड़ने पर, सो भी बहुधा कई स्त्रियों के बीच में ही, वह आती-जाती थी। अकेली तो कभी घर से बाहर निकलती ही न थी। उसके सम्बन्ध में गांव-भर में नाना प्रकार की बातें उठती रहती थीं। कोई कहता—"उसकी बात ही दूसरी है। आपको पता नहीं, अगर दिन में वह तीन बार स्नान करती है, तो पांच बार साड़ियां बदलती है।" कभी-कभी कुछ ग्राम्य महिलाएं मुंह बनाकर कह उठतीं—"जीजी, न जाने दादा को क्या हो गया है, जो विवाह नहीं कर देते! मेरा विवाह तो तेरहवीं बरस लगते-लगते हो गया था और यह तो बीस बरस की हो गई है।" इसी प्रकार की तरह-तरह की निराधार कल्पनाएं पारस्परिक कानाफूसी में व्यक्त की जातीं और वयस्क लड़कियों के कालेज-जीवन की रंगीनियों पर छींटे कसे जाते।

इस परिस्थिति का सबसे दुःखद रूप तब होता, जब कौशल्या कभी रात में, कभी दिन में, कभी घर और पास-पड़ोस में साधारण वार्तालाप के बीच आर्द्र कण्ठ तथा गीले नयनों से कह उठतीं—"क्या करूं, जब राज के अनुरूप कहीं कोई सुन्दर वर ही नहीं मिलता!"

ऐसे अवसरों पर कभी-कभी बिहारी पण्डित कौशल्या को समझाने की भी चेष्टा करते। कहते—"राज की मां, रोने-धोने से कहीं दुःख दूर होता है? असल चीज़ है कर्म-लेख। अगर राज को राजरानी बनाना है, तो साधारण घर में विवाह हो ही कैसे सकता है?"

किन्तु कौशल्या इसके उत्तर में यही कह देती—"तुम कुछ भी कहो, राज के बाबू, मेरा जी नहीं मानता। न जाने वह दिन कब आएगा।"

इसपर बिहारी पण्डित फिर यही कह देते—"वह दिन आएगा, राज की मां अवश्य आएगा। भगवान के बड़े-बड़े हाथ हैं। वे सब कुछ कर सकते हैं।"

कौशल्या का शरीर अब टूट गया था। आधे दांत गिर गए थे। जो शेष बचे

थे, वे भी हिलने लगे थे। इस कारण वे पेट-भर भोजन न कर पाती थीं। जब कभी मसूड़े सूज जाते तब तो रहा-सहा भोजन भी न कर पातीं। दूध-मात्र आधार रह गया था। जब कोई कुछ कहता—"चाची, तुम दांत क्यों नहीं बनवा लेतीं?" तो वे उत्तर यही देतीं—"किस दिन के लिए ?" और अचानक ही अत्यधिक व्याकुल हो उठतीं।

ऐसी परिस्थिति में कभी-कभी वे दिन भी आ जाते, जब राज दिन-भर अपने कमरे में पड़ी रहती। राजकिशोर की दुलहिन आकर कह उठती—"बिटिया, अब झट से स्नान कर लो। खाना तैयार है।

राज जो चद्दर ओढ़े रहती, करवट बदलकर उसको और भी ऊपर तक खींच लेती। मन्द स्वर में एक वाक्य फूट पड़ता—"अभी भूख नहीं है भाभी। तुम जाओ, अम्मा के साथ भोजन कर लो।"

राजकिशोर बाबू की दुलहिन भी समझाने की चेष्टा करती हुई कह देती—"नहीं, नहीं बिटिया, ऐसे कैसे हो सकता है ? कैसा भी जी हो, खाना कभी छूटता है ? पेट तो भरना ही पड़ता है। चलो उठो। ग्यारह बज गए। दादा खाना खा चुके हैं। अम्मा पूजन से उठने वाली हैं। तुम न उठोगी तो वे कौर-घूंट जो ग्रहण करती हैं, नहीं करेंगी।"

तब विवश होकर राजेश्वरी को उठना ही पड़ता।

बिहारी पण्डित के छोटे भाई का नाम था गिरधारीलाल; पर पण्डित के रूप में उनका नाम विख्यात न था। पास-पड़ोस के लोग उनको 'गिरधारी भाई' कहा करते थे। उनकी अवस्था अभी पैंतीस वर्ष की थी। वर्ण कुछ श्याम था और शरीर के भी वे ठिगने थे। कहते हैं, मूंछ के बाल ठीक कराने में उनको पूरा आध घंटा लगता था। पर यह बात सर्वप्रथम उस व्यक्ति के मुख से निकली थी, जो उनके घर जाता-आता था। वह जानता था कि गिरधारी भाई जीवन में भी हिसाब-किताब का ध्यान रखते हैं। जिस पत्नी के साथ उनका दूसरा विवाह हुआ है, वह अभी अठारह की ही है।

पान खाने की उनको लत थी। भीगे हुए कपड़े में दस-बीस लगे हुए पान, चांदी के पनडब्बे में रखे हुए, उनकी सदरी की जेब में पड़े ही रहते थे। देर से उठने की उन्हें आदत पड़ गई थी। बिहारी पंडित उनकी इस दुर्बलता पर सदा कुढ़ते रहते, पर कहते कुछ न थे।

जिस घर में राजेश्वरी बीस वर्ष की हो रही थी, फिर भी अब तक अविवाहित थी, उसी घर में उसकी चाची अठारह वर्ष की थी। उधर राजकिशोर की दुलहिन, राजेश्वरी की भाभी, उससे कुछ ही बड़ी थी, यद्यपि वह दो बच्चों की मां बन चुकी थी। लगभग समवयस्क चाची और भाभी के बीच राजेश्वरी के मन पर समय-समय पर जो प्रतिक्रियाएं होतीं, उन्हें छिपाने और दबाने की लाख चेष्टा करने पर भी वे कभी-कभी झलक ही उठती थीं।

बिहारी पण्डित इस मर्म से अवगत न थे, ऐसी बात न थी। वे राजेश्वरी का विवाह तत्काल कर देना चाहते थे। इस विषय में वे गिरधारी से तो विशेष कुछ न कहते, पर राजकिशोर से सदा झगड़ते रहते। उनका कहना था कि इसीने उसे उच्च शिक्षा की ओर प्रेरित किया है और अब इसीके कारण राजेश्वरी के विवाह में कठिनाई उपस्थित हो रही है। वे पुलिस-विभागीय किसी अधिकारी से ही उसका विवाह करने को उत्सुक हैं; पर राजेश्वरी के विचार इसके विपरीत हैं। और नियति का व्यंग्य यह है कि राजकिशोर जो शिक्षा-क्षेत्र के किसी विद्वान अध्यापक से उसका विवाह करने की चेष्टा भी करता, तो एक थानेदार की बहन से नाता होने की कल्पना पर सम्बन्धित लोग मुस्करा देते थे!

बिहारी पण्डित के इस घर में दो नौकर भी थे। उनमें एक थी चन्दनियां। वह जात की कहार और श्यामवर्णा थी। उसका एक लड़का तालाब में सिंघाड़े की बेल लगाता और धान-काकुन की खेती करता था। गांव के सम्पन्न घरों में पानी भरता और उससे जो पैसा मिलता, उससे घर का खर्च चलता। दीवाली के दिनों में जुआ भी खेलता और अपनी उमर के कोरी-चमार साथियों में पड़कर कभी-कभी दारू भी पी लेता। अगर कभी कोई चन्दनियां से पूछता—'गोपलू कहां गया री, जो आज तू पानी भर रही है?" तो चन्दनियां की मुखाकृति विकृत हो उठती। गर्दन के एक झटके के साथ कह देती—"कहीं अपनी ठठरी बंधवा रहा होगा। कलूटा कल दुपहर को खाना खाकर गया था, फिर बड़ी रात तक नहीं लौटा। मुआ नया-नया जवान हुआ है, धरती पर पांव कैसे धरेगा! कब आया, कब गया, पता ही नहीं चल पाता। सवेरे जब मैं घर से निकली तो मुंहबाए चारों खाने चित पड़ा खर्राटा भर रहा था। कहीं न कहीं बाप की सराध करके आया होगा।"

गली-भर में एक छोर से दूसरी छोर तक उसकी गालियों का स्वर और कभी-

कभी सुनने वालों के कहकहे गूंजते ही रहते थे।

कहते हैं, यह गोपलू जब पैदा हुआ था, तब चन्दनियां की उमर बाईस वर्ष की थी। गोपलू का बाप एक बार चोरी में पकड़ा गया था, तो उसको साल-भर की कैद हो गई थी। पर जेल से छूटने के बाद फिर वह घर नहीं लौटा। पता नहीं वह इस समय कहां है! यह भी पता नहीं कि वह इस संसार में है भी या नहीं!

ऐसी अनिश्चित दशा में चन्दनियां सोहागिन होते हुए भी विधवा थी। पैरों में चांदी के कड़े और बिछुवे और हाथों में काली-काली कांच की चूड़ियां वह अब भी पहने रहती है। सम्बन्धित घरों में जब कभी कोई मांगलिक कार्य होता तो वह कभी-कभी मांग में सिन्दूर भर लेती और पैरों में महावर लगा लेती है। पागल मन की बात ठहरी! उसे भरोसा था कि वह कभी न कभी ज़रूर आएगा। यद्यपि उसे लापता हुए अठारह-बीस वर्ष बीत चुके हैं।

चन्दनियां की उमर ढल रही थी, लेकिन अभी शरीर की गठन उस हिसाब से नहीं ढली। ऐसे भी दिन आए हैं, जब फलगू कहार ने रातबिरात में निकट आकर कह दिया है—"अरी चन्दनियां, कभी-कभी मेरे घर भी झांक जाया कर। मैं कोई बाघ तो हूं नहीं कि तुझे खा जाऊंगा!" और चन्दनियां ने उत्तर में कह दिया है—"हूं, तलैया में मुंह धो आ। मुआ मुझपर आंख लगाए हुए है। खबरदार जो फिर कभी ऐसी बात कही! गोपलू से कह दूंगी, तो आंखें निकाल लेगा।"

कोई नहीं जानता कि उस समय चन्दनियां ने फलगू को ऐसा मुंहतोड़ उत्तर तो दे दिया, पर बड़ी रात तक वह चारपाई पर पड़ी-पड़ी करवटें बदलती रही। एक बार तो सिसकियां भर-भरकर खूब रोई भी!

बिहारी पंडित के घर में दो गोईं की खेती होती थी। बड़ी गोईं सवारी के काम में अधिक रहती थी। छोटी गोईं के बैल यद्यपि अभी अल्हड़ थे, किन्तु खेती का काम देने लगे थे। सड़क पर जाते हुए यदि कभी हाथी या मोटर आगे से आते दिखाई देते, तो उनकी प्रतिक्रिया देखते बनती थी।

खेती के इस काम के लिए दो-तीन आदमी सदा लगे रहते थे। ये आदमी जाति के कोरी-चमार ही विशेष रूप से हुआ करते थे। एक बार कहीं बचान उनके सामने आ गए। दुलारे ने बतलाया कि नौकरी के लिए आए हैं। बिहारी

पण्डित यह जानकार कुछ विचार में पड़ गए कि यह ग्रादमी हमारे यहां नौकरी करने तो ग्रा नहीं सकता ? ज्योंही उन्होंने बचान को सामने खड़ा पाया, त्योंही उनके मुंह से निकल गया—"तुम तो ठाकुर हो बचान ?"

"जी, पण्डितजी। ग्रापके परताप से हूं तो ठाकुर ही।"

"तब इस काम के लिए तुम हमारे यहां कैसे ग्रा गए ?"

बचान ठाकुर ने सिर नीचा कर लिया। ग्रांखों में ग्रांसू डबडबा उठे। गला भर ग्राया। बोला—"ग्रब यह मत पूछो पण्डितजी।"

"ग्रच्छा, ग्रच्छा। मैं समझ गया। सब समय की बात है।" ग्रौर बिहारी पण्डित तम्बाकू की चुटकी मुंह में रखते-रखते सोचने लगे—'ग्राज इस ग्रादमी के ऊपर कोई भारी संकट ग्रा पड़ा है। तभी यह हमारे यहां ग्राया है।' फिर एक ग्राह भरकर मन ही मन कहने लगे—'हे भगवान ! सबकी लज्जा रखो।' क्षण-भर बाद बचान ठाकुर को लक्ष्य कर बोले—"ग्रच्छा ठाकुर, जब तुम हमारे यहां ग्रा ही गए हो, तो मैं तुमको विमुख भी न करूंगा। तुम जिस श्रेणी के व्यक्ति हो, उसकी मर्यादा मेरे यहां की नौकरी में भी बराबर बनी रहेगी। उसके निर्वाह का मैं सदा ध्यान रखूंगा। मैं तुमको काम भी वैसा ही सौंपूंगा जिसमें तुम्हारी तबियत लगे। तुम्हें पता ही होगा कि इधर हमारे छोटे भाई कुछ लेन-देन का काम भी फैला रहे हैं। तुम जानते हो, यह विषय ऐसा है कि बिना रोग्रां टेढ़ा किए काम नहीं चलता। तगादगीर की ग्रावाज़ भड़कीली न हुई, तो ग्रासानी से रुपया वसूल नहीं होता ग्रौर इधर तो बहुत-सा रुपया हमारा लहना हो गया है।"

"पण्डितजी, मैं भी ग्रपने मन में बहुत कुछ समझ करके ही ग्राया हूं। गिरधारी भैया से बातचीत हो गई थी। उन्होंने यही कहा था कि जो कुछ करेंगे बड़े भैया ही करेंगे। उन्हींसे मिलना ठीक होगा।"

"ठीक है, ठीक है। मगर ठाकुर, हमारे यहां तनख्वाह तो बहुत कम मिलती है। खाने के सिवा हम बारह रुपया ऊपर से देते हैं। इतने में तुम्हारा काम चल जाएगा ?"

बचान ठाकुर ने सोचने में समय नहीं लगाया। तुरन्त बोला—"पण्डितजी, मैंने भी मन ही मन यह तय कर लिया था कि ग्राप जो देना चाहेंगे, वही मैं मान लूंगा। रह गई गुज़र-बसर की बात, सो वह तो भगवान करता है।"

"हां ठाकुर, करता तो भगवान ही है। ग्रच्छा, तो फिर किसी शुभ दिन चले

आना ।"

इस बातचीत के बाद भी तुरन्त चल देने के बदले जब बचान ठाकुर कुछ सोच-विचार में पड़ गए तो बिहारी पण्डित समझ गए। बोले—"वैसे चाहो तो आज से ही काम शुरू कर सकते हो ।"

बचान ठाकुर ने समय का सदुपयोग करते हुए उत्तर दिया—"उबार लिया आपने पण्डितजी ।"

इतने में बिहारी पण्डित बोल उठे—"देखो ठाकुर, भगवान न करे कि कभी किसीके आगे जाकर हाथ पसारना पड़े। जब तुम मेरे पास आए तभी मैंने समझ लिया कि आज का दिन तुम्हारे लिए जीवन में एक महत्त्व का दिन है। यहां मेरे पास आओ ।"

बिहारी पण्डित ने बचान ठाकुर को पास बुलाकर धीरे से उनसे पूछा—"अगर कुछ खास ज़रूरत हो या कोई काम अटका हो, तो बतलाने में संकोच मत करना, ठाकुर। समझ गए कि नहीं ?"

बिहारी पण्डित का इतना कहना था कि बचान ठाकुर ने उनके पैर पकड़ लिए। उनकी आंखों में आंसू आ गए। हाथ जोड़कर वे बोले—"पण्डितजी, मैं आपकी बड़ाई अक्सर लोगों से सुना करता था, पर आज सैतुक देख लिया कि आप साधारण आदमी नहीं, देवता हैं।"

बिहारी पण्डित पैसे के सम्बन्ध में सदा सतर्क रहते थे। उनका विचार था कि पसा अपने मान-अभिमान की रक्षा तभी करता है जब वह अपने पास अपने अधिकार में रहता है। उनकी यह सावधानी इस सीमा तक बढ़ गई थी कि वे कभी-कभी सोचने लगते थे—'अगर कमरे, अलमारी और बक्स की ताली अपने पास नहीं है, तो अपना पैसा भी समय पर धोखा दे सकता है।' इसलिए उनकी टेंट कभी खाली न होती थी; दस-बीस रुपये वे हर समय अपनी धोती की मुर्री में कागज़ की पुड़िया बनाकर लपेटे रहते थे।

बचान ठाकुर का इतना कहना था कि बिहारी पण्डित की टेंट खुल गई। पांच रुपये का नोट निकालकर उन्होंने बचान ठाकुर के आगे करते हुए कहा—"लो, इस समय इतने से काम निकालो। आगे ज़रूरत पड़े तो फिर मांग लेना, भला!"

रुपये लेकर बचान ठाकुर विदा हुए ही थे कि लाला चन्द्रमाप्रसाद आ पहुंचे।

धोती ढीली-ढाली, न सिर पर टोपी, न पैरों में जूता। कोट बहुत लम्बा, बांहें हथेली तक, सिर के बाल खड़े, दाढ़ी सात दिन की बढ़ी हुई। आते ही बोले—"पांय लागन पण्डितजी।"

"आशीर्वाद, आशीर्वाद। आओ चन्द्रमा, बहुत दिनों में दिखाई पड़े!"

"पण्डितजी, होते-कहते महीना-भर लग गया हमको। आपके चिरंजीव हैं न कानपुर में? नाती भी अब घुटनों के बल चलने लगा है। बहू ने कहला भेजा था कि दादा आम खा जाएं आकर। दशहरी आजकल इफरात से आ रहा है।"

"अच्छाऽ, तो यह कहो कि बहू-बेटा के पास से आ रहे हो। सुनते हैं, कचहरी में डिप्टी साहब के यहां पेशकार है। तब तो आमदनी अच्छी होती होगी? पेशी की तारीख बढ़वाने या जल्दी मामला पेश करवा देने में दस-पन्द्रह रुपये रोज़ तो हिस्से में पड़ जाते होंगे?—हां, अच्छी याद आई। हमने सुना है, मकान भी बनवा लिया है तुम्हारे चिरंजीव ने? क्या तनख्वाह मिलती है?"

"तनख्वाह तो कोई विशेष नहीं है, मगर हंसी-खुशी से जो आदमी कुछ दे जाए, तो आप तो जानते हैं पण्डितजी, कि पैसा किसीको काटता तो है नहीं!"

"वही, वही। और कहो, क्या हाल-चाल हैं?"

आले में रखी तश्तरी में कटा हुआ दोहरा रखा था, उसीको उठाकर लाला चन्द्रमाप्रसाद के सामने रखते हुए वे बोले—"लो, दोहरा खाओ! ···और ले लो, और ले लो।···हां, अब बतलाओ, हमारे लायक कोई काम तो नहीं है?"

चन्द्रमा ने मूंछों पर हाथ फेरते हुए कहा—"वो अऽऽ पण्डितजी, अभी हमने बचान ठाकुर को इधर से ही जाते देखा था। शायद आप ही के यहां आए थे?"

"हां, अभी यहीं थे।"

"मैं जान गया था···ज़रा बच के रहिएगा इनसे। आजकल हालत ज़रा खस्ता है। वो, जो तुलसीराम की भैंस चोरी हुई थी, उस मामले में इनका भी हाथ था! वह तो यह कहो कि बहुत बच गए, नहीं लद जाने में कोई कसर नहीं रह गई थी। थानेदार साहब तो किसी तरह नहीं छोड़ रहे थे। हम अगर बीच में न पड़ते, तो अब तक जेल में चक्की पीसते होते। बड़ी मुश्किल से मैंने, चीफ़ साहब को समझा-बुझाकर, साठ रुपये पर मामला तय किया।···पैसा इसके पास था नहीं। रुक्का लिखा है।"

"रुक्का लिखा है? अच्छा! कहां?"

"कल्लू महाजन के यहां। दो रुपया सैकड़ा सूद पर।"

"चन्द्रमा भाई, कहो मुकाबले में खरी-खरी सुना दें और कहो मुंह पर चिकनी-चुपड़ी कहते रहें, और पीठ पीछे बुराई करना शुरू कर दें। हम इसी गांव में पैदा हुए, पनपे और बड़े हुए। फिर बाल-बच्चे हुए और अब भगवान की दया से पड़े-पड़े पलंग तोड़ रहे हैं। न किसीके दबैल हैं; न किसीका दिया खाते हैं। बचान ठाकुर को हमने शरण दी है। आज, अभी। बेचारा मुसीबत का मारा आदमी है और मैं कहूंगा कि सच्चा आदमी है। मुझे विश्वास है, भैंस के मामले में उसका बिल्कुल हाथ नहीं होगा। यह दलबन्दी का विष है, लाला चन्द्रमाप्रसाद, जो आदमी होकर भी आदमी को खाए जा रहा है। मालूम है गेंदासिंह के मामले में शिवनारायण के विरुद्ध किसने-किसने गवाही देने से इन्कार कर दिया था? तुम मानो चाहे न मानो, उसीका बदला चुकाया गया है।"

"देखो पण्डित, बुरा मत मानना। गांव में सिर्फ दो दल हैं। एक गेंदासिंह का और दूसरा पण्डित शिवनारायण का। और पण्डित शिवनारायण के साथ तुम्हारी लड़ाई आज ही नहीं, तीन साल की है। तो इस तरह सबसे अलग-अलग रहकर तुम जाओगे कहां? किसी न किसी पार्टी की तरफ ढुलकना ही पड़ेगा। तटस्थ रहना चाहोगे, तो जानते हो उसका क्या नतीजा होगा?"

"नतीजे का नाम लेकर मुझे डराओ मत लाला चन्द्रमाप्रसाद। मैं कायर नहीं हूं जो मैदान छोड़कर भाग खड़ा होऊंगा। शिवनारायण भैया से मिल सकता हूं, मगर जीते जी अन्याय नहीं सहन कर सकता। तुम गेंदासिंह से जाकर कह देना। मुझे मालूम है कि तुम्हारी बैठक आजकल वहीं जमती है। मुझे यह भी मालूम है कि तुमको कानपुर से आए हुए दस दिन हो गए।"

लाला चन्द्रमाप्रसाद बत्तीसी निकालकर हंसने लगे। बोले—"दादा, तुमसे पार पाना बड़ा कठिन है। अच्छा, तो अब मैं चलता हूं। पांव लागन।"

"अरे, बैठो, बैठो, चन्द्रमाप्रसाद। कौन तुमको भैंस दुहाने की देर हो रही है? लो, अब पान खाओ।" कहते-कहते बिहारी पण्डित तकिया के पास रखा हुआ पनडब्बा खोलने लगे।

चन्द्रमाप्रसाद सिर पर हाथ फेरते हुए बोले—"पान तो खाए लेता हूं पण्डितजी, पर अब चलूंगा।"

"जाओगे? मगर तुमने असली बात नहीं बताई कि तुम आए किस बहाने,

क्योंकि बेमतलब तो तुम आने से रहे ?"

"बस पण्डितजी, इसी जगह हमारा सिर नत है ? जोड़ नहीं है तुम्हारा !"

"अच्छा, अच्छा, बहुत हो गया।" बिहारी पण्डित ने कहा—"बतलाओ, बतलाओ !!"

"पण्डितजी, थोड़े भूसे की हमें जरूरत है। कुछ मेहमान आ गए हैं और उनके साथ दो परोहन भी हैं।"

बिहारी पण्डित ने सिर पर हाथ फेरते हुए कहा—"बस, इतने से काम के लिए इतनी बड़ी भूमिका ! अरे, आते ही कह देते। मगर कह कैसे देते ! आदत से जो लाचार हो। दुनिया-भर की पंचायत की क्या जरूरत थी ?···दुलरवा ! ओ दुलरवा !!"

"आया, आया दादा!"

"अच्छा-सा छै झउआ भूसा, इनके यहां छोड़ आओ।"

दुलरवा जब भूसा निकालने लगा तब चन्द्रमाप्रसादजी उठकर उधर जाने लगे। बिहारी पण्डित ने कहा दिया—"बैठो, बैठो। तुम वहां कहां जाओगे ?"

"हमारे मतलब का जो होगा वही बंधवा लूंगा।"

बिहारी पण्डित बोल उठे—"मैं समझ गया कि तुम्हें गेहूं का भूसा चाहिए। सो कम से कम इतना ध्यान तुम्हें रखना चाहिए कि जब मैं तुमको दे रहा हूं तो अच्छा ही भूसा होगा !"

"हां, सो तो ठीक है।" लाला चन्द्रमाप्रसाद कुछ सोचते हुए बोले।

लाला चन्द्रमाप्रसाद अपनी जगह पर पुनः ठीक से बैठे ही थे कि बिहारी पण्डित ने पूछा—"और कुछ ?"

"बस पण्डितजी, और सब इन्तजाम पक्का है। बड़ी कृपा हुई। अच्छा, पांव लागन।"

'जियो, जियो। हमारे लायक जिस सेवा की आवश्यकता हुआ करे, निःसंकोच चले आया करो, चन्द्रमा ! अच्छा !"

अब लाला चन्द्रमाप्रसाद आगे-आगे जा रहे थे और पीछे-पीछे गठरी में भूसा लादे हुए दुलरवा। उस समय लाला चन्द्रमाप्रसाद मन ही मन सोच रहे थे—'काश, यह आदमी थोड़ा दुनियादार होता ! आज गांव में इसकी तूती बोलती होती। मगर यह बात मेरी समझ में न आई कि भुसौरे में जाने से इन्होंने मुझे

रोक क्यों दिया ? कुछ न कुछ भेद की बात इसमें ज़रूर होगी ।'

दूसरे दिर लाला चन्द्रमाप्रसाद ठाकुर गेंदासिंह की बैठक में उपस्थित थे ।

गेंदासिंह के पास सब मिलकर कोई अस्सी-पचासी बीघा ज़मीन थी। छः बैलों के बीच तीन हल की खेती होती थी। दो भैंसें और तीन गाएं थीं। हल पीछे एक-एक आदमी लगा रहता था। ये लोग सबसे पहले खेती का काम करते, उसके बाद घर-गृहस्थी का। महंगू लोध को तो गाय-भैंसों से ही छुट्टी न मिलती। एक था सोल्हर। वह पानी भरने में रहता। दरवाज़े वाले कुएं का पानी कुछ खारी था, इसलिए पीने के लिए पण्डित शिवनारायण के कुएंसे मीठा पानी आता था। तीसरा था खैराती। वह घर का सौदा-सुल्फ लाने में व्यस्त रहता। वह हकलाता बहुत था। कभी-कभी यदि कोई अक्षर अटक जाता तो उसे लौटने में इतनी देर लगती कि सुनने वाला बजाय हंसने के झुंझला उठता। चौथा था ज़ालिम। उसकी भौंहें बनी ही रहतीं। अगर कोई कुत्ता द्वार पर दिखाई पड़ जाता, तो उसका अंग-भंग किए बिना उसके जी को संतोष न होता था।

गेंदासिंह पुराने रईस थे। यद्यपि वह बात अब न रह गई थी, फिर भी आदत से लाचार थे। मकान बनवाने का काम सदा छिड़ा ही रहता। जब देखो तब कभी लकड़ी पर आरा चलाता रहता, कभी किवाड़ बनते रहते—अलमारियों, पलंग, तखत, कमरों की कड़ियां, खूंटियां, रोशनदान के फ्रेम आदि का काम जारी ही रहता। कमरा बन गया तो अब ज़ीना बन रहा है। ज़ीना के नीचे कुछ स्थान खाली छूट गया था, तो सटर-पटर सामान रखने के लिए एक छोटी-सी कोठरी निकाल ली। वैसे, आंगन के एक ओर नहाने के लिए, वर्गाकार छोटा-सा चबूतरा सीमेण्ट की पुट देकर बना लिया गया था। मगर देखा गया कि सयानी बहू-बेटियों को नहाने में संकोच होता है, यही डर लगा रहता है कि कहीं कोई आ न जाए, अतएव तय हुआ कि स्नानागार ही बना देना चाहिए। फिर क्या था। राज बुला लिया गया और कन्नी-बसूली चलने लगी। पुराना मकान था। वर्षा आने से पहले या तो नये छप्पर डालने पड़ते थे या पुराने छप्परों में यत्र-तत्र तिन की दागदोज़ी करनी पड़ती थी। इस बार ऐसा हुआ कि टीन की चद्दरें मंगवा ली गईं; मकान-भर में छप्पर हटवा दिए गए और टीन छवा दी गई। जब सब काम पूरा हो गया तब लाला चन्द्रमाप्रसाद नज़र पड़ते ही मुंह बनाकर बोले—"ऊंहूं, ठाकुर साहब,

यह किफायतशारी मुझे कुछ जंची नहीं। बैसाख-जेठ के महीनों में इस टीन के नीचे खड़ा होना कठिन हो जाएगा। ऐसी आग बरसेगी कि खोपड़ी चटक जाएगी, भेजा फट जाए तो कोई आश्चर्य नहीं। आपको मालूम होना चाहिए कि छोटे बच्चों को शीतला की महामारी अक्सर जेठ के महीने में होती है। जानते हैं क्यों ? क्योंकि गर्मी उनसे बर्दाश्त नहीं होती।"

ठाकुर साहब एकदम गुमसुम होकर विचारों के चक्कर में पड़ गए। फिर बात के मर्म को व्यक्त करते हुए बोले —"लाला, बात तुम सदा पक्की कहते हो। हमारे पास बैठने वाले जितने लोग हैं, सच पूछो तो सब साले खुशामदी टट्टू हैं। ठीक राय देना किसीको आता ही नहीं। और तुम्हारा यह हाल है कि हफ्तों शकल दिखाई नहीं देती।··· अच्छा, इन बातों को अब गोली मारो, बताओ यह कि होना क्या चाहिए ?"

चन्द्रमाप्रसाद बैठक में पड़े हुए पलंग पर बैठ गए। पहले थोड़ा मुस्कराए, फिर बोले—"पहले कुछ खिलाओ-पिलाओ, तब बताएंगे, ठाकुर साहब।"

गेंदासिंह ने बड़े सोच-विचार के बाद सिर खुजलाते हुए उत्तर दिया— "इस वक्त मट्ठा तैयार है, और गुड़ की कतरियां मैंने स्पेशल बनवाई हैं। कहो लाला क्या राय है ? खाओगे तो तबीयत हरी हो जाएगी।···अरे, खैराती, लालाजी को बड़े वाले हरियाना गिलास में मट्ठा और वह जो गुड़ की कतरियां मैंने बनवाई हैं वह भी दो ठो ले तो आओ।"

चन्द्रमाप्रसाद ने गिलास आते ही मुंह से लगाया और सांस तब ली जब आधा डकार गए। फिर बीच-बीच में कतरी खाते और घूंट लेते-लेते तीन मिनट में सबका सब मट्ठा चढ़ा गए। रूमाल जेब में ज़रूर था, मगर मैला इतना था कि मारे संकोच के उसे ठाकुर साहब के सामने निकाल न सके। ज्योंही ठाकुर साहब ने ज़रा नज़र फेरी कि वही रूमाल निकालकर एक ही सपाटे में मुंह पोंछ लिया और पुन: उसे जेब में रखते हुए प्रसन्नमुख सोचने लगे, अब मैदान मार लिया।

इतने में ठाकुर ने पूछा—"अब बताओ लाला, क्या होना चाहिए ?"

चन्द्रमाप्रसाद ने उत्तर दिया— "ऐसा करो कि इसके नीचे लकड़ी के तख्ते जड़वा दो। खर्च तो एक बार हो जाएगा, मगर फिर सौ-पचास बरस के लिए छुट्टी भी हो जाएगी।"

चन्द्रमाप्रसाद का इतना कहना था कि ठाकुर साहब ने लखन बढ़ई को बुलाकर कहा—"तुमने बड़ी गलती की लखन। मुझे तुमसे ऐसी उम्मीद न थी। टीन छवाते समय तुमने मुझे यह क्यों नहीं बताया कि इसके नीचे लकड़ी के तख्ते लगने चाहिए।"

लखन पहले तो सिटपिटा गया, फिर सहसा संभलकर बोला—"हज़ार रुपये आपका अभी बिगड़ गया; दो-चार सौ रुपये लकड़ी को नीचे लगवाने में भी बिगड़ जाता। इसीलिए मैंने किफायत के ख्याल से कुछ नहीं कहा था।"

"मेरी किफायतशारी! किफायतशारी मैं अपने लिए अपमान समझता हूं। किफायतशार ही होता तो तुमको दो रुपये रोज़ और साथ में चबेना कौन देता! ऐसा आदमी न सहृदय हो सकता है न उदार। जाओ, दरवाज़े के पास सहन में जो शहतीरें पड़ी हुई हैं, उन्हें चिरवाने का प्रबन्ध करो।"

"मालिक, वह तो शीशम की हैं। इतनी कीमती लकड़ी से क्या फायदा?"

ठाकुर साहब ने डांटते हुए कह दिया—"बको मत। तुम चाहते हो कि मैं अपने जीवन-काल में ही अपना अधःपतन देख लूं? पानी न नीम सहन करता है न आम। और यह टीन तो कहीं न कहीं से टपकेगी ही। नहीं टपकेगी, तो पानी की छोटी-छोटी बूंदें ही इससे झरेंगी। जाओ, जैसा मैं कहता हूं वैसा करो।"

"अच्छा, अच्छा सरकार।" मिस्त्री कहकर चला गया।

"और कहो लाला, गांव-बस्ती के क्या समाचार हैं?"

लाला बोले—"समाचार सब बदस्तूर हैं, लेकिन देखता हूं, इन बिहारी पंडित को बड़ा घमण्ड हो गया है।"

ठाकुर गेंदासिंह हंस पड़े। बोले—"मैं जानता था। अब पण्डितजी को आई-गई न सूझेगी, वह दिन आ गया।···मगर तुमको उनके घमण्ड का पता कैसे चला? कोई बातचीत हो गई क्या?"

"कोई बात हो गई! अरे बात तो ऐसी हुई कि मुझे ताव आ गया, मगर मैंने बुद्धिमानी इसीमें समझी कि इस समय टाल ही जाओ।"

"तुम ऐसे आदमी के यहां जाते ही काहे को हो?"

"ठाकुर साहब, यह गिरस्ती चीज़ ही कुछ ऐसी काजल की कोठरी जैसी है कि लाख बचकर चलो, कपड़ों में रेख लग ही जाती है।"

"देखो लाला, न तो हमसे कोई नीति-वचन कहो और न सिद्धान्तचर्चा करो,

साफ बात करो, साफ ।"

"आपको पता नहीं कि जब कभी मैं गांव में आता हूं तब मुझे अपने पास-पड़ोस वालों के सिवाय बस्ती के लोगों से भी कोई न कोई चीज़ मांगने की ज़रूरत पड़ ही जाया करती है। कल और कुछ न हुआ मेहमान ही आ गए; सो भी परोहन लेकर। अब आप ही बताएं, भूसे के लिए मैं कहां जाता ?"

"तो तुम हमारे यहां क्यों नहीं चले आए ? बड़ी गलती की तुमने ।"

"भाई, माफ करना मुझको ठाकुर साहब। नित्य ही तो मैं आपके दरवाज़े खड़ा रहता हूं। ऐसी दशा में हर ज़रूरत के लिए मैं आपके आगे ज़बान डालूं, तो एक न एक दिन ऐसा भी आ सकता है कि आप भी मुंह फेर लें, और यह तो आप मानेंगे कि मैं बहुत सोच-समझकर कदम रखने वाला आदमी हूं ।"

"यह तुम्हारी गलती है, लाला। तुम हमको अभी तक समझ नहीं पाए। मैं तो सोचता हूं, तुम हमारे यहां चले आओ। पड़े-पड़े खाओ। जैसे बावन, तैसे तिरपन। मुझे कभी आपत्ति नहीं हो सकती।"

"दूसरों की मैं नहीं जानता, पर कम से कम अपने सम्बन्ध में इतना तो कह ही सकता हूं कि सूर्य पूर्व के बजाय पश्चिम में उदय होने लगे, तो भी आप मेरी बात नहीं टालेंगे ।"

"खैर, तो भूसा उन्होंने दिया ?"

"भूसा तो उन्होंने दिया, पर भुसौरे से बड़ी दूर रखा और दुलरवा से कह दिया कि भूसा इनके घर पहुंचा दो।" और इसके बाद चन्द्रमाप्रसाद ठाकुर साहब के बिलकुल निकट आ गए। धीरे से बोले— "मगर यह बात मेरी समझ में नहीं आई कि भुसौरे में जाने से उन्होंने मुझे रोक क्यों दिया ?"

ठाकुर साहब उतने सम्पन्न नहीं थे जितने बनते थे। लेकिन बुद्धिमान अवश्य थे। ज़रा चलता हुआ आदमी हो, संकट के समय सहायता कर देना उनकी लोकप्रियता का एक गुण बन गया था। यह एक ऐसी नीति थी कि गांव का कोई भी आदमी उनके किसी काम से इन्कार न कर सकता था।

एक ओर उनमें यह गुण था, दूसरी ओर वे इतनी शक्ति भी रखते थे कि जिसको चाहें दिन-दहाड़े बाज़ार में पिटवा दें। कहते हैं, एक बार तो उन्होंने लांक में आग लगवाकर एक दुश्मन को, जो उसपर पड़ा हुआ सो रहा था, जलवा-कर समाप्त करवा डाला था। हज़ार-पांच सौ लांक के गट्ठों के ढेर में सौ-

पचास गट्ठे इधर से उधर करवा देना उनके बायें हाथ का खेल था। पका हुआ खेत खड़ा था और शाम को किसान उसे देख गया था। पर दूसरे दिन जब वह आदमी लेकर खेत पहुंचा, तो दूर से ही सफाई देखकर ढाढ़ मारकर रो पड़ा। और तारीफ यह कि थाने में रिपोर्ट होने पर भी न कोई विशेष जांच हुई, न कोई आदमी पकड़ा गया। पड़ोस के गांवों में प्रायः चोरियां होती ही रहती थीं, लेकिन पुलिस गिरफ्तार उन लोगों को करती थी जो या तो निरपराध होते या पहले किन्हीं मामलों में पुलिस की गवाही देने से इन्कार कर चुके रहते। कभी-कभी कुछ अपराधी पकड़े भी जाते थे। उनसे सौ दो सौ रुपये दण्डस्वरूप ले लिए जाते। इन कार्यों में जो लोग मध्यस्थ होते, उनमें से एक ठाकुर गेंदासिंह भी थे।

अतएव लाला चन्द्रमाप्रसाद की बात सुनकर ठाकुर गेंदासिंह ने एक तेवर के साथ कह दिया—"हूं, तो यह बात है! पर भाई, मैं किसीके मन की बात क्या जान सकता हूं? और कहो? चन्दनियां के लड़के का कुछ पता चला?"

"कौन, गोपलू? वह तो घर में ही है। क्यों, कोई काम था उससे?"

"नहीं, नहीं, यों ही पूछा मैंने।"

"अब चलूंगा, ठाकुर साहब।"

"जाओगे? मगर तुमने यह नहीं बतलाया कि तुम आए किस काम से?"

"अ, वो कुछ नहीं। अऽ, यों ही चला आया।"

"तुम कुछ कहो लाला, बात पचती नहीं है। अभी न बताओगे, तो दुबारा फिर आना पड़ेगा। काम हमींसे चलेगा तुम्हारा, इसलिए···"

अब चन्द्रमाप्रसाद हंस पड़े और बोले—"बस आपके इस स्वभाव का जोड़ नहीं है, ठाकुर साहब। मैं तो कहता हूं कि भाई चाहे न हो, पर आप जैसे सहायक मित्र ज़रूर हों। वोऽऽ बात यह है कि मैंने तो सोचा था कि मेहमान आज सवेरे चले जाएंगे, पर जहां विवाह की बात पक्की करने वे लोग आए हैं, वहां किसी बात में झमेला पड़ गया है। इसलिए वे हमारे यहां आज-भर और ठहरेंगे और इसे संयोग ही कह लीजिए कि लकड़ी हमारे यहां चुक गई है और पांच आदमियों के लिए खाना पकवाना है।"

"तुम बूढ़े हो गए लाला, मगर तुम्हारी यह आदत न गई।···अरे सोल्हरवा, गट्ठर-भर चिरी हुई सूखी हुई लकड़ी तो लाला के घर दे आना।"

लाला सोल्हर के साथ हो गए और सोल्हर जब लकड़ी भरकर उनके साथ

चलने लगा तो ठाकुर साहब बोले—"शाम को घर पर ही रहोगे ?"

"जी, अगर कोई काम न लग गया।"

"यह अगर-तगर मैं नहीं जानता। या तो तुम खुद घर पर रहो या मेरे यहां चले आओ।"

तब लाला चन्द्रमाप्रसाद बोले—"अच्छा, मैं ही चला आऊंगा।"

इतने में एक सिपाही ने साइकिल से उतरते हुए सलाम बजाई और कह दिया—"आपको दरोगाजी ने याद किया है।"

ठाकुर साहब बोले—बैठो-बैठो, उस्ताद। साइकिल पर आ रहे हो धूप में। ···अरे खैराती, ज़रा उस्ताद के लिए दो गिलास नींबू का शरबत तो बना लेना।"

"मगर दो गिलास क्यों एक ही काफी होगा।"

"नहीं, नहीं, ऐसी भी क्या बात है ? जवान आदमी हो। जब मैं तुम्हारी उमर का था, तब बरात में पौनछक आने पर पांच गिलास शरबत पीता था—पांच गिलास। हं, हं, मगर वह भी एक दिन थे उस्ताद।"

खैराती चला गया और उस्तादखां हंसते हुए बोले—हं, हं, ठाकुर साहब, वह तो आपका बदन ही कह रहा है।"

७

धीरे-धीरे यह विचार विजय के मानस में स्थिर होता जा रहा था कि इस संसार में ऐसा एक भी व्यक्ति नहीं है, जिसे वह सोलह आना अपना कह सके। साथ ही अपने विषय में सदा यही सोचा करता कि मुझमें जो विलक्षण प्रतिभा है, कभी न कभी तो संसार उससे प्रभावित होगा ही। स्वीकार करना तो दूर, वह कभी यह सोचना भी न चाहता था कि मैं जीवन से हार गया हूं। यद्यपि वह यह बात कभी भूल न पाता था कि उसके अपने ही मित्र उसपर हंसते हैं। ऐसे क्षण वह मन ही मन कह लेता—'उंह, उन्हें हंसने दो। वे सब मूर्ख हैं। उनके साथ मेरी कोई तुलना नहीं।'

कभी-कभी विजय को अपने अभिमान के विषय में शंका भी हो उठती। ऐसा प्रतीत होता जैसे उसका सारा अहंकार खोखला हो गया है। जो व्यक्ति स्वयं तिरस्कृत है, परिवार से ही नहीं समाज से भी, उसके अभिमान का मूल्य ही क्या है ! पर तभी तत्काल वह अपनी इस बात पर हंस पड़ता : 'यही तो मज़े की बात है। मैं ही अकेला अपने ढंग का व्यक्ति हूं जो अपने अधःपतन पर हंस सकता है। मैं अपनी उन प्रतिक्रियाओं से भी लाभ उठाना जानता हूं जिनमें दूसरे व्यक्ति या तो विष खाकर या ट्रेन से कटकर सदा के लिए समाप्त हो जाते हैं। मैं प्रत्येक अवसर से लाभ उठाना जानता हूं। मैं परिस्थिति का दास नहीं हूं, मैं तो उनका विचारक और आलोचक हूं। भले ही संसार मेरी परख न करे, पर मैं अपनी परख करना जानता हूं।'

ऐसे समय उसे एक विचित्र प्रकार के सुख का अनुभव होता। यह सोचते उसे देर न लगती कि जिस प्रकार की असफलताओं पर दूसरे लोग घरों में मृतवत् पड़े रहते हैं, मैं उन्हींके भीतर से प्रेरणा और नवपथ खोज निकालता हूं।

एक दिन वह ऊपर वाले कमरे में सिर पर फरफराते हुए पंखे के नीचे चुपचाप बैठा हुआ सामने खुली छत की ओर देख रहा था। आकाश में बादल घिरे हुए थे और नन्ही-नन्ही बूंदों की फुहार गिर रही थीं। कल्याणी गंगा-स्नान को गई हुई थीं। एकाएक कपोत का एक जोड़ा आकर सामने की मुंडेर पर बैठ गया। कपोत पहले कपोती की चोंच में अपनी चोंच डालकर प्रेम-क्रीड़ा करने लगा, फिर थोड़ी देर में पंख पसारकर दोनों उड़ गए।

विजय ने अनुभव किया—'जिस जीवन में इतना रस, आनन्द, सौख्य और सुन्दरता है, उसे वह कैसे छोड़ सकता है ?'

नयनतारा उन दिनों होस्टल में रहने लगी थी। पर एक विजय के विचार से उसे आना पड़ता। वह कभी न चाहती थी कि उसे कोई कष्ट हो। अतः जब कभी वह आता, नयनतारा भी आ जाती। वह उसके वस्त्रों तक की स्वच्छता का ही नहीं, उसकी कमी का भी ध्यान रखती। वह उससे यह पूछना कभी न भूलती कि किसी चीज़ की आवश्यकता तो नहीं है। और विजय जब प्रतिक्रियाओं से घिर उठता, कहीं जाने का उसका मन न होता, किसीसे मिलने की उसकी इच्छा न होती, तब वह घर में ही पड़ा रहता।

उस दिन कपोती और कपोत के इस मिलन-विश्रंभण को देखकर उसके मन

में एक हिलोर-सी आ गई—'प्रत्येक प्रभात सुनहले रंगों के साथ आता है और मेरी स्थिति यह है कि मैं उससे कोई लाभ नहीं उठाता। यही गति रही तो मैं कहीं उस शक्ति को ही न खो बैठूं जिससे जीवन को पोषण मिलता है। खोई हुई सम्पदा तो अध्यवसाय और मितव्ययिता से पुन: अर्जित हो जाती है, खोया हुआ स्वास्थ्य औषधोपचार और संयम से पुन: लौट आता है, पर खोए हुए संयोग की घड़ियां लौटकर नहीं आतीं; सदा-सदा के लिए चली जाती हैं।'

विजय अपनी मां के यहां जब कभी आता, तब वहां के वातावरण में उसे वे समस्त घटनाएं स्मरण आने लगतीं जिनसे वह कभी लाभ नहीं उठा सका। इसी क्रम में उसे स्मरण हो आया, 'नयनतारा के पास उसकी एक सखी प्राय: आया करती है, उसके सघन केशों के बीच की मांग इतनी सीधी रहती है, उनके नयन-बाणों की कोर इतनी पैनी, उसके हास-परिहास की छवि इतनी मोहक कि मन होता है, उसे देखता ही रहूं। जबकि मैंने आज तक उसे जी भरकर कभी नहीं देखा। वह भी केवल इस संकोच के कारण कि वह अपने मन में न जाने क्या कहेगी।'

पर उस दिन उसने इसी बात को इस ढंग से सोचने की चेष्टा की कि वह जो कुछ कहेगी, कह लेगी। भला न कहेगी, बुरा तो कहेगी। कुछ न कहने से तो यही उत्तम है कि बुरा ही कहे। कोई सम्मति न रखना तो और भी मरण है।

तब सहसा एक पुकार उसके भीतर जग उठी। एक ऐसा स्वर फूट उठा, जो सुनाई तो नहीं पड़ता, पर उसकी गुदगुदी हृदय में स्पष्ट जान पड़ती है। एक ऐसा माधुर्य जो अन्तस् में केवल घुलना जानता है।

स्पष्ट था कि विजय उन परिस्थितियों का सामना करने को तत्पर था, जो केवल प्रयोग से उत्पन्न होती हैं। वह यह अनुभव कर रहा था कि मुझे आवेगों की आवश्यकता है। मैं अब बिना सोचे-समझे कुछ कर बैठने की स्थिति में आ गया हूं। अब तक मैं बेकार भटक रहा था। किसी विशेष प्रयोजन को लेकर प्रवृत्त हो जाने में जो सुख है, वह और कहीं नहीं है। मैं एक ऐसी पुकार सुन रहा हूं जो और कोई नहीं सुन सकता। उसके आह्वान में मद है। वह मुझसे सदा कुछ कहती रहती है। मैं उस चितवन को पहचानता हूं जो केवल मेरे लिए बनी है। मैं उससे परिचय प्राप्त करके रहूंगा। विधि के विधान से जीवन में एक न एक दिन अवश्य ऐसा आता है जब किसी प्रकार प्रबल शक्ति के द्वारा, कोई

किसीके निकट खिचा चला जाता है । वही दिन मेरे सामने उपस्थित है ।

राजेश्वरी जब नयनतारा से मिलने आती, तो घंटा आध घंटा अवश्य बैठती थी । नयनतारा का विवाह होने वाला था और राजेश्वरी उसके विषय में वार्तालाप करके नयनतारा से भांति-भांति के मनोविनोद किया करती थी । वह पूछती कि कैसे हैं जीजाजी ? सावित्री उत्तर देती —"जैसे भले घर के लड़के होते हैं । होंठों के ऊपर रेख अभी आ ही रही है । गोरा-छरहरा बदन है; लम्बी नाक; भरा हुआ शोभन मुख ।" और एक दिन उसने कह दिया —"एऽ यह लो—फोटोग्राफ ही न देख लो ।"

राजेश्वरी उस फोटोग्राफ को देखती रही—देखती रही और झट उसे लेकर नयनतारा के पास आ पहुंची । फोटोग्राफ एक मासिक पत्र में छिपाकर रख लिया । बोली —"मिठाई खिलाओ, तो एक उपहार भेंट करूं ।"

जान-बूझकर नाक सिकोड़ती नयनतारा ने उत्तर दिया —"कैसा उपहार ?"

"मिठाई खिलाने को कहो तो दिखाऊं ।"

नयनतारा बोली —"बहुत घिसी-पिटी बात है । उस उपहार का मूल्य ही क्या जो मिठाई के दाने पर तुल जाए । फिर उपहार के बिना क्या मिठाई खाने को नहीं मिलती ?"

"सब उपहार एक-से नहीं होते । कोई-कोई तो ऐसा मूल्यवान होता है कि जीवन उसके संकेतों पर नाचता रहता है । लेकिन ऐसे संयोग पर मैं मिठाई से भी जाऊं; ऐसा मैं नहीं पढ़ी ।"

नयनतारा समझ गई । बोली —"तो ऐसे उपहार को तुम ही रख लो अपने पास । समय पर काम देगा ।"

"वाह, उपहार तुम्हारा और ले उसे मैं लूं, यह मुझसे न होगा ।···ज़रा देखो, देखो । पहचानती हो ? कौन हैं ये तुम्हारे ? सच-सच बता दो नयना ।"

नयनतारा उसे देख चुकी थी । बोली —"इसमें बताना क्या है ?"

"ओः, समझी । जान पड़ता है मिल चुकी हो । वातचीत कर चुकी हो ।"

नयनतारा राजेश्वरी की आंखों में आंखें डालकर मुस्कराने लगी । तब राजेश्वरी बोली —"आज जवाब नहीं दे रही हो । कुछ दिन के बाद भविष्य में उनकी उपस्थिति में हमसे बात करने को समय न निकाल सकोगी । इसी फोटोग्राफ को टेबल पर सजाकर रखोगी । ज़रा देखो न, सचमुच नाक कितनी सुन्दर

है ! होंठों में कितनी प्यास भरी है ! चितवन से ऐसा जान पड़ता है कि कह रही हो—कोई मिले, आपत्ति नहीं।"

नयनतारा कृत्रिम गम्भीर बनकर बोली —"देखो, चुपचाप इसे मामी को वापस दे तो आओ। न जाने अपने मन में क्या कहती हों? कहीं यह न समझ बैठें कि मैंने ही तुमसे कहकर यह फोटोग्राफ मंगवाया है !"

"कहें, तो कहने दो। जो बात निश्चित है, उसको कोई लाख बार कहे, उसमें किसी प्रकार की आपत्ति करने का स्थान कहां रह जाता है ?"

"जाओ, जाओ। काफी चुहलबाज़ी हो चुकी।"

"जाती हूं; लेकिन इस फोटो को एक बार छाती से लगा लो, मेरे सामने।"

आंखें तरेरते हुए नयनतारा बोली —"देखो राज, ठठोली मुझसे मत करो। जाओ, दे आओ।"

विजय चिक के उस पार खड़ा क्षौर-क्रिया के बाद तौलिया से अपना मुंह पोंछ रहा था कि इतने में रूपराशि की राजेश्वरी उधर से निकल पड़ी। वार्तालाप वह सुन ही चुका था। अनुकूल अवसर जानकर बोल उठा —"ज़रा इधर लाना राज, मुझे भी दिखाना। साले की शक्ल तो देख लूं।"

राजेश्वरी चौंक पड़ी। एक तो ऐसे प्रसंग की बात, फिर अयाचित, अप्रत्याशित, अपरिचित का एक सुपरिचित जैसा सम्बोधन ! एकाएक भृकुटियां बंकिम हो गईं और मुंह से निकल गया—"मुंह तो धो लीजिए पहले !"

उत्तर सुनकर विजय अवसन्न हो उठा। ध्यान में आते देर न लगी कि वाक्य के अन्त में—'तालाब में' शब्द छोड़ दिए गए हैं।

मर्मस्थल पर एक शूची-वेधन-सा हो उठा। एक निःश्वास के साथ उसके मन में आया—'हूं ! इसने जान-बूझकर मेरा अपमान किया है।'

वह भूल गया कि यह उसकी मामी का घर है। वह यह भी भूल गया कि राजेश्वरी नयनतारा की सखी है, उसके सम्मान का ध्यान तो उसे रखना ही चाहिए। वह यह भी भूल गया कि उसने यहां तक सोच लिया था—'भला न कहेगी तो बुरा तो कहेगी।' उसे केवल इस बात का ध्यान रह गया कि इसे अपनी रूप-राशि का बड़ा अभिमान है।

राजेश्वरी उत्तर के साथ आगे बढ़ गई थी, फिर भी क्षुब्ध होते-होते विजय ने आवेश में आकर कह दिया—'मैं तुमसे ऐसी अशिष्टता की आशा नहीं करता

था, राजेश्वरी ।'

उत्तर सुनकर पहले राजेश्वरी ठिठक गई। 'लो इस बार तो 'तुम' पर भी आ गए।' फिर क्षिप्रगति से लाल होकर बोल उठी—"आपको मुझसे किसी प्रकार की आशा करने का प्रयोजन ?"

विजय को ऐसा प्रतीत हुआ मानो उसे सांप ने डस लिया हो। आंगन से चलकर कमरे के भीतर जाना दुष्कर हो उठा।

राजेश्वरी कथन के पश्चात् बिना रुके भीतर चली गई थी।

विजय उदास-उदास, मरा-मरा-सा, नतशिर होकर भीतर जाते हुए सोचने लगा —'इसमें अमृत नहीं विष है; संस्कृति नहीं उद्दण्डता है; शोभा नहीं, फूहड़-पन है। यह इस योग्य भी नहीं कि कभी इससे बोला भी जाए। एक पन्ना है, जो बात करती है, तो ऐसा जान पड़ता है मानो फूलों के दल बिखर रहे हों।'

दिन-भर विजय पर एक प्रतिक्रिया छाई रही। — कहीं खड़े होने की जगह नहीं है। सारा का सारा पथ कंटकों से घिरा हुआ है। माना कि राजपथ नहीं, पगडण्डी है, फिर भी इतनी ऊंची-नीची भूमि कि पैर ऊचा-खाली पड़ ही जाए।

नयनतारा भोजन के समय सदा साथ देती थी। कभी वकील साहब भी साथ बैठ जाते थे। किसी तरह दिन पार हुआ। खोया-खोया-सा विजय जब किसी अवसर पर न बोला, तो नयनतारा ने पूछा—"भैया, बात क्या है, जो तुम आज कुछ बोल नहीं रहे हो ?"

इस समय विजय को अपना सिर बड़ा भारी लग रहा था। जान पड़ता कि जैसे उसकी आंखें ज्योतिविहीन हो गई हों। अवसादसिक्त वाणी में अपने मन को समझाता-सा बोला—"कोई बात नहीं, सोना परखने में कभी जो मुलम्मा सामने आ जाता है तो मान्यताओं के साथ-साथ चित्त की वृत्तियों और रुचियों में भी विपर्यय हो ही उठता है।"

कहने को तो विजय कह गया, किन्तु इससे उसकी पुरुष-प्रकृति को संतोष न हुआ। उसकी अवमानना प्रतिकार चाहती थी। उसका पुरुष-स्वभाव समर्पण का भूखा था। उसे अपने चारों ओर प्रश्न ही प्रश्न दिखाई देने लगे। एक ही प्रकार के, एक-सी ही शब्दावली में, जिनका एकमात्र भाव होता—प्रतिकार, प्रतिकार।

नयनतारा विजय के उस घायल क्रोध की मूक अभिव्यक्ति से सहमत-सी

बोली—"आज फिर कहीं कोई ऐसी बात हो गई क्या भैया ?"

नि:श्वास दबाते हुए विजय बोला—"नित्य ही होती रहती है; आज कोई विशेष बात नहीं है।"

उपाध्यायजी को इधर कुछ दिनों से उपस्थित प्रसंग के विपक्ष में बोलने का अभ्यास पड़ गया था। खाते-खाते एकाएक मुंह उठाकर बोले—"मुलम्मा भी अपना एक महत्त्व रखता है, माई लॉर्ड। यह मुलम्मा ही है जो सोना धारण करने वालों को उत्साह, सन्तोष और गर्व प्रदान करता है। स्वर्ण जहां पारस्परिक स्पर्धा, वैमनस्य, विश्वासघात और द्वेष का मूलाधार है, मुलम्मा वहां पर शान्ति, सहयोग, सख्य और एकता का। सोना अगर मुलम्मा पर हंस सकता है, तो मुलम्मा भी इस जनवादी युग में सोने पर हंसने का अवसर पा सकता है। सच पूछिए तो, माई लॉर्ड, मुलम्मे ने साधारण जनता को सन्तुष्ट कर उसके विद्रोह को दबाने में बड़ी सफलता प्राप्त की है।"

"पर मामाजी, यहां आप यह भूल रहे हैं कि साधारण जनता के विद्रोह को दबाते रहने की यह प्रवृत्ति ही मध्यमवर्ग का वह कोढ़ है जो किसी इन्जेक्शन से शान्त नहीं हो रहा है। और तमाशा यह है कि निरन्तर संयम, त्याग और सेवा का कोरा उपदेश देने वाले हमारे नेतृत्वपंथी अधिनायक भी कार्य-कुशलता पर उतना विश्वास नहीं करते जितना अपनी उस सफाई पर, जो केवल यह व्यक्त करती है कि अपनी असफलताओं से हम अपरिचित नहीं हैं। अन्यथा जो अपराधी नहीं है, अथवा जिसको भविष्य में अपराधी प्रमाणित होने की आशंका नहीं है, उसको निरन्तर डंका पीटते रहने की क्या आवश्यकता है कि देखो हमने कितना बड़ा काम कर डाला है।"

"संसार में दोनों का अस्तित्व है, माई लॉर्ड।···और यह जो विभेद की लकीर है, वह कसौटी की देन ही नहीं, उसका दोष भी है। रुचियों और मान्यताओं की सहृदयता-विहीन कठोर दृष्टि का ही दुष्परिणाम है जो मुलम्मा घृणा की दृष्टि से देखा जाता है। नहीं तो, जिसको तुम टांका कहते हो, माई लॉर्ड, यह भी मुलम्मों का ही गुण और कर्म है। टांका यदि न हो तो सोने का सारा व्यापार ही चौपट हो जाए। नयनतारा से पूछो, उसकी मामी के लिए बिना टांके के मैंने जो भी आभूषण बनवाए, उन्होंने समय-समय पर कितना मज़ा पैदा किया?" फिर एकाएक सावित्री की ओर देखते-देखते बोले—"क्यों माई लॉर्ड?"

इतने में कौर निगलती हुई सावित्री हंस पड़ी। बोली—"मेरे कान की एक झुमकी तीन बार टूटी और गले की एक जंजीर एकाएक उस समय टूटकर रास्ते में गिर पड़ी थी जब मैं सखी के यहां निमन्त्रण में जा रही थी।"

मामी की बात सुनकर उबलते हुए मन से विजय ने केवल इतना कह दिया—"हो सकता है।"

विजय पुन: अपने में डूब गया। उसने कहा था—'आपको मुझसे किसी प्रकार की आशा रखने का प्रयोजन?—ठीक है। मेरी कोई आशा नहीं है; मैं आशाहीन व्यक्ति हूं। मेरा कोई प्रयोजन नहीं है, मैं प्रयोजनहीन व्यक्ति हूं। मेरी कोई आवश्यकता नहीं है; मैं आवश्यकताहीन व्यक्ति हूं!···तब तो अब आगे मुझे भोजन करने की भी आवश्यकता नहीं है।'

एकाएक गिलास विजय के हाथ में आ गया। खाना बन्द कर दिया उसने। आश्चर्य के साथ नयनतारा बोली—"भैया, तुमने तो खाना बन्द कर दिया?"

आचमन के लिए तुरन्त उठकर विजय ने उपाध्यायजी के मुंह पर कह दिया—"क्योंकि मुलम्मे का सोने से कहीं अधिक मूल्य है। क्योंकि बहस में ज़ोर कम और माई लॉर्ड में अधिक है।"

उसका इतना कहना था कि उपाध्यायजी, सावित्री और नयनतारा सबके सब एकदम हंस पड़े।

विजय जब आचमन कर रहा था, हंसी का स्वर तब भी उसके कानों में गूंज रहा था।

अप्रतिभ उपाध्यापजी झेंप मिटाने के लिए कौटुम्बिक पद मर्यादा की घिसी-पिटी प्रभुसत्ताजन्य कृत्रिम गम्भीरता ज्ञापित करते हुए बोले—"बस, यही इसकी सबसे बड़ी कमज़ोरी है कि अपने विरुद्ध यह कोई बात सहन नहीं कर सकता। यह दुर्गुण है, माई लॉर्ड।"

नयनतारा को विजय की इस स्थिति पर तरस आ गया। उसने मुस्कराते हुए उत्तर दिया—"आप भी तो मामा, सदा विपक्ष में ही बोलने लगते हैं।" सावित्री का हंसना अपनी मुस्कान पर आ गया था। उसने कह दिया—"अगर कोई भगवान राम की महिमा गाने लगे, तो ये झट रावण की प्रशंसा के पुल बांध देंगे। मगर विजय को बुरा तो न मानना चाहिए था। क्या वह इनके स्वभाव को जानता नहीं?"

"जानने न जानने का विजय भैया पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता।" नयनतारा ने भोजन समाप्त करते हुए उत्तर दिया—"वे तो केवल चित्त की वृत्ति को देखते हैं।"

सावित्री और उपाध्यायजी उठ खड़े हुए। नयनतारा आचमन के पश्चात् विजय के निकट जाती हुई सोचने लगी—'पता नहीं किस प्रसंग से भैया ने यह बात कही कि सोना परखने में कभी जो मुलम्मा सामने आ जाता है··· ! पता नहीं, आज ऐसा कौन-सा मुलम्मा उनके सामने आ गया ! कोई ऐसा बाहरी व्यक्ति भी मेरे घर में नहीं आया जिसके विषय में कहा जा सके कि वह सोना नहीं मुलम्मा है।' फिर वह जो विजय के निकट जा पहुंची तो यह देखकर स्तम्भित हो उठी कि वह अपना होल्डाल ठीक कर रहा है ! आश्चर्य के भाव से उसने कह दिया—

"अरे तुम तो होल्डाल संभालने लगे भैया !"

"हां, सोचता हूं, अब मैं चला ही जाऊं।"

"तुमने तो कहा था कि इस बार सात-आठ दिन ठहरूंगा। इसीलिए मैंने राजेश्वरी का कोई संगीतात्मक कार्यक्रम नहीं रक्खा। मैं सोचती थी—आगामी रविवार को रखना ठीक होगा।"

"पर तुम यह नहीं सोच सकतीं कि मेरे साथ जिस व्यक्ति का कोई प्रयोजन नहीं, उसके किसी कार्यक्रम के साथ मेरा क्या प्रयोजन हो सकता है ?"

अब नयनतारा का संदेह दृढ़ हो गया कि ग्रन्थि कहीं है अवश्य। विश्वविद्यालय के अनुभव से वह जानती थी कि राजेश्वरी कभी किसी छात्र की ओर दृष्टि नहीं डालती। उसे इस बात का भी ज्ञान था कि अप्रासंगिक रूप से बीच में बोल उठने पर वह कितने ही छात्रों को निरुत्तर, अवाक् और हतप्रभ कर चुकी है। अतएव यह समझने में उसे देर न लगी कि इस प्रतिक्रिया के मूल में राजेश्वरी का कोई कटु व्यवहार अवश्य है।

यह एक ऐसा विषय था, जिसमें नयनतारा विवश थी। एक राजेश्वरी की बात न थी। यह तो उन सम्पूर्ण नवयुवतियों का वर्गगत प्रश्न था, जो वयस्क हो जाने के कारण अपने व्यक्तित्व को अति आरक्षित विषय बनाए हुए थीं। स्वयं अपने सम्बन्ध में भी उसकी यही नीति थी।

अब नयनतारा को धीरे-धीरे उन सभी प्रसंगों का स्मरण हो आया, जिनमें उसने कभी-कभी विजय के सम्बन्ध में उससे थोड़ी-बहुत चर्चा की थी।

एक बार उसने कहा था—'वे हैं तो ठिगने कद के दुबले-पतले, एक साधारण स्तर के युवक-मात्र, पर हैं अत्यन्त मेधावी। आंखें बहुत बड़ी नहीं, फिर भी उनकी दृष्टि-शक्ति बड़ी अन्तर्मुखी है। उनमें सामञ्जस्य नहीं, पर व्युत्पन्न मति बड़ी प्रखर है।' मेरी इस बात को वह धैर्यपूर्वक सुनती रही, जब मेरी बातें पूरी हो लीं, तब उसने केवल इतना कह दिया था—'होंगे।'

'फिर कुछ दिनों के बाद उसने टंकित पाण्डुलिपि में एक पुस्तक देखी; ट्रायल्स एण्ड टार्चर्स। वह उसे पाकर पढ़ने में आत्मविभोर हो उठी। जब मैंने उसे खाना खिलाया, तब भी उसके एक पृष्ठ पर वह दृष्टि गड़ाए रही! उसके बाद मेरे पलंग पर लेटी हुई उसे पढ़ती रही। धीरे-धीरे रात के साढ़े आठ का समय हुआ। चलने लगी, तो पूछा—मैं इसे लेती न जाऊं? कल वापस कर दूंगी। मैंने यह जानते हुए भी मना नहीं किया कि भैया सुनेंगे तो क्या कहेंगे; पता नहीं किस समय मांग बैठें। पर वह दूसरे ही दिन पुस्तक साथ ले आई। घंटे-भर बैठी मनोविनोद करती रही। अन्त में जब चलने लगी, तो बोली—अगर इस पुस्तक को मैं अपने पास रख लेती, तो? तो मैंने कह दिया था—मैं जानती थी, राज अपने वचन का मूल्य जानती है। इसपर कहने लगी—अगर आज फिर ले जाऊं, तो? मैंने कह दिया—लेती जाओ न। इसपर वह हंस पड़ी थी और कटाक्ष करती हुई कहने लगी—फिर अगर इसको सदा के लिए अपने पास रख लूं—लौटाने का नाम न लूं तो? मुझे कहना पड़ा—तब मुझे भैया से पूछना पड़ेगा। बस इसी बात पर वह गम्भीर हो गई। उसने उत्तर दिया—किसीसे पूछने की आवश्यकता नहीं।'

नयनतारा सोचने लगी—'जिस लड़की को किसीकी इतनी कृतज्ञता भी स्वीकार नहीं, किसीके साथ सम्पर्क स्थापित करने की बात उससे कैसे की जा सकती है।' उसे ध्यान हो आया, 'इतने पर भी मैंने कहा था—पर जब वे मेरे भाई हैं, तब उनसे पूछने में क्या बुराई है! तब उसने मुंह बनाकर कह दिया था—पर ऐसा प्रयोजन ही क्यों उठे? स्वयं मुझे उसकी यह अहम्प्रेरित अन्यमनस्कता अच्छी नहीं लगी। मेरे मन में आया भी कि यहीं चुका दूं—तब फिर उस व्यक्ति की पुस्तक को हाथ से छूने का ही क्या प्रयोजन था?—पर शिष्टाचार के विचार से मैंने ऐसा नहीं कहा···तो इस व्यवहार के मूल में अवश्य कोई रहस्य है।'

नयनतारा ने उत्तर दिया—"मेरा ऐसा अनुमान न था। पर अब वस्तुस्थिति

मेरी समझ में आ गई।"

इतने में सावित्री आ पहुंची। विजय सूटकेस हाथ में लिए तैयार खड़ा था। झुककर उनको नमस्ते करने लगा। नयनतारा बोली—"मैं भैया से अभी यही कह रही थी कि ऐसी जल्दी क्या है? दो-एक दिन तो और ठहरो।"

विजय के सिर पर हाथ रखती हुई सावित्री बोली—"सुखी रहो। और हां विजय बेटा, बुरा न मानना। उनकी बातें सदा ऐसी ही विरोधमयी होती हैं। वे सदा उल्टा ही पक्ष लेते हैं। हमको तो सुनने की आदत पड़ गई है। वैसे आज फिर उन्होंने कहा कि अब भी कुछ नहीं बिगड़ा। दो वर्ष-मात्र लगेंगे कानून की पढ़ाई में। उसके बाद जीवन-भर आनन्द ही आनन्द भोगना होगा।"

'जीवन-भर आनंद ही आनंद भोगना है'—मामी के मुख से मामा की आश्वासन-भरी वाणी सुनकर विजय मर्माहत हो उठा। चपेट खाकर गिरता-गिरता बचता पीड़ा से तिलमिलाता हुआ विजय सिर ऊपर उठाकर बोला—"ऐसा भाग्यशाली मैं कहां हूं मामी! ऐसा ही कुछ बनना होता, तो क्या बाबू का स्नेह खोकर दर-दर मारा-मारा फिरता? लेकिन फिर यही सोचकर संतोष कर लेना पड़ता है कि मुलम्मा होकर निरन्तर प्रवंचना की कमाई खाने की अपेक्षा यह आवारगी फिर भी अच्छी है। शरीर का सुख न सही, पर आत्मीय संतोष रहता ही है।"

सुनकर सावित्री अवाक्-अवसन्न हो उठी। तत्काल समझ गई कि विजय स्वामी की बात का ही ऐसा तीव्र उत्तर दे रहा है।

बड़ी अम्मा, मामी और मामा का संरक्षण उसका अवलम्ब था। उन्हींके विश्वास पर उसके पिता कीर्तिदेव और मां ने वहां पढ़ने के लिए छोड़ रखा था। अतः भाई का यह कथन सुनकर नयना एकाएक घबरा उठी। बोली—"तुम कुछ भी कहो भैया, पर कल राखी का दिन है और आज तुम यहां से चले जाओगे तो मामी और मामा को तुम्हारी ज़िद्द पर भले ही समझौता कर लेना पड़े; और बड़ी अम्मा, माना कि तुम्हारे मामले में कभी दखल नहीं देतीं, पर मैं किसी प्रकार अपने-आपको न समझा सकूंगी।" कथन के साथ नयनतारा की आंखों से दो बूंद आंसू छलक पड़े।

यह एक ऐसी बात थी कि जिसने विजय को विचार में डाल दिया।

सावित्री को भी बोलने का अवसर मिल गया—"मुझे तो ऐसा दिखाई दे रहा है विजय कि तुम ऊपर ही ऊपर तैरते रहते हो, गहराई की ओर तुम्हारा

ध्यान नहीं जाता। वे तुमको कानून की पढ़ाई में स्वयं खर्चा देने तक को तैयार हैं और तुम्हारा यह हाल है कि तुम सोना और मुलम्मे वाली बातचीत में अपने मानसिक द्वन्द्व से ही मुक्ति नहीं पा रहे हो। छोड़ो इस निकम्मी बहस को। खाना खाकर आए हो, अब आराम करो। ऐसा ही है तो कल नयनतारा की राखी का सगुन करके चले जाना।"

और भी एक बात थी। विजय ने चलने की तैयारी तो कर डाली थी, पर मार्ग-व्यय के लिए भी उसके पास रुपये न थे। इधर कुछ दिनों से नयनतारा ही उसका खर्च चला रही थी। जब कभी वह जाने लगता, तब वह एक हरा-नीला नोट उसकी जेब में चुपचाप डाल देती थी। विजय ने एक बार जो लेने से इंकार किया तो उसने कह दिया —"लड़ाई-झगड़ा तुम्हारा बाबू से है। लेकिन मैं ठहरी तुम्हारी बहन, सो भी एकमात्र। अतः मैं अगर तुम्हें कोई वस्तु देना चाहूंगी, तो तुम इन्कार कैसे करोगे भला ?"

उस समय वही बहिन एक ऐसे दिन की प्रतीक्षा में जाने से रोक रही थी, जो उसीके लिए बनाया गया है। सहस्रों वर्षों से चली आ रही पावन राखी-परम्परा के महत्त्व की उपेक्षा वह कर ही कैसे सकता था ! अतः चारों ओर से वह इतना घिर गया कि उसे पलंग पर लुढ़कते मन मारकर कहना ही पड़ा —"अच्छी बात है। कल ही सही।"

तब सावित्री प्रसन्नमुख बोली —"हां, यह एक बात हुई भले और बुद्धिमान लड़कों की सी। आज अगर तुम कहीं ज़िद में आकर चले जाते, तो सच कहती हूं विजय, सबसे ज्यादा दुःख उन्हींको होता। रात में किसी तरह उन्हें नींद न आती। अरी नयना, भैया के लिए दूध का ध्यान रखना। जाती हूं अब; शान्त मन से एक माला और फेर डालूं।"

कथन के साथ सावित्री चल दी। तभी नयनतारा उसे सौ रुपये का नोट देती हुई बोली—"देर से मैं यही सोच रही थी कि कब मैं ये रुपये तुम्हें देने का अवसर पाऊं।"

इस बार विजय के होंठों पर भी मुस्कराहट झलक उठी। बोला—"पर ये सारे के सारे रुपये तो कल तुम्हारी राखी पर चढ़ जाएंगे नयना। मैं फिर मोची का मोची रह जाऊंगा।"

"ऐसा न कहो भैया; भगवान चाहेगा तो बहुत कमाओगे। उस समय मैं स्व

तुमसे मांग लूंगी। इतना मुझे विश्वास है कि तुम इन्कार न कर पाओगे।"

इतने में बड़ी देर का अवरुद्ध आंसू एकाएक विजय की दाईं आंख से ढुलक पड़ा। तभी उसने रूमाल से पोंछते-पोंछते आर्द्र कण्ठ से प्रश्न कर दिया—"ऐसा दिन आएगा भी या नहीं, कौन कह सकता है?"

"मैं कह सकती हूं भैया। मुझे पूरा विश्वास है कि वह दिन आकर रहेगा।"

नयनतारा का इतना कहना था कि कल्याणी ने आकर कह दिया—"कोई ठाकुर कर्तारसिंह हैं, विजय?"

"है तो अम्मा। मिलने का पता देते समय शिकार के लिए मैंने उनके साथ चलने का वचन दिया था।"

आश्चर्य में हास का पुट देकर कल्याणी बोली—"तो अब तुम शिकारी बनोगे! ठीक है। जीवन में कोई प्रयोग बाकी न रखना। खैर, वे बाहरी बैठक में हैं। उनसे बात कर लो।"

विजय जब कर्तारसिंह से मिलने को बाहरी बैठक में जाने लगा, तब वह पुनः मन ही मन अपनी मूल समस्या पर आ गया—'मैंने किसीका अपमान कभी सहन नहीं किया। मैं इस अपमान को भी किसी प्रकार सहन न करूंगा। मुझे प्रतिकार चाहिए—मैं प्रतिकार का पक्षपाती हूं।'

राजेश्वरी का निर्माण कुछ ऐसे ढंग से हुआ था कि जब वह कोई एक निश्चय कर लेती, तो उससे विरत होना उसके लिए दुष्कर हो जाता था। अपने आचार्य-शिक्षकों तक का पक्षपात तो वह चाहती न थी, फिर छात्रों की परवाह वह क्यों करती? एक दिन कहीं प्रोफेसर एस० लाल ने उससे कह दिया—"आपका निबन्ध मनुष्य की साधारण दुर्बलताओं पर अच्छा प्रकाश डालता है, इसमें सन्देह नहीं; पर जब तक कोई व्यक्ति किसीसे कोई आशा रखता-रखता निराश नहीं हो जाता, तब तक उसके प्रति विरक्ति अथवा उपेक्षा तभी प्रकट करता है जब अपनी मान-मर्यादा और प्रतिष्ठा को उसकी सामर्थ्य की सीमा से कहीं उच्च, यहां तक कि सर्वथा अक्षुण्ण समझ बैठता है। यही वह स्थिति है जब वह अहंवादी हो उठता है। और उस स्तर का अहंवाद तो प्रकारान्तर से हिंसा की उस श्रेणी में आ जाता है जो मानवीय समवेदनाओं तक की उपेक्षा केवल इस आधार को लेकर

करता है जो उस समय के वातावरण का ही नहीं, अगम वर्जनाओं और कुण्ठाओं की प्रतिक्रियाओं को तृप्ति देने का कारण हुआ करती है।"

राजेश्वरी प्रोफेसर एस० लाल की इस टिप्पणी पर मर्माहत हो उठी थी। कपोलों पर लाली छा गई और अधर फड़क उठे थे। बाईं ओर की भृकुटि प्रत्यंचा-सी तन गई थी और उसने उत्तर में कह दिया था— "अहंकार चाहे योग्यता का हो, चाहे रूप और प्रतिभा का, पद का हो या पृथुल वैभव का, कभी अव्यक्त होकर नहीं रह सकता। यदि एक ओर वह मानवीय समवेदनाओं की उपेक्षा के कारण हिंसा की संज्ञा पा सकता है, तो दूसरी ओर उसकी तेजोमयी उदात्त और ज्वलन्त प्रकृति का पृष्ठ-पोषक भी होता है। अहंकार के बिना न कोई प्रतिभा पनप सकती है, न कोई प्रबुद्ध अभिजात्य सुरक्षा का पावन संबल पा सकता है।"

तब उसे विजय के प्रति अपने व्यवहार के औचित्य पर एक गर्व का अनुभव हुआ। उसका मन जो थोड़ा-बहुत कुण्ठित हो गया था, उसपर आत्मतुष्टि की एक लहर दौड़ गई। वह अपने-आप मुस्करा उठी। उसे बोध होने लगा —'मैंने आज एक ऐसे व्यक्ति को अभिभूत किया है जो पुंगवता में अपने-आपको अर्जुन से कम नहीं समझता।'

टेबल पर लैम्प जल रहा था। उसके बुक-शेल्फ में टाइप की हुई 'ट्रायल्स एण्ड टार्चर्स' पुस्तक रखी जगमगा रही थी। पलंग पर लेटकर एक बार उसने अपने पैर एकदम सीधे कर लिए। करवट बदलकर उसने बाईं ओर की पाटी पर हाथ रख लिया। ब्लाउज़ का चुटपुटिया बटन एकाएक जो चटक गया, तो वह अपने-आप मुस्करा उठी। झट उसने उसे पुनः यथावत् जोड़ लिया। पद-नख लालिमा से रंजित हुए कई दिन के हो गए थे। उठकर उनपर पुनः पालिश कर ली। स्कन्धमूल में लोमावलि कुछ स्पष्ट हो उठी थी, उसे साबुन से तुरन्त स्वच्छ कर लिया। फिर उसे सुगन्धपूरित पाउडर से सुवासित कर एकदम से दर्पण के सम्मुख हो मन ही मन कहने लगी—'आज उसे पता चला होगा कि प्रथम साक्षात्कार के क्षण राजेश्वरी को 'राज' मात्र कह डालना सभ्यता नहीं धृष्टता है। - मैं तुमसे ऐसी आशा नहीं रखता था। वह मुझसे कोई आशा रखने वाला होता कौन है! राजेश्वरी किसी साधारण स्तर के व्यक्ति की आशा बनेगी! छिः!'

८

ब्रजमोहन ने विजय के आगे एक सिगरेट उपस्थित करते हुए कहा— "यहां इस मुहल्ले में कैसे···"

विजय ने निःश्वास दबाते हुए उत्तर दिया—"अपना कोई जहां होता है वहां जाना ही पड़ता है। यहां मेरे एक आर्थिक जीवन के मित्र रहते हैं। आवश्यकता पड़ने पर अगर कभी हाथ उठाकर कुछ दे देते हैं, तो न फिर उसे वापस चाहते हैं और न उसका किसी रूप में कोई प्रतिदान। आप उन्हें नहीं जानते।·· सिगरेट दे दिया मगर जलाया नहीं।"

ब्रजमोहन के होंठों पर मुस्कराहट खेल गई। उसने लाइटर का बटन दबाते हुए उसकी लौ को सिगरेट के छोर पर लगा दिया। इसके बाद उसीसे उसने अपनी सिगरेट भी सुलगा ली।

विजयदेव ने मुस्कराते हुए कह दिया—"एक ही लौ इसी तरह न जाने कितनी सिगरेटें जला सकती है। लाइटर में शक्ति-भर होनी चाहिए।"

ब्रजमोहन ने कहा—"अब चलोगे या यहीं खड़े-खड़े भाषण देना शुरू कर दोगे ?" फिर बाईं ओर संकेत कर पूछ लिया—"हरी-हरी घास की यह सुगन्ध जान पड़ता है, बड़ी प्यारी लगती है तुमको ?"

विजय धुआं उड़ाता हुआ आगे बढ़ गया। ब्रजमोहन ने कहा— "मुझको तो आज दौरे पर जाना है, इसलिए मैं तो यहां इस चौराहे से अलग हो जाऊंगा। नौ की गाड़ी मुझे पकड़नी है। तुम ज़रा गोविन्द बाबू के यहां हो लेना। तुम जब चले गए तो पन्ना तुम्हें पूछने आई थी।"

सदा की भांति विजय ने किसी आकर्षणवश साधारण बात से भी प्रभावित हो उसका कोई अर्थ लगाते हुए तुरन्त यह नहीं कह दिया—'अच्छा ! पन्ना मुझे देखने आई थी ?' वरन् एक उचटती हुई भावना से बोला—"आई होगी। मैं अब उन लोगों के साथ अपना कोई सम्बन्ध नहीं रखूंगा।"

ब्रजमोहन बिगड़ उठा। बोला—"देखो विजय, हमसे बहुत बना न करो। बाप से लड़ाई, पूत से सगाई। गोविन्द से तुम्हारे लाख मतभेद हों, लेकिन पन्ना और शची दोनों तुम्हारा कितना आदर करती हैं, इसको मैं जानता हूं, गोविन्द जानता है और तुम जानते हो। जाओगे तुम ज़रूर, चाहे मेरे कहने से न जाओ।

मुझे सब पता है।"

कथन के साथ ही अपने आवास की चाबी विजयदेव को देता हुआ ब्रजमोहन पुनः बोला —"लो ये चाबियां, जब तक मैं न लौटूं, तुम वहीं विश्राम करना।" और दाईं ओर एक सजा हुआ, बिलकुल नया रिक्शा देखकर कह दिया —"ठहरो।"

रिक्शा ठहर गया और ब्रजमोहन उसपर बैठता हुआ बोला—"स्टेशन।"

विजय अब चौराहे पर चुपचाप खड़ा था। लगातार मोटर, ट्रक, इक्के और रिक्शे आ-जा रहे थे। पुलिस कांस्टेबिल एक इक्के वाले को गाली देकर हलके से उसकी पीठ पर बेंत जमा रहा था। फुटपाथ पर टीन की पालिश की हुई पुरानी तश्तरियों में रमज़ानी अपने ग्राहकों को फिरनी दे रहा था। बस-कण्डक्टर द्वार के पास खड़ा व्हिसल दे रहा था, और रास्ते का अंधा भिखारी लकड़ी से सड़क की जमीन को टोहता हुआ पूछ रहा था—"परेड को किधर से मालिक?"

विजय ने देखा, भिखारी का पैर एक भीगी और मरी हुई बिल्ली पर पड़ जाएगा तो झट से आगे बढ़कर उसकी लाठी पकड़कर ऐसे स्थल पर कर दिया, जो सम्यक् निरापद था। साथ ही कह दिया—"बहुत बच गए भाई, नहीं तो मरी बिल्ली पर पैर जा पड़ता।"

भिखारी लाठी आगे बढ़ता हुआ आश्चर्यमयी वाणी में बोला—"मरी बिल्ली पर?" फिर स्थिर होकर बोला—"तो क्या होता? एक जानवर मर गया है, दूसरा भी अधमरा है। हम लोगों की जिन्दगी कोई जिन्दगी है?"

विजय उसे देखता रह गया। मन में आया— 'हमें इस वर्ग की ओर भी देखना है।' अब वह अपने-आपसे पूछने लगा —'गोविन्द के यहां जाऊंगा, तो मेरा मन फिर दुखी हो जाएगा। लेकिन ऐसा भी तो हो सकता है कि मैं साफ-साफ कह दूं कि मैं आपसे नहीं, पन्ना से मिलने आया हूं— और हां, शची भाभी से भी।'

इतने में नम्बर नौ की बस दिखाई पड़ गई। तब लपककर वह उसीमें बैठ गया।

विजय सदा कर्मशील क्षणों में अपनी आर्थिक गतिविधि के प्रति सजग रहता था। अतः बैठते ही उसने पैण्ट की बायें जेब में हाथ डालते हुए देखा कि एक चवन्नी के साथ एक खाली पेट वाला एक पैसा पड़ा है। मन में आया—'एडवर्टाइजिंग एजेन्सी के एक विज्ञापन की बनवाई के जो बीस रुपये मिलने वाले थे, आज अगर वही मिल जाते तो लाण्ड्री से कपड़े ले लेता और जूते का घिसा हुआ तला

भी बनवा लेता। लेकिन उस बड़ी नाक वाले ने पहली तारीख पर टाल दिया। खैर, चार दिन बाद पहली तारीख भी आती है। इस बार भी अगर न दिया तो देखूंगा।'

इतने में कण्डक्टर आ गया। टिकट की गड्डी सामने करता हुआ बोला—"कहां जाइएगा ?"

विजय ने उसे चवन्नी देते हुए उत्तर दिया—"कटरा।"

कण्डक्टर ने चिह्नित स्थानों को फाड़कर टिकट दे दिया, तो विजय उसे जेब में रखते हुए बोला—"बाकी के मेरे छः पैसे, मुझे अभी लौटा दीजिएगा।"

"अभी लीजिए, साहब। थोडा सब्र कीजिए। छः पैसे अपने पास रखकर जायदाद खड़ी न कर लूंगा।"

विजय ने उत्तर दिया—"ज़्यादा पैसे इस वक्त जेब में हैं नहीं, कामरेड। नहीं तो माफ कीजिएगा, आप न सही आपके दूसरे साथियों को दो-चार बार पैसे रख लेने का मौका जान-बूझकर दे चुका हूं। अदाब अर्ज़।"

कण्डक्टर ने पैसे वापस देते हुए उत्तर दिया—"हो सकता है, हो सकता है, जिस तरह कभी-कभी मुझे दो-चार आने अपने पास से दे देने पड़ते हैं।"

इतने में बड़ा चौराहा आ गया। बस खड़ी हो गई। सलवार और चुन्नी की वेश-भूषा में कई नारियां एकसाथ आ पहुंचीं। विजय की भूखी आंखें क्रम-क्रम से सबके मुखों को देखने लगीं। पहली एक तो कलूटी, दूसरे स्थूलकाय थी। दूसरी देह-यष्टि में सम्यक् तन्वंगी, किन्तु कलहासिनी; अपनी जगह स्थापित होती हुई भी हास बिखेरती जान पड़ी। तीसरी श्वेतकेशिनी गोरी। चौथी पूर्ण रूप से सुगृहिणी। कदाचित् पहला बच्चा गोद में।

विजय सोचने लगा—'उंह, दुनिया है। अपने को क्या ?…फिर मुझे कमी क्या है? अन्तर इतना ही है कि किसीके हाथ की चाय पीने को मिल गई, किसीने पकौड़ियां खिला दीं; किसीने भोजन के लिए पूछ लिया और किसीने यह कहकर टाल दिया कि भाई साहब घर में नहीं हैं।—प्रश्न यह है कि मेरे लिए दुनिया में क्या है ?'

जैसे रील चल रही हो। कई साथी आए और गए। एक सफेदपोश जो पहले डंडा थामे खड़े थे, जगह पाकर बैठे, तो सिनेमा की एक मासिक पत्रिका के पन्ने उलटने लगे।

कण्डक्टर ने पास आकर कहा—"कहां जाना है ?"

"अरे साहब, मैं टिकट ले चुका हूं।"

"दिखलाइए।"

उन्होंने यह जेब देखा, वह जेब देखी। एक बार देख लेने पर फिर दुबारा देखने लगे। कण्डक्टर यह कहकर आगे बढ़ गया कि इतमीनान से खोज लीजिए।

विजय बोल उठा—"जान पड़ता है, कहीं गिरा दिया श्रीमान ने।" और कथन के साथ एक दुअन्नी-भर मुस्कराहट भी उसके होंठों पर आ गई।

वे महाशय बोले—"मुझे भी ऐसा ही जान पड़ता है।" और कथन के साथ फिर मासिक पत्रिका के पन्ने उलटने लगे।

इतने में कण्डक्टर पुनः निकट आकर बोला—"कहिए साहब, टिकट मिला?"

उन महाशय ने उत्तर दिया—"टिकट तो नहीं मिला।"

कण्डक्टर बोला—"फिर लाइए, चार आने पैसे दीजिए।"

आश्चर्य के साथ वे महाशय बोले—"चार आने?"

"जी, स्टेशन से चार्ज होगा आपका।"

"स्टेशन से?"

"जी, यही कायदा है। लाइए, लाइए, जल्दी कीजिए।"

"मगर मेरे पास अब न पैसे हैं, न रुपये हैं; सौ रुपये का नोट है।"

कण्डक्टर ने सीटी दी। बस खड़ी हो गई, तो उसने कह दिया—"तशरीफ ले जाइए। आप जैसे लोगों के लिए घर की या किराये की कारें बनाई गई हैं। बस में बैठिएगा, तो शान चली जाएगी।"

महशय उठ खड़े हुए। बोले—"क्या कहा, फिर तो कहना।"

कण्डक्टर बोल उठा—"बस, अब चुपचाप चले ही जाइए।"

सहयात्री आपस में कानाफूसी करने लगे—"सौ रुपये का नोट जेब में डाल कर चलते हैं और इसी धौंस में टिकट भी नहीं लेते।"

एक कहने लगा—"अरे साहब, सौ रुपये का नोट हो भी जेब में! कोरी रंगबाजी है।"

वे महाशय बस से उतरते हुए भी जेबें टटोलने लगे थे। विजय ने इस समय पूछ लिया—"आपका शुभ नाम बाबू साहब?"

वे महाशय घूरकर उसे देखने लने। तपाक से बोले—"आपसे मतलब?"

"ग्रा, यों ही याददाश्त के लिए कि शायद फिर कभी मुलाकात हो जाए।"

इसपर कई सहयात्री विजय के साथ ठट्ठा मारकर हा-हा-हा-हा हंस पड़े।

ग्रब ग्रा गया था बस-स्टाप। कई लोग उतरने लगे। उधर से ग्रा गई पन्ना—हंसमुख, ग्रांख नवल उत्साह से भरी हुई। मांग इतनी सीधी कि देर तक देखते रहो, केश इतने घने ग्रौर चिकने कि दृष्टि फिसल जाए।

पन्ना को टिकट देता हुग्रा कण्डक्टर विजय को लक्ष्य करके बोला—"लेडीज़ सीट खाली कर दीजिए महाशय।"

विजय सीट खाली करने के लिए जो उठकर खड़ा हुग्रा, तो पन्ना ने उसे पहचान लिया। बोली—"बैठे रहो, बैठे रहो विजय बाबू। दो की जगह है। मैं भी बैठ जाऊंगी।"

निकट स्थान ग्रहण करते-करते ग्राश्चर्यमयी दीप्ति, फिर सहसा प्रश्न—"कहां जा रहे हैं?"

मन ही मन मुस्कराता विजय सोच रहा था—'वाह क्या बात कही है!—'दो की जगह है, मैं भी बैठ जाऊंगी।'

विजय ने ज़रा घूमकर धीरे से उत्तर दिया—"ग्रापके ही यहां। ब्रजमोहन से मालूम हो गया था कि कोई मुझे पूछ रहा था।"

"कोई? खूब!" 'खूब' शब्द के कथन के साथ ऊपर के ग्रधर पर ज़ोर। फिर कहने लगी—"सुनती हूं, ग्राजकल लड़ाई-भिड़ाई का ग्रभ्यास बहुत बढ़ गया है?" कथन के साथ नीले-हरे-कत्थई वर्णों की छींट का रेशमी रूमाल मुंह पर ग्रा गया। फिर साड़ी से शरीर-सम्पदा को कुछ ग्रौर ग्रधिक ढकने की चेष्टा से ग्रंचल की खींच-तान।

विजय एकाएक गम्भीर हो गया। बोला—"हो सकता है, ग्रापका ग्रारोप सर्वथा निराधार न हो।...मगर ग्राप यहां कैसे ग्रा गईं?"

पन्ना पहले मुस्कराई, फिर संकुचित होती हुई बोली—"यहां एक मकान में श्रीमती पद्मा कौल रहती हैं। उन्हींसे मिलकर ग्रा रही हूं।"

"श्रीमती पद्मा कौल? मैंने कभी उनका नाम नहीं सुना।"

पन्ना ने यह नहीं बतलाया कि श्रीमती पद्मा कौल लड़कियोंके एक विद्यालय में प्रिंसिपल हैं।

विजय ने कहा—"पर ग्रापको तो गाड़ी में ग्राना चाहिए था? ग्रापके लिए

इस तरह बस में आना···?"

"बस में आना ही ठीक है। गाड़ी पर अपना वश क्या ? खाली मिली, न मिली। फिर हमको इसी समय मिलना था।···मगर आप भैया से भिड़ क्यों गए, यह मेरी समझ में नहीं आया।"

"सब समझ में आ जाएगा। हां, थोड़ी देर लग सकती है। लोगों को इस बात की परवाह नहीं है कि दूसरे कैसे रहते हैं, कैसे जीते हैं। मैं अगर मर भी जाऊं, तो मुझे पक्का विश्वास है, ऐसे लोग अपने सायंकालीन भोजन में एक भी टुकड़ा कम न खाएंगे। जब पारस्परिक मानवीय सहानुभूति इस सीमा तक गिर गई हो, तब जीवन का प्यासा मानव चुप कैसे रह सकता है ? जैसा व्यवहार उसके साथ किया जाएगा, वैसी ही उसकी प्रतिक्रिया होगी।"

विजय इतने धीरे-धीरे कह रहा था कि ज़रा भी उत्तेजना उसकी भाषा में लक्षित नहीं हो रही थी। तर्क के क्षण अवश्य उसका स्वर तीव्र हो उठता, पर विचार-विमर्श में ऐसा कुछ जान ही नहीं पड़ता था कि उसके भीतर कहीं अंगीठी भी धधक रही है।

"यहीं आप भैया के साथ अन्याय कर रहे हैं। आपको पता नहीं, वे आपका कितना आदर करते हैं। जब आप बिगड़कर चले गए, तब देर तक आप ही के विषय में चर्चा होती रही। आपने मेरी बात का भी कुछ ध्यान नहीं रखा। सेंव-इयां आपके भाग की बड़ी रात तक रखी रहीं। मुझे तो उनके खाने में कोई रस ही न मिला।"

पन्ना अपने कथन के अन्तिम वाक्य पर किञ्चित् संकुचित भी हो पड़ी।

"तब तो मुझे यह समझ लेने का अवसर है कि मैं बड़ा भाग्यशाली हूं।··· पर संसार ऐसा बन नहीं पाया कि जो इतना निकट हो वह अपना बन सके। बहुत-सी बातें हैं, जो कहते नहीं बनतीं और यदि कभी वाणी पर आ ही जाएं तो जीवन की मर्यादाएं कुंठित हो-होकर मन-प्राणों को नोचना प्रारम्भ कर देती हैं।"

"आप तो मुझे लज्जित कर रहे हैं।"

"मैं स्वयं लज्जित हूं। पर मुझे विश्वास है, आप बुरा न मानेंगी। आपका ही ऐसा एक घर था, जहां मुझे थोड़ी शान्ति मिलती थी। कभी जो लुढ़क रहता तो नींद आ जाती थी। अब वह भी छूट रहा है।"

"यह आप क्या कह रहे हैं ?"

"बिल्कुल ठीक कह रहा हूं। 'चले फिरे कुछ पाइए बैठे देता कौन ?'··· लेकिन ये पद्मा कौल कौन हैं ? उनसे क्या कार्य था आपका ? अनुचित न हो तो बतलाने में कोई हानि न होगी। बातों को पचा लेना मुझे आता है।"

"चलिए, अपना बस-स्टाप आ गया। रास्ते में बता दूंगी।"

बस खड़ी हो गई। दोनों आगे-पीछे होकर उतर पड़े।

पन्ना विजय को सुन्दर लगती थी। एक तो वह उतनी ही दुर्बल थी, जितनी दुर्बलता विजय को शोभन प्रतीत होती। यद्यपि उसकी हंसलियां किञ्चित् उभरी हुई थीं, किन्तु यौवन-सम्पदा में वह इतनी अग्रसर थी कि विजय अपना अस्तित्व ही नहीं, शिष्टाचार तक भूल जाने को अधीर हो उठता था। उसकी वाणी बड़ी संयत रहती थी, फिर भी वह सोचता रहता था—'अगर कभी असंयत भी हो जाऊंगा, तो यह मेरा अपमान नहीं करेगी।'—सदा उससे साक्षात्कार होते क्षण वह सोचता—'स्वप्न है। देखो, कितने दिन तक चलता है।'—किन्तु अब जीवन के सम्बन्ध में उसकी मान्यताएं एकदम से बदल रही थीं। वह मानने लगा था कि अमर और अनिर्वचनीय जीवन्त सौख्यानुभव के क्षण जीवन में होते ही कितने हैं ! जो थोड़े-से हैं भी उनकी भी यदि उपेक्षा करता रहूं, तो फिर जीवन का अर्थ ही क्या है ?

किन्तु जब विजय बस से उतरकर राजमार्ग पर आ गया, तब तक वह मन ही मन सोच यही रहा था कि प्रत्येक विषय में सफलता का एक समय होता है। जब लोग असफल होते हैं, तब इसी कारण कि या तो बात समय से पहले कह डाली जाती है, या उचित समय के बाद—जब अवसर आगे बढ़ जाता है। कदाचित् इसी कारण उसने कह दिया था कि आपका ही घर ऐसा था, सो भी अब छूट रहा है।

पन्ना उपस्थित विषय में कुछ कहने की स्थिति में नहीं थी। पद्मा कौल ने तब तक कोई स्पष्ट आश्वासन न दिया था। इतना ही कहा था—मैं प्रयत्न करूंगी।—अनेक बार उसके मन में आया था—'विजय के साधारण खर्च का कोई स्थायी प्रबन्ध होना चाहिए।' पर अब तक वह कुछ कर न सकी थी। इस बार जून मास के प्रथम सप्ताह में जब पत्रों में—कन्या माध्यमिक विद्यालय के लिए अंग्रेज़ी विषय की अध्यापिका की 'आवश्यकता' निकली तो पन्ना ने आवेदन-पत्र भेज दिया था। बात अभी पक्की न हो पाई थी। इसलिए इस विषय में कोई निश्चित

आश्वासन वह देना न चाहती थी। अत: जब पन्ना सड़क पर आकर विजय के साथ चल पड़ी तो वह असमंजस में थी। उसकी समझ में नहीं आ रहा था—क्या कहे, क्या न कहे।

इतने में विजय ने कह दिया—"बातें तो सब, मेरा ख्याल है, हो चुकीं। अब मैं लौट जाऊं तो आपको बुरा तो न लगेगा ?"

पन्ना स्तम्भित हो उठी। ठिठककर बोली—"क्या कया आपने ?"

विजय ने गर्व से मस्तक ऊंचा कर उत्तर दिया—"यही कि मुझे अब आज्ञा दीजिए। मैं कुछ कारणों से आपके यहां जा न सकूंगा।"

"पर आप जा तो रहे थे मेरे ही घर ?"

"जिसके लिए जा रहा था, उससे मिलना हो गया। जितना और जहां तक अपने-आपको गिरा सकता था, गिरा लिया। अब और ऐसा क्या शेष रह गया है जिसके मोह में विजड़ित होकर अपने को कृतार्थ समझने लगूंगा ?"

पन्ना एक बार विजय को एकटक देखती रह गई। एक क्षण···दो क्षण ! अन्त में बोली—"अगर आप जाना ही चाहते हों, तो मैं रोकूंगी नहीं ! इस अवसर पर कहने योग्य मेरे पास अगर कुछ होता भी, तो मुझसे रहा न जाता। केवल एक बात कहना चाहती हूं कि जहां कहीं भी रहें, मुझे अपना कुशल-समाचार देते रहें।"

विजय ने तब अत्यन्त संक्षिप्त भाषा में कह दिया—"यद्यपि मैंने किसीको आज तक कभी कोई वचन नहीं दिया। अगर कभी भूल से या प्रमाद से उल्टा-सीधा कह भी दिया है, तो उसपर बाद में कभी पश्चात्ताप भी नहीं किया। फिर भी मैं तुमको पत्र लिखता रहूंगा।"

तब पन्ना ने अत्यन्त विनीत और संकुचित होकर एक चिट में अपना पता इस भांति लिखकर दे दिया—

द्वारा श्रीमती पद्मा कौल,
एम० ए०, एल० टी०,
१७८ ए, लूकरगंज,
इलाहाबाद

विजय प्रसन्न था कि वह गोविन्द बाबू के घर नहीं गया। उसे इस बात पर

भी कम प्रसन्नता नहीं थी कि पन्ना ने कहा था कि आप जब नहीं आए तो सेंवइयां बड़ी रात तक रखी रहीं। – 'अकेली इस बात का मेरे लिए विशेष महत्त्व नहीं है। पर इससे संलग्न जो दूसरा वाक्य था—मुझे उनके खाने में कोई रस नहीं मिला—उसको सुनकर अवश्य ऐसा प्रतीत हुआ कि संसार को मेरी आवश्यकता है। मैं भी किसीकी रसोत्पत्ति का माध्यम हूं। अच्छा, क्या इससे यह विदित नहीं होता कि वह मुझे चाहती है ? फिर अगर मेरे साथ उसकी कोई ऐसी भावना नहीं है, तो उसने यह क्यों कह दिया कि जहां कहीं भी रहें अपना कुशल-समाचार देते रहें? अवश्य ही उसके मन में मेरे लिए स्थान है। —भ्रमर तुम मधु के चाखनहार'।

पैर आगे बढ़ रहे थे।—मगर प्रश्न यह है कि वह मेरा साथ क्यों नहीं देती? क्या मैं उसके एक चुम्बन के लिए भी महंगा था ? क्या वह मेरे साथ अकेली बैठकर कहीं खाना नहीं खा सकती थी ?···मेरा खाना,···किसी पार्क में ही बैठकर थोड़ी देर गप्प ही उड़ाई जाती ? किसी बेंच पर अकेले में उसके शरीर को गुदगुदा नहीं सकता था ?··· मगर नहीं, अभी मैं उसके साथ इतना आगे बढ़ कहां पाया हूं ? अभी मुझे उससे ऐसी आशा ही नहीं करनी चाहिए ?"

फिर मुट्ठियां बंध गईं और दांत किटकिटाते हुए कहने लगा—'मैं इस 'अभी नहीं' से ऊब गया हूं। अभी नहीं तो कभी नहीं। हूं: ! 'अपना कुशल-समाचार देते रहिएगा।' मैं इसको कभी एक पोस्टकार्ड तक तो लिखूंगा नहीं। चिड़िया हूं कि पिंजड़े में बन्द रखो, और जब खुशी हो, पढ़ाना शुरू कर दो – पढ़ो पटुआ —सीताराम।

'मगर एक बात ज़रूर है कि उसने अपना कोई कार्यक्रम अवश्य बना लिया है; ऐसा न होता तो वह मुझको अपना यह निजी पता न दे जाती। यह पद्मा कौल अवश्य ही किसी शिक्षण-संस्था से सम्बन्धित हैं। अगर उनके पास चला जाए और उनसे पूछा जाए कि पन्ना के सम्बन्ध में आपका क्या ख्याल है तो कैसा हो? अच्छा, मान लो मैं जाऊं, ब्रजमोहन से कहूं तब तो कुछ पता चल सकता है।

'मगर आखिर इस जल्दबाजी का मतलब क्या है? यह उतावली किसलिए? भंवरा स्वत: कमल में ही क्यों बन्द होना चाहता है ? जो कुछ होना होगा, हो जाएगा। क्या मुझे अब प्रकृति की स्वाभाविकता पर विश्वास नहीं रह गया ?'

सोचते-सोचते विजय आगे बढ़ा ही था कि बस-स्टैण्ड आ गया—'अच्छे रहे, जेब भी खाली हो गई। अब क्या किया जाए ? उस एडवरटाइज़िंग एजेन्सी के

कार्यालय में फिर जाऊं और फिर उस बड़ी नाक वाले से कहूं कि मुझे अगर टकराना था तो आज का वादा ही क्यों किया था ?···मगर यही बात क्या मैं उस समय नहीं कह सकता था ? गोविन्द को तो मैंने बीस बातें सुना दीं। क्या उसको दो-चार भी खरी-खोटी नहीं सुना सकता था ?

'तो यह सारी जड़ता इसलिए है कि मैं संकोच में पड़ जाता हूं।'

इतने में मिल गए ठाकुर कर्तारसिंह। रेशमी साफा सिर पर, और रेशमी कोट, जिसपर पान के छींटों के चिह्न। धोती धुली हुई। शू चमकता हुआ। हाथ में बन्दूक। मुंह में पान भरा हुआ।

सामने आते ही बोले—"कहां, विजय बाबू ?"

विजय ने उत्तर दिया—"वहां, ज़रा गोविन्द बाबू के यहां से आ रहा हूं।"

"ओह, डिप्टी साहब के यहां से ! आपका तो उनसे परिचय होगा ?"

"परिचय क्या, मेरे तो वे बड़े घनिष्ठतम मित्र रहे हैं।"

"रहे हैं ? और हैं नहीं ?"

"हां, आपस में कुछ ऐसी बातें हो गईं कि मैंने स्वयं ही उनसे अपना सम्बन्ध तोड़ लिया।"

"यह आपने बुरा किया। लोग ऐसे लोगों से अपना सम्बन्ध बनाने में हज़ारों रुपये खर्च कर देते हैं और आपका यह हाल है कि बना-बनाया तोड़ डालते हैं। मगर आप तो पढ़ रहे थे शायद ? बी० ए० कर भी लिया था। ओह, अच्छी याद आई। आजकल किसी इण्टर कालेज में अध्यापक हैं न ?"

विजय ने मुस्कराते हुए उत्तर दिया—"था, हूं नहीं।"

"तब फिर आजकल···"

विजय ने गम्भीर होकर उत्तर दिया—"आजकल एक बहुत महत्त्वपूर्ण काम हाथ में आ गया है। सरकारी कार्यालयों में जो हरामखोरी चल रही है, उसकी जन्मपत्री तैयार करता रहता हूं !"

"ओः, एन्टीकरप्शन-डिपार्टमेंट[1] !"

"जी !"

"वाह, आपने तो तबियत खुश कर दी ! अरे साहब, क्यों न हो।···तब तो

---

१. भ्रष्टाचार-निरोधक विभाग

अच्छा-खासा वेतन मिलता होगा?"

"जी, ढाई सौ से स्टार्ट किया था। सब मिलाकर लगभग साढ़े तीन सौ पड़ जाते हैं।"

"वाह क्या बात है!"

"माफ कीजिएगा ठाकुर साहब, मुझे इस वाहवाही से बड़ी नफरत है।"

ठाकुर साहब हंस पड़े। बोले—"क्यों न हो, नया खून है। और कहो, अपनी छोटी अम्मा के यहां कभी जाते हो?"

"जाता हूं!"

इतने में बस आ गई। ठाकुर बोले—"हमारे घर आना-जाना तो तुमने छोड़ ही दिया। चलिए, आज मेरे साथ चलिए। कचहरी में मेरा ज़रा-सा काम है। बस फिर मैं चला चलूंगा। आओ, आओ चलो बैठो।"

इस प्रकार विजय ठाकुर कर्तारसिंह के घर जा पहुंचा।

ठाकुर साहब जिस बंगले में रहते थे, वह न उनका बनवाया था, न खरीदा हुआ था, न वे उसे किराये पर लिए हुए थे। वास्तव में वह उस समय एक विधवा के हाथ में था और ठाकुर रहते उसमें इसलिए थे कि जायदाद के सारे मामले लड़ देने का महत्त्वपूर्ण कार्य उन्होंने अपने हाथ में ले रखा था। पांच-सात उसमें कमरे थे; पाकशाला, भोजनशाला, स्नानागार तथा शौचगृह के अतिरिक्त। उनकी अपनी बैठक में दो सोफासेट थे, जिनके बीच एक गोल टेबल थी। उसपर ताज़े फूलों का गुच्छा शीशे के बने पुष्प-पात्र में रक्खा रहता। प्रत्येक द्वार पर हलके हरे रेशम के महराबदार परदे पड़े थे। अन्दर कूलर लगा था। चारों ओर धूप-बत्तियां सुगन्ध-वायु बिखेरती रहतीं।

ठाकुर साहब के साथ विजय को थोड़ी देर कचहरी में लग गई थी। बन्दूक का लाइसेंस बदलने का कार्य था, जो बीस मिनट में निपट गया था। इस अवधि में विजय निरन्तर यही सोचता रहा—'मेरे पास पैसे समाप्त हो गए थे। फिर भी मैं ठाकुर साहब के साथ-साथ घूमते हुए उनके बंगले में आ गया।' द्वारमंडप में गाड़ी खड़ी थी। उसने उनके साथ बैठकर नाश्ता किया। चाय ग्रहण की और अन्त में दिव्य भोजन किया।

'अब यहां प्रश्न यह उठता है कि इन दशाओं में उनकी आशा के प्रतिकूल

अपने-आपको इस सीमा तक गिरा हुआ बतलाने में क्या रस था ? क्या उसका अर्थ यह न होता कि इसकी स्थिति दयनीय है ? जब कि स्वयं को दयनीय बना लेना आत्मघात की ओर अग्रसर होना है।'

इस सारे कार्यक्रम में वह सोचता रहा—'अब यहां फिर एक प्रश्न उठता है कि आर्थिक स्थिति में इतना गया-बीता होने पर भी मुझे जो शान्ति, सौख्यमय जीवन-क्रम का थोड़ा-सा अंश मिला, उसमें मुख्य महत्त्व अर्थ का है अथवा अपनी मान-प्रतिष्ठा के प्रदर्शन का ? माना कि वह नितान्त मिथ्या है; किन्तु क्या इसका यह तात्पर्य नहीं कि मनुष्य पहले अपनी प्रतिष्ठा स्वयमेव स्थापित करता है, तब कहीं उसे समाज से मिलती है ? यदि मैं सनक में आकर अपना नग्न रूप ही ठाकुर साहब के समक्ष रख देता, तो क्या यह समादर मुझे प्राप्त हो सकता था ?

'इसके अतिरिक्त ठाकुर साहब स्वयं भी तो यही सोचते होंगे कि जब ऐसी नौकरी छोड़ दी है, तो अवश्य किसी ऊंचे पद पर होगा।'

फिर उसके मन में प्रश्न उठा—'मैं यहां इन ठाकुर साहब के साथ चला ही क्यों आया ? ब्रजमोहन के घर की ताली मेरे पास है। मुझे सीधे वहीं चला जाना चाहिए था।

'पर मैं वहां जाता कैसे ? जिस रुपये के फेर में निकला था, उसकी प्राप्ति तो कहीं हुई नहीं।

'तुमने उसकी प्राप्ति का प्रयत्न ही क्यों किया ? एडवरटाइज़िंग एजेंसी से पूरा न सही, आधा-तिहाई रुपया ही, उसके आधार पर लिया नहीं जा सकता ? माना कि ज्ञानस्वरूप बाबू घर नहीं मिले थे, पर उनकी श्रीमती तो थीं ? उन्होंने कभी ना नहीं की। आज भी वे पूछ रही थीं—मेरे लायक कोई सेवा ?—तुमने क्यों स्पष्ट नहीं कह दिया—मुझे आज थोड़ा-बहुत रुपया चाहिए ? तुम्हारे मन में सदा यह विचार क्यों घुसा रहता है कि मैं किसीके आगे हाथ नहीं पसारूंगा ? ज्ञानस्वरूप के अनुरोध पर तुमने एमर्सन के विचारों का जो अनुवाद कर दिया है, उसके पारिश्रमिक का रुपया जब तुम्हें उनसे लेना ही है, तब रुपया मांगना तुम्हारे लिए सर्वथा विधिवत् और न्यायोचित था।

'था कि नहीं ?

'था भाई, था।' सोचकर विजय स्वयं अपने-आपपर हंस पड़ा। तभी उसे एमर्सन का यह कथन याद हो आया—'जब आप परम्परा के भगवान से अपना

सम्बन्ध-विच्छेद कर लेंगे, और लच्छेदार शब्दाडम्बर से प्रवचनों को नमस्कार कर लेंगे, तब भगवान स्वयं उपस्थित होकर आपके हृदय में जीवन डाल देगा।'

'तो सबसे पहले उन परम्पराओं को तोड़ना है जिन्होंने तुम्हारे जीवन-क्रम को विनाश के पथ पर लाकर छोड़ दिया है।'

अब रात हो गई थी। नौकर ठाकुर साहब का पलंग बाहर लॉन पर बिछा रहा था। तभी ठाकुर साहब बोले—"आपका पलंग भी यहां डलवा दूं ?"

विजय ने उत्तर दिया—"नहीं, अब मैं जाऊंगा।"

ठाकुर साहब बोले—"जाओगे ? अच्छा, तो फिर कल भेंट होगी न ! अरे लखनवा, बाबू को गाड़ी पर भेज तो आ।"

"जी सरकार।" उत्तर के साथ लखनलाल गाड़ी स्टार्ट करने लगा।

विजय ने इसकी कल्पना भी न की थी। उसने तै कर लिया था कि इस समय वह ब्रजमोहन के घर पैदल ही चला जाएगा। थोड़ी दूर तो है ही यहां से।

तभी विजय ठाकुर साहब के पास जाकर बोल उठा—"चाचा, सोचता हूं, अब मुझे भी एक बन्दूक रखनी चाहिए।"

"जरूर रखनी चाहिए बेटा। यह भी कोई पूछने की बात है !" विजय के आगे पान बढ़ाते हुए ठाकुर साहब बोले।

"मगर चाचा, निशानेबाजी सिखाने के लिए मुझे अपना शिष्य भी आपको ही बनाना पड़ेगा।"

"बड़े प्रेम से बेटा। जब चाहो तब।"

"अच्छा, अब चलता हूं। कल हो सका तो शाम को ही आऊंगा।"

"अवश्य। मैं प्रतीक्षा करूंगा।"

विजय जब गाड़ी पर बैठा और गाड़ी फाटक से बाहर आकर सड़क पर चल पड़ी, तो उसका मन उत्साह से भरा हुआ था। तभी एक झकोरा आ गया—'मैं रायफल चलाना सीखूंगा। फिर एक रिवाल्वर लूंगा। फिर···?'

९

विजय रात-दिन यही सोचा करता कि अब मुझे करना क्या चाहिए ? मां के पास जाता तो वह खाते-पीते, उठते-बैठते यही उपदेश देने लगती कि बेटा, कहीं नौकरी कर लो। मित्रों के यहां बैठता, तो सहानुभूति प्रकट करने के बदले वे उसकी हंसी उड़ाते। मामा का यह कथन बार-बार स्मरण आ रहा था कि अगर विजय न्याय-विधान की परीक्षा दे लेता तो वकालत में उसकी प्रतिभा चमक सकती थी और विजय का हाल यह था कि एक दिन उसने नयनतारा से कह दिया—"मिथ्या कथन, कपटाचरण, श्वेत को श्याम और श्याम को निर्मल, श्वेतोज्ज्वल प्रतिपादित और सिद्ध करने की कमाई को मैं वेश्यावृत्ति से कम गर्हित नहीं समझता।"

उपाध्यायजी ने सुना तो वे हंस पड़े। बोले—"विजय कहता तो सही है माई लॉर्ड! नित्य मैं अनुभव करता हूं कि पाप की कमाई खा रहा हूं। आज ही मुझे एक ऐसा मामला लेना पड़ा, माई लॉर्ड, जिसमें एक कहार ने एक लड़की के साथ बलात्कार किया है। लड़की हालांकि तेरह-चौदह वर्ष से अधिक न होगी, लेकिन मुझे अठारह की सिद्ध करने में कितनी देर लगेगी माई लार्ड! मगर फिर गंगा-स्नान जो नित्य करता हूं। चींटियों को शक्कर चुगाता हूं। पास-पड़ोस वालों को दवाई के लिए शुद्ध शहद मेरे यहां से मुफ्त में मिला करता है। कोई भूखा-नंगा मेरे दरवाज़े से कभी विमुख नहीं लौटता। और फिर शेर का काम है मारकर खाना। मैं भी अगर बातें मारने की कमाई खाता हूं, तो क्या बेजा करता हूं माई लार्ड!"

विजय इन सब बातों को सुनता, तो विचलित हो उठता—'यह वर्ग का वर्ग ही बेईमान हो गया है। सरकार जन-गणना तो करवाती है, पर इन सरे-आम झूठ की कमाई खाने वाले बेईमान लोगों की गणना का कोई विवरण पेश नहीं करती। यह नहीं बतलाती कि वर्ष-भर में डाक्टरों ने कितनी हत्याएं कीं ? वकीलों ने कितने हत्यारों को बेदाग बचा लिया ? जिनकी लाज लूटी गई उनके मामलों में न्यायालयों ने कितने सच्चे अपराधियों को सबूत के अभाव में निर-पराध घोषित किया ? और फिर समाज ने उन ललनाओं के साथ क्या किया ? ट्रक से कुचलकर बच्चों और आदमियों को बेमौत मृत्यु के घाट उतारने वाले

कितने ड्राइवरों को मामूली सज़ाएं देकर या केवल जुर्माना करके छोड़ दिया गया ? ऐसे बुद्धिजीवी लोगों की गणना भी सरकार को उपस्थित करनी चाहिए। सभ्यता की अभिवृद्धि में क्या इससे सहायता न मिलेगी ?"

इसी प्रकार की बातें वह अपने-आप बकना प्रारम्भ कर देता। नित्यक्रिया से निवृत्त होकर कुल्ला कर रहा है कि इतने में उसका प्रलाप शुरू हो जाता। अपने चारों ओर जब विपन्न और कराहती हुई मानवता पर थोड़े-से बुद्धिवादियों को ऐसे अत्याचार करते देखता तो वह अपनी चिन्ता, अपना भविष्य बिल्कुल भूल जाता। वह कुछ भी तय न कर पाता कि ऐसी स्थिति में वह क्या करे ?

उसका मित्र-वर्ग उसके मानस का यह संघर्ष समझ ही न पाता था। यही कारण था कि उसके प्रति उनकी सहानुभूति धीरे-धीरे असत्य और भ्रमात्मक परिकल्पनाओं में परिणत होती जाती थी।

उस दिन कई व्यक्तियों के सामने उसके एक ऐसे ही मित्र गोविन्द बाबू का प्रवचन प्रारम्भ हो गया—"कहते हैं, मैं समझौता नहीं कर सकता।··· हेंऽहः, समझौता नहीं कर सकते ! बेकारी और बेशर्मी की ज़िन्दगी बिता सकते हैं। कोई खर्च सामने आ पड़ने पर खीसें निपोर सकते हैं। भूखे पड़े रह सकते हैं। हफ्तों छिपे रह सकते हैं। मकान के अन्दर दीवारों को भाषण सुना सकते हैं। नेताओं को, सरकार को, समाज को गाली दे सकते हैं; मगर कोई काम नहीं कर सकते, क्योंकि वह गुलामी है। मगर हराम का खा सकते हैं। रेस्तोरां में बैठेंगे, तो रसमलाई और मोहनभोग से नीचे बता न करेंगे। सिगरेट पिएंगे, तो वह जिसमें पांच पैसे लगते हैं। पान मघई ही चाहिए आपको। तम्बाकू खाएंगे तो बत्तीस रुपये सेर वाला। भांग की गोली रोज़ चाहिए। मगर काम के नाम पर नानी मर जाएगी।···मेरा नौकर घर में नहीं है; भाई पढ़ने गया है; पत्नी बाहर जा नहीं सकती इस काम के लिए। शिक्षित और वयस्क बहिन से मैं कह नहीं सकता। अब गोली लाए तो कौन लाए ? आपको खुद बाज़ार जाकर लाने में शरम लगती है। घंटों इन्तज़ार में पड़े हैं कि अब इन्तज़ाम होता है, अब आती है। मैं आप ही से पूछता हूं, ब्रजमोहन बाबू, संसार के लिए ऐसे आदमी की क्या उपयोगिता है ? मगर निभाए जा रहा हूं भाई, देखो, कब तक निभती है ?"

बैठक में पड़ा विजय कभी अर्ध और कभी कृत्रिम निद्रित अवस्था में पड़ा-पड़ा सब सुना करता। जब बात समाप्त हो जाती, तो चुपचाप उठकर चप्पल

पहन लेता और बिना एक शब्द कहे चल देता। अगर गोविन्द बाबू कहते—"अरे, अरे, तुम तो चल दिए। बैठो, बैठो।" तो विजय ज्वलन्त भंगिमा में उत्तर देता—"मेरे जैसे आदमी की जब संसार के लिए कोई उपयोगिता नहीं है, तो मेरा आपके यहां आना और आपका समय नष्ट करना व्यर्थ है।"

कथन के बाद विजय कभी एक क्षण भी न ठहरता।

और भी एक बात थी। विजय जितनी देर वहां बैठता और कोई भी बात उसकी इच्छा के विरुद्ध होती, तो चट से बोल उठता।

एक दिन गोबिन्द ने कहीं कह दिया—"एक काम है शर्मा। डर है, यह भैया साइंस में कहीं फेल न हो जाए। तुम ज़रा प्रोफेसर बनर्जी के पास चले जाओ। मेरा नाम लेना और कहना कि ज़रा इसकी कापी देख लें और अधिक नहीं तो पांच नम्बर तो बढ़ा ही दें। मुझे पता चला है—अभी उन्होंने परीक्षा-फल भेजा नहीं।"

विजय ने चट से उत्तर दिया—"यह काम मुझसे न होगा। मैं किसी अयोग्य व्यक्ति की सहायता नहीं कर सकता।"

गोविन्द ने ब्रजमोहन को लक्ष्य करके कहा—"सुना आपने?"

सदा की भांति विजय उठकर खड़ा हो गया। बोला—"मेरी समझ में नहीं आता कि इस काम को आप खुद क्यों नहीं करते? प्रोफेसर बनर्जी के पास आप खुद क्यों नहीं जाते? स्वयं नहीं जा सकते, तो चिट्ठी भी नहीं लिख सकते?"

गोविन्द मसनद छोड़ते हुए बोले—"देखा आपने, ब्रजमोहन बाबू, यह आपका तेवर है। बतलाइए, इस तरह की बातें कहीं चिट्ठी में लिखी जाती हैं?"

"अरे हटो, हमको सोलह दूनी आठ पढ़ाते हो। चिट्ठी में नहीं लिख सकते, तो फोन से भी नहीं कह सकते? आपका काम भी हो जाए और आपको ज़ुबान भी न खोलनी पड़े। मेरी पद-मर्यादा को हानि न पहुंचे, मेरी मूंछ न नीची हो; मेरे ऊपर एहसान का भार न लद जाए। तुम्हींने तो दूध पिया है अपनी मां का। मेरा बस चले तो इस तरह के जितने भी दुनियादार अधिकारी लोग हैं, उन सबको कान पकड़के बाहर निकाल दूं और हुक्के का पानी पिलाऊं ऊपर से। यह गज़ेटेड आफीसर हैं! भारत का भविष्य अब ऐसे ही समर्थ कन्धों पर आ गया है! बोल महात्मा गांधी की जय!"

विजय के इस उत्तर पर गोविन्द बाबू को ताब आ गया। बोले—"बस,

बस, बहुत हो चुका शर्मा ! बर्दाश्त की भी एक हद होती है। अगर अब इसके आगे एक शब्द भी कहा, तो ज़बान खींच लूंगा।"

विजय ने उसी ताव में उत्तर दिया—"ज़बान खींच लेना अपने बाप की, जिनकी सिफारिश से पास हुए हो। घूस न देते, तो बेटा कहीं कचहरी में अर्ज़ी-नवीसी करते होते। डिप्टी साहब को उस वक्त कोई पेशाकार भी न बनाता।"

विजयदेव अपनी बात कहकर अब बंगले के लॉन में आ गया था। गोविन्द बाबू गरज उठे—"चपरासी, इसको कान पकड़कर बाहर निकाल दो। बदतमीज़ कहीं का !"

ब्रजमोहन बाबू बोलना पड़ा—"जाने दीजिए साहब, वह तो खुद ही चला जा रहा है।"

चपरासी तब तक जो उधर बढ़ने लगा, तो ब्रजमोहन बाबू पुनः बोल उठे—"ठहरो चपरासी !"

चपरासी ठहर गया। गोविन्द बाबू भीतर ही भीतर खौलते हुए बोले—"जी में तो आता है, आज ही इसको 'एक सौ नौ' में हवालात दिखला दूं।"

ब्रजमोहन ने उत्तर दिया—"छि:, छि:, ! क्या सोच रहे हैं आप भी ! कम से कम आपको इतना तो ख्याल करना चाहिए कि कुछ भी हो, है तो आपका मित्र ही।"

"मित्र नहीं, मैं इसे शत्रु समझता हूं आज से। आप ही लोगों ने इसको बढ़ावा दे-देकर इतना मगरूर बना दिया है। अब जो मेरे यहां आया, तो बुरी तरह पेश आऊंगा।"

ब्रजमोहन बाबू गम्भीर हो उठे। बोले—"बस गोविन्द बाबू, अब यहां मैं आपसे सहमत नहीं हूं। उस दिन आप उसको गालियां देते रहे और वह पड़ा-पड़ा सुनता रहा। एक से एक बढ़कर अपमानजनक बातें आप उसके लिए कहते रहे और वह उन्हें विष के घूंट की तरह पीता रहा। आप उसका उपहास करते रहे और उसके चेहरे पर शिकन तक न आई। और केवल सिद्धान्त के विचार से उसने जो आपका काम करने से इन्कार कर दिया, तो आपको बुरा लग गया। अन्त में तो आपने अपनी सभ्यता भी खो दी। क्या इसी भावना को आप मधुर भाषा में नहीं व्यक्त कर सकते थे ? आपको तो अपना काम निकालना था, लेकिन आप व्यावहारिकता से भी दूर चले गए।"

गोविन्द बाबू चलते-पुरज़े आदमी थे। उन्होंने सोचा—'अभी एक मित्र से झगड़ा हो ही चुका है, अब दूसरे से भी बहस करने लगूं, यह तो कोई बात न हुई।' तब वे हंस पड़े। बोले—"क्या बताऊं, व्रजमोहन बाबू, मुझको गुस्सा कभी-कभी आ ही जाता है। फिर वह भी इतना कटु पहले कभी न हुआ था। कमबख्त ने मेरे बाप तक को न छोड़ा।"

व्रजमोहन बाबू सिर हिलाते हुए बोले—"हां, इस जगह उसने गलती की। मुझे भी बुरा लगा था। मगर खरी-खोटी सुनाने में आपने भी कोई कसर बाकी नहीं रखी।"

व्रजमोहन विचारशील व्यक्ति था। एक तो उसे यह बात सहन नहीं हुई कि गोविन्द बाबू जामे से बाहर हो गए, दूसरे वह अपने को भी अपराधी समझ रहा था। बार-बार उसे ध्यान आ रहा था—'ऐसे समय मुझको भी विजय का साथ देना चाहिए था'—उसके साथ ही यह बात भी उसके मन में आती थी कि विवाद जब कटु हो चला था, तभी मुझे बोल उठना चाहिए था। माना कि बाद में मुझे बोलना ही पड़ा, किन्तु कितना उत्तम होता यदि विजय के सामने ही मैंने इसी शब्दावली में अपना मनोभाव व्यक्त कर दिया होता! जो आदमी सदा अवसर निकल जाने पर ही ठीक बात का निर्णय कर पाता है, वह पंक्ति में आगे कभी नहीं आ सकता। मुझे अपना स्वभाव बदलना पड़ेगा।' वे पुनः सोचने लगे—'विजय अपने मन में क्या सोचेगा? यही तो परिस्थितियां हैं जो मनुष्य को सन्मार्ग से कुमार्ग पर लाकर खड़ा कर देती हैं। मुझे अपने ऊपर तो खीझ आ ही रही है, साथ ही यह आशंका भी है कि विजय कहीं विद्रोही न हो उठे?'—तब बोले—"जो कुछ हुआ सो हुआ। यह न समझिएगा कि मैं अनुचित रूप से उसका पक्ष ले रहा हूं। पर गोविन्द बाबू, यह तो आप मानेंगे कि कुछ गुण उसमें ऐसे हैं जो हम लोगों में से किसीमें नहीं हैं?"

गोविन्द बाबू एकाएक चौंक पड़े। आंखें चौड़ी और भौंहें टेढ़ी करके बोले—"क्या कहा आपने? हम लोगों में से किसीमें नहीं हैं? उदाहरण?"

इतने में गोविन्द की पत्नी ने आकर पूछा—"शर्मा क्या चले गए?" साथ ही पन्ना ने नाक-भौं सिकोड़ते हुए कह दिया—"आप लोगों ने उन्हें बनाना शुरू कर दिया होगा। मैं जानती हूं।"

गोविन्द बाबू बोले—"मैंने तो आज उससे कुछ नहीं कहा था, बनाना तो

दूर की बात है। तुम्हारे ही भतीजे की सिफारिश के लिए एक जगह भेज रहा था, उसीपर बात बढ़ गई।"

पन्ना भेद प्रकट करती हुई बोली—"यह बुरा हुआ। मैंने तो उन्हें आज सेवइयां खिलाने का निमन्त्रण दिया था, और यह बात अपने मन में रखी थी कि खिलाने के बाद उनसे एडविन आरनाल्ड की 'लाइफ लिविंग अपॉन डेथ' विषयक कविता का रहस्य समझूंगी। और मेरा ख्याल है कि आप लोग तो समझा नहीं सकते।"

और इतना कहकर वह अन्दर चली गई।

ब्रजमोहन को अवसर मिल गया। बोल उठा—"जवाब मिल गया आपको? यह केवल एक गुण हुआ। वह भी बताया पन्ना ने। और तुम चाहे भूल गए हो, मैं नहीं भूला हूं। जब छोटे भइया को टाइफाइड हुआ था, तब इसी बगल वाले कमरे में आप लोग सोया करते थे और वह पलंग के बगल में कुर्सी पर बैठा हुआ कोरी आंखों भोर कर देता था। आपने जब आरामकुर्सी पर बैठने का आग्रह किया, तब उसने जवाब दिया था—यह काम उन्हीं लोगों का है जो सदन और संसद में केवल हाथ उठाने को ही जगाए जाते हैं। कर्तव्य पर आरूढ़ व्यक्ति आराम को हराम समझते हैं।

"और सुनिए। आपने तो नहीं देखा, मैंने देखा था। यह कपूर ट्रेडर्स की दुकान के पास जो घसियारे बैठते हैं, उनमें एक का पैर सड़ गया था। यह उसीका दम था कि साथ ले जाकर बड़े अस्पताल में दवा दिलवाई और दस दिन तक बराबर उसकी परिचर्या करता रहा। छोड़ा तब, जब वह बिल्कुल अच्छा हो गया। नगर में जब भयानक रूप से कॉलरा फैला हुआ था, अस्पताल में स्टील वाली चारपाइयां समाप्त हो गई थीं। एक ही बिस्तरे पर दो-दो रोगी लिटाए जाने लगे थे, तब यही एक अकेला आदमी था जिसने पत्रों में गुमनाम चिट्ठियां छपवाकर प्रान्त-भर में हल्ला मचवा दिया था और तीन दिन के अन्दर कई सौ चारपाइयां आ गई थीं।···और माफ कीजिएगा, उसकी कलम में तो इतनी ताकत है कि अगर आपके खिलाफ लिख मारे, तो आपको रात-रात-भर नींद न आए।"

सुनकर सन्न रह गए गोविन्द बाबू। कहते हैं, एक लोहा ही दूसरे लोहे को काट सकता है। गोविन्द बाबू समझते थे कि मेरे हाथ में बहुत बड़ा अधिकार है। अब वे सोचने लगे कि उसको जो अधिकार प्राप्त है वह मुझको नहीं प्राप्त है।

वह जो कर सकता है, वह मैं नहीं कर सकता। और यह तो बड़ी भूल हो गई जो ऐसे आदमी को मैंने नाराज़ कर दिया। फिर जब मैं उसकी प्रकृति से परिचित हूं, तब ऐसा अनुचित दबाव मुझे डालना ही नहीं चाहिए था।

वे बोल उठे—"तुमको तो मिलेगा ही। कहना, मैंने बुलाया है। मगर ठहरो, तुम कह देना कि तुम्हें पन्ना ने बुलाया है।"

ब्रजमोहन बाबू हंस पड़े। बोले—"वाह ! गोविन्द बाबू, बस यही गुण आपको शासन की कुर्सी पर बिठाए हुए है।"

"अरे कोई है ?" गोविन्द बाबू बोल उठे।

चपरासी अन्दर आकर अदब से खड़ा हो गया।

"ज़रा अन्दर कह देना कि चाय तैयार हो गई हो तो···"

इस स्थिति का दयनीय और मर्मस्पर्शी रूप यह होता है कि विजय कभी अपना पुस्तकों से भरा हुआ ट्रंक छोड़ जाता, कभी कपड़ों से भरा हुआ सूटकेस, कभी फाउण्टेनपेन और कभी धूप का चश्मा। गोविन्द की पत्नी शची तो उसकी इस प्रकृति पर प्रायः हंसा करती थी। पन्ना कभी-कभी उसे मनाने का भी यत्न करती, क्योंकि विजय अक्सर ऐसा भी करता कि दुपहर को यदि लड़ाई हो जाती, तो शाम को किसी न किसी बहाने एक झलक अवश्य दिखा जाता।

एक दिन की बात है, जब घंटे-भर बाद कुछ सोचता हुआ गोविन्द विजय को खोजने के लिए घर से निकल पड़ा, तभी विजय घर पर आ गया। फिर विजय गोबिन्द को खोजता रहा और गोविन्द विजय को। और विजय अन्त में पता लगाते-लगाते मिला भी तो एक नर्तकी के यहां, नशे में धुत, बिल्कुल अचेत अवस्था में।

कमरे में एक सीलिंग फैन चल रहा था और टेबल में लगा हुआ नीला बल्ब शीतल प्रकाश दे रहा था।

गोविन्द उस नर्तकी के यहां पहली बार आया था। उसने बड़ी सभ्यता के साथ उसका स्वागत-सत्कार किया। लेमोनेड पिलाया। पान और सिगरेट भेंट की।

पहले तो गोविन्द के मन को एक भारी धक्का लगा। वह यह सोच ही न सकता था कि विजय इस सीमा तक गिर सकता है। एक बार तो यह भी उसके

मन में आया कि वह उसको इसी दशा में छोड़कर चला जाए, और फिर कभी उसका नाम भी न ले, सदा के लिए वह उसको भूल जाए। किन्तु उसकी भावना को जो ठेस पहुंची थी उसका निराकरण वह किसी प्रकार कर लेना चाहता था।

इसी समय हीरा ने पूछा—"आप तो इनको मेरे यहां से लेने आए होंगे ?"

गोविन्द ने उत्तर दिया—"जी, आया तो लेने के लिए ही हूं और साथ ले भी जाऊंगा।"

कुण्डल हिलाती हुई हीरा हंस पड़ी। बोली—"और अगर मैं न ले जाने दूं तो ?"

"आपको अधिकार है। मैं तो समझा-समझाकर हार गया। हो सकता है, आप जीत जाएं।"

"हार आपको अच्छी लगती है ?"

"हार भी भला किसीको अच्छी लगती है !"

"और अगर किसीको अच्छी लगती हो ?"

"आपको लगती है ?"

"मैंने कभी सोचा नहीं। आपने तो सोचा होगा ?"

"तभी तो यहां आना पड़ा।"

"कोई नई बात नहीं है। हार के बाद ही लोग यहां आते हैं।"

गोविन्द को ऐसा प्रतीत हुआ, जैसे वह छत के नीचे गिर पड़ा है। वह निरुत्तर हो उठा। तब एकाएक उसके मुंह से निकल गया—"आप तो मुझे यथेष्ट शिक्षित जान पड़ती हैं ?"

हीरा गम्भीर हो उठी। नतमुखी दृष्टि से बिछे हुए मखमली फर्श नख से कुरेदती हुई बोली—"बाबूजी ने इण्टर तक पढ़ाया था।"

"फिर ?"

"फिर भाई की दृष्टि मुझपर पड़ गई। तब तक मैं वयस्क हो गई थी।"

"उफ, आप यह क्या कह रही हैं !"

"आपको बुरा लगता होगा। लेकिन उनको बुरा नहीं लगा था।"

"हमारे समाज में ऐसे लोग भी हैं, यह मैं न जानता था।"

"अभी आप कुछ नहीं जानते। हमारे समाज में ऐसे लोग भी हैं जिनमें से

एक ने ऐसी अवस्था में भी जान-बूझकर मुझसे विवाह कर लेना स्वीकार कर लिया था।"

गोविन्द एकदम चकित हो उठा। बोला—"वे धन्य हैं। अच्छा, फिर क्या हुआ?"

"फिर जब उन्होंने पूरी कहानी सुन ली, तो मेरे उस भाई को मार डाला। शायद इसकी नौबत न आती, पर भाई साहब ने उनके यहां आना शुरू का दिया था। जिस दिन की यह घटना है, उस दिन वे मुझे लिवा ले जाना चाहते थे।"

"ओह! वेलडन! वे सचमुच धन्य हैं। अच्छा फिर?"

"फिर उनको सजा हो गई। आजीवन कारावास।" कहते-कहते उसका कण्ठ आर्द्र हो उठा।

"और आप?"

"मैंने तीन बार मुकदमा लड़ने के लिए ही नौकरी की पर हर जगह दया और उदारता के नाम पर मुझसे देह-दान की इच्छा ही प्रकट नहीं की गई, स्पष्ट रूप से कह दिया गया कि अगर आपको यह स्वीकार नहीं है, तो हमारी संस्था में आपके लिए कोई जगह नहीं है।"

"ओः, तो आपको नौकरी किसी संस्था में मिली थी?"

"जी, पहली बार एक लेबर आफिस में, दूसरी बार एक विद्यालय में और तीसरी बार समाज-कल्याण-विभाग में। मैने सोचा, जब आज का प्रबुद्ध नाम-धारी मानव इतना वन्य हो गया है, और उसकी सभ्यता इतनी बर्बर, तब बंधे पैसों पर गुलामी करने की आवश्यकता ही क्या?"

गोविन्द ने एक निःश्वास के साथ कमरे के चारों ओर देखा, तो उसे बड़ी शान्ति और शीतलता का अनुभव हुआ। उसने कहा—"सचमुच आपकी कहानी बड़ी दुःखद है।···खैर, अब मैं सोचता हूं कि मैं किसी गलत जगह पर नहीं आया। मैंने आपको कष्ट तो बहुत दिया, पर अब यह और बताइए कि इस विजय से आपका कब का परिचय है?"

"यह जानकर क्या कीजिएगा?···वे मेरे गुरुभाई हैं।···क्रिश्चियन कालेज में हम और वे एकसाथ पढ़ चुके हैं।"

"वाह, यह भी खूब रहा! यह रिश्ता मुझे बहुत पसन्द आया। पर विजय ने इस हालत में आपको खोज कैसे निकाला?"

अब हीरा हंस पड़ी। सुवासित रेशमी रूमाल मुंह पर आ गया। बोली—"आप तो पहली ही भेंट में मुझसे सब कुछ प्राप्त कर लेना चाहते हैं।"

विमुग्ध गोविन्द कुछ संकुचित हो उठा। बोला—"अब आप ऐसा न कहें। यह विजय मेरा अन्यतम मित्र है। इस नाते आप मेरी भी बहन होती हैं।"

"क्षमा कीजिएगा। व्यक्तिगत रूप से मैं आपपर कोई लांछन नहीं लगाती। लेकिन मैंने दिल्ली देखी है। केवल बहनजी ही नहीं, ऐसे भाई साहब भी देखे हैं; जो···। अब बार-बार क्या कहूं आपसे !"

"बस इतना ही यथेष्ट है। और आगे कुछ कहने की आवश्यकता नहीं।"

इतने में पलंग पर पड़े हुए विजय ने करवट बदल ली।

गोविन्द ने पूछा—"कितनी देर हुई इन्हें यहां आए हुए ?"

"अभी कोई दो घंटे हुए होंगे। साथ बैठकर बड़ी मुश्किल से खाना खाया।"

"मुश्किल से क्यों ?"

हीरा मुस्कराती हुई बोली—"आते-आते बैठते ही बोले कि आज तो पीने की तबीतयत है हीरा। उस समय और भी दो-एक सम्भ्रान्त अभ्यागत बैठे हुए थे। मैंने उन्हें तरकीब से हटा दिया। घर में तो मैं ऐसी कोई चीज़ रखती नहीं। नौकर भेजकर मंगवानी पड़ी।"

"टाल नहीं सकती थीं ? आप जानती हैं—बड़ी बुरी लत है।"

"जानती हूं, मगर साथ में इतना और जानती हूं कि यह ज़िन्दगी भी क्या है ? आप विश्वास न करेंगे, यहां जो साहब इनके आने के समय बैठे हुए थे, उनमें से एक एम० एल० ए० थे और दूसरे गज़ेटेड आफीसर—महात्मा गांधी के रामराज्य के स्वप्नों को चरितार्थ करने वाले।"

"आपने तो मुझे हतप्रभ कर दिया।"

"मेरा ऐसा कोई इरादा तो था नहीं। अगर जीवन की वास्तविकता ही पाप बनकर आपको हतप्रभ कर देती है, तो मुक्ति का मार्ग आप किस धरती पर खोजेंगे ? बतलाइए, शरमाइए नहीं।"

गोविन्द फिर निरुत्तर हो गया।

हीरा बोली—"आप यहां किस पद···"

गोविन्द संकुचित होते हुए बोल उठा—"दुर्भाग्य से मैं भी एक गज़ेटेड आफीसर हूं।"

अब दोनों एकसाथ अट्टहास कर उठे।

और बस, तभी विजय ने आंखें खोल दीं।

१०

पक्षी अपने नीड़ों में विश्राम कर रहे थे; मनुष्य अपने-अपने निकेतनों में। छप्परों से छाए हुए कच्चे और पक्के मिले-जुले घर, सूखी और कहीं-कहीं गीली गलियां—अधिकांश मिट्टी की; कहीं-कहीं ईंटखुर्रे। एकाध मकानों पर टीन छाई हुई, कहीं-कहीं नीम के शीतल-सघन वृक्ष। एक मकान के आगे कुआं और पाकड़ का विशाल वृक्ष। बीच-बीच में खण्डहर, नोना लगी हुई दीवारें अपने पीछे शताब्दियों का इतिहास लिए। द्वारों पर बंधे बैल कभी-कभी जुगाली करते-करते प्रकृति की पुकार पर शब्द कर उठते। गले में बंधी हुई घण्टियां कभी एकसाथ टनटना उठतीं, तो दूर से कर्णरन्ध्रों को लगता जैसे किसी मरुप्रान्त में शान्त-एकान्त कोई काफिला जा रहा है। बिल्ली शिकार की टोह में इधर-उधर घूमती-फिरती और जागरूक श्वान छोटी-सी आहट पाकर अपना प्रकृत स्वभाव व्यक्त करते-करते गुर्रा उठते। यद्यपि डर से समीप न आते, किन्तु दिखाते यही कि सजगता मेरी अक्षुण्ण बनी है।

अमावस्या की रात्रि थी। सारा गांव प्रगाढ़ निद्रा में निमग्न था। अर्धरात्रि का समय होगा, लगभग बारह बजे का। सड़क से लगी हुई गली पर आते-आते कुछ युवक एकसाथ रुक गए। टॉर्च के प्रकाश में आगे बढ़कर एक युवक ने बन्दूक उठाई और घोड़ा चढ़ाकर छोड़ दिया। घोर सन्नाटे को भेदता हुआ एक वज्र-निर्घोष हो उटा—धांय! नीड़ चेतन हो उठे। ऊंघते हुए मोर बोल उठे। दूर गांव के जलाशय में विचरती हुई सारसों की जोड़ी एकसाथ चिहुंक कर उड़ी—पतांव, पतांव।

बिहारी पण्डित अपने मकान की छत पर लेटे हुए अभी जग रहे थे। एकाएक करवट बदलते हुए सोचने लगे—'जान पड़ता है, किसी पुरवे में बरात आई हुई

है। लड़की का जेठ चढ़ावा लेकर उसके घर जा रहा है।'

एक मिनट भी न हुआ होगा कि गांव के अस्पताल के पास फिर बन्दूक की आवाज़ गूंज उठी—धांय !

इस बार बिहारी पण्डित का हृदय धक्-धक् कर उठा। उठकर बैठ गए—'अरे, यह आवाज़ तो बिल्कुल हमारे पड़ोस में हो रही है !'

इसी समय दो आदमियों के बोलने का संदेह हो उठा।

संख्या दो के युवक ने अपने साथियों से कहा—"पाकड़ का वृक्ष तो आ गया, लेकिन कुआं नहीं दिखाई पड़ा।"

तब तक संख्या एक के युवक ने कह दिया—"कुआं उधर आगे है।"

अब एक मिनट भी न व्यतीत हुआ होगा कि सभी युवकों ने बिहारी पण्डित का घर घेर लिया। द्वार पर पहुंचते ही तीन बन्दूकों की ध्वनियां लगातार गूंज उठीं—धांय—धांय—धांय !

बिहारी पण्डित थर-थर कांपने लगे; और गिरधारी भैया ने आंगन में आकर ज़ोर से आवाज़ लगाई—"भइया, यह दरवाज़े पर बन्दूकों की आवाज़ कैसी ?"

बिहारी पण्डित का तो कोई उत्तर न मिला, पर संख्या तीन के युयक ने पिछवाड़े के खंडहर से छत पर आकर एक बार चारों ओर टार्च का प्रकाश फेंकते हुए कड़कीली आवाज़ में कह दिया—"कान खोलकर सुन लो गांव वालो, अगर कोई भी आदमी इधर-उधर से बाहर निकला, तो बन्दूक की गोली उसकी छाती चीरकर चिथड़े-चिथड़े उड़ा देगी। वैसे हम किसीका खून करने नहीं आए।"

बिहारी पण्डित ने जो यह घोषणा सुनी, तो उनके पैर जहां के तहां जम गए। नीचे उतरकर अन्दर जाना दूभर हो गया।

उद्घोषक युवक टॉर्च हाथ में लिए उसी जगह आ पहुंचा, जहां बिहारी पण्डित दुबके खड़े हुए थे। धन और प्राणों के भय में बड़प्पन की हेकड़ी भूल गई थी। पसीने से लथपथ थे और कंठ सूख गया था। युवक ने बड़े इत्मीनान से उनके निकट आकर कह दिया—"पंडितजी, यह तो आपको पता चल ही गया होगा कि हम लोग किसलिए आए हैं ?"

बिहारी पंडित को ऐसा जान पड़ा मानो अब पृथ्वी फट जाएगी और हम मिनटों में उसके भीतर समा जाएंगे।

इतने में युवक ने पिस्तौल की नली उनकी छाती के सामने लगा दी। दूसरे

युवक ने टॉर्च का प्रकाश उसी ओर कर दिया। अब सम्मुख खड़े युवक ने कह दिया—"जो कुछ भी माल-टाल आपके घर में हो, चुपचाप हमारे हवाले कर दीजिए, नहीं तो समझ लीजिए होनहार क्या है!"

पण्डितजी क्रोध और भय से कांप उठे। ऐसा दृश्य देखना तो दूर रहा, उसकी कल्पना भी न कर सकते थे। एक बार तो मन में आया कि इसके जबड़े पर घूंसा लगा दूं, किन्तु सोचते-सोचते ही भय अधिक बढ़ गया, घिग्घी बंध गई और सारा बदन थरथर कांप उठा। लगा, जैसे शरीर का सारा रक्त जम गया हो, रक्तचाप थम गया हो। अस्पष्ट स्वर में इतना मालूम हुआ, वे कह रहे थे—"हमारा धर्म-भर छोड़ दीजिए। बाल-बच्चों पर हाथ मत डालिए, चाहे मेरी जान ले लीजिए।"

इतने में दो-तीन युवक अन्दर कूद गए और उनमें से शेष ने सड़क और गली के नाकों को घेर लिया। अब तक मकानों में सोए हुए अधिकांश लोग जग गए थे। एक-दूसरे के निकट आकर भय और घबराहट से भरी हुई बातें कर रहे थे।

एक प्रौढ़ व्यक्ति ने कहा—"अरे, गांव में डाका पड़ रहा है!"

"गांव में?" यह उस नारी का स्वर था, जो पांच बच्चों की मां थी।

उसके स्वामी ने उत्तर दिया—"हां, हां, गांव में।"

"हाय, किसके यहां?"

कथन के साथ उसका हाथ बच्चे की पीठ पर था और बच्चा कुछ-कुछ जग भी रहा था।

स्वामी ने उत्तर दिया—"बिहारी पंडित के यहां।...एऽऽए लो, फिर कुछ गड़बड़ हुई।"

यह पिस्तौल का स्वर था—बैंग!

जिस मकान के अन्दर से वह स्वर आया था, उससे मिले हुए दूसरे मकान में हाहाकार मच गया।—"हाय, क्या हुआ—क्या हुआ?" फिर पुरुष-स्त्री तथा बच्चे सब एकसाथ चीख पड़े। आतंक के कारण एक घर का कोई व्यक्ति पड़ोस के घर में भी जा नहीं सकता था। लेकिन दोनों मकानों के बीच की दीवार कुछ छोटी और जराजीर्ण थी, अतएव यह मालूम होते देर न लगी कि मातादीन बाबा, घर के दरवाज़े पर आकर, बिहारी पण्डित के द्वार पर खड़े डाके वालों को देखने लगे थे। उसी समय उनकी बगल में पिस्तौल की गोली जा लगी।

इन घरों में जो लोग जग रहे थे वे अपने-अपने कमरों में दुबक गए। वृद्धजन

माला जपने लगे—"हे शिव, हे शिव।" माताएं रो पड़ीं—"हाय, अब क्या होगा?" तरुण बहू-बेटियां कोने-अंतरों में छिप गईं।

इतने में पड़ोस के मकान में एक ऐसा नारी-कण्ठ सुनाई पड़ा, जो क्रंदन से भरा हुआ था—जिसमें एक थरथराहट और कम्पन मिश्रित था। "मुझे अपनी बहन समझकर ही छोड़ दो। पैर पड़ती हूं भैया।" वह स्वर बिहारी पण्डित के घर का था।

यह मकान तिवारी दीनानाथ का था। उनकी स्त्री सत्यभामा उस स्वर को सुनकर दहल उठी। उसके मुंह से निकल गया—"हाय, यह तो राजेश्वरी जान पड़ती है!"

दीनानाथ ने भार्या के मुंह पर हाथ रखकर धीरे से कह दिया—"चुप, खबरदार, जो किसीसे कुछ कहा। लाज सबकी एक-सी।"

अब संख्या एक और दो तो भुसौरा में छिपे आभूषण खोजने लगे, संख्या चार आंगन से टॉर्च का प्रकाश दिखाने लगा और संख्या तीन के युवक ने एक ओर जो एक नारी-छाया को दुबकते हुए देखा, तो टॉर्च घुमा दिया। पैर आगे बढ़े और उसने जो निकट जाकर देखा तो उसके मुंह से निकल गया—"उफ, यह रूप!" फिर हाथ के एक ही झपट्टे में कंचुकी फाड़ आलिंगनबद्ध हो एक पर एक तीन चुम्बन लगातार लेकर बोला—"अब कहां गया यह घमंड, जो सीधे मुंह बात भी न करने देता था?"

स्वर की भाषा से परिचय प्राप्त कर थर-थर कांपती हुई राजेश्वरी बोली—"ओः आप!"

एक तेवर के साथ विजय ने उत्तर दिया—"जी, मैं मुंह धोकर आ गया।" कथन के साथ वह कुछ और समीप आ गया। पिस्तौल उसके हाथ में थी। वही उसने उसकी छाती के सामने करते हुए कहा—"अब आगे सर्वस्व-समर्पण में जो जरा भी विरोध किया, तो समझ लो, लोथ ही यहां पड़ी दिखाई देगी।"

अब उस घर में श्मशान-सी शान्ति व्याप्त हो गई थी। कोई टस से मस नहीं हो रहा था। क्रंदन का स्वर भी अब मन्द पड़ गया था। दबे-छिपे जो लोग अपनी छतों पर थे उन्होंने देखा कि दो युवक बन्दूक हाथ में लिए बिहारी पण्डित की छत पर खड़े टॉर्च का प्रकाश कभी इधर, कभी उधर फेंकते हुए टहल रहे हैं।

अब राजेश्वरी समझ गई, मैंने उस दिन इनकी जो उपेक्षा की थी—इन्हें जो

तीखा उत्तर दिया था, यह आक्रमण उसीका प्रतिकार है। पर वह समय बहस करने का तो था नहीं। शेष लाज ही बच जाए, उसका सारा ध्यान इसी बात पर तुल गया। उसके मुंह से यही शब्द निकले—"अब आप मुझे मार डालिए। मैं इस प्रकार जीना नहीं चाहती।"

क्षुब्ध गर्जना में विजय के मुंह से निकल गया—"मार डालूं! क्यों? मैं हत्यारा हूं? अच्छा! हत्या भी सही। लेकिन तुम्हारे प्राणों की नहीं, तुम्हारे उस गर्व की, अहंकार और अहम् की, तुम्हारे उस दम्भ की, जिसने मेरा अपमान किया था। तुम्हीं वह असभ्य, बर्बर, रूपगर्विता राजेश्वरी हो, जिसने मेरी एक साधारण जिज्ञासा के उत्तर में कहा था—मुह धो लीजिए पहले!—आज जब मैं मुंह धोकर आया तो तुम कहती हो, मुझे मार डालो।" फिर मुट्ठी बांधकर दो-तीन पग पीछे चलकर घूम गया। एक निःश्वास उसके अन्तस् से फूट पड़ा। क्षण-भर चुप रहा। फिर बोला—"विष का-सा घूंट पीकर मैं रह गया था। शिष्टाचार के रूप में मैंने इतना ही कहा था—मैं तुमसे ऐसे उत्तर की आशा नहीं करता था राजेश्वरी!—पर तुम तो अपने रूप के मद में उन्मत्त हो रही थीं। सोचा होगा—यह क्षुद्र जीव मेरा कर ही क्या लेगा? यह तुम थीं जिसने सर्पिणी की फुंकार में उत्तर दिया था—'मुझसे आशा रखने का प्रयोजन?' अब समझ में आ जाएगा, उस प्रयोजन का क्या अर्थ होता है!"

कथन के साथ विजय ने आंगन की ओर देखते हुए आदेश दिया—"नम्बर चार! आंगन में पड़ी हुई अरगनी की रस्सी काटकर इसके हाथ पलंग की पाटी से कसकर बांध दो। मुझे आज इसका वह दर्प देखना है, जिसने मेरा सोना हराम कर रखा था!"

राजेश्वरी उत्तर में एक शब्द तक न बोली। पलंग तो पहले से ही पड़ा हुआ था। विजय ने राजेश्वरी को एक धक्के से उसपर गिरा दिया। फिर संख्या चार का युवक पलंग की पाटी से राजेश्वरी के हाथ बांधने को जो अन्दर आने लगा, तो विजय ने कहा—"रहने दो। मैं ज़रा इसकी ये चेष्टाएं भी देखना चाहता हूं।"

फिर दो पग पीछे हटकर जैसे अपने-आपसे ही कहने लगा हो, कुछ मन्द स्वर में बोला—"जिन्हें देख-देखकर कभी मेरे मन में मिश्री घुला करती थी, उन कोमल हथेलियों को बंधन में कस जाने दूं? नहीं, नहीं। ऐसा कभी नहीं हो सकता।" आगे बढ़कर उसने खुला द्वार भीतर से बन्द कर लिया।

गिरधारी की दुलहिन रो पड़ी और कौशल्या मूर्छित होकर गिर पड़ी। राजकिशोर की दुलहिन के मुंह से निकल गया—"हाय, अब क्या होगा ?"

इसी समय बचानसिंह जो तीर की भांति भागता हुआ उधर आने लगा, तो संख्या चार के युवक ने उसपर पिस्तौल दाग दी। धुएं के साथ एक बार फिर बैंग की ध्वनि गूंज उठी। गिरधारी के मुंह से निकल गया—"हाय, बचान ठाकुर तो गए!" और बचान ठाकुर सचमुच आंगन में गिरकर तड़पने लगा।

विजय दांत किटकिटाता हुआ कह रहा था—"दिन-रात रूप-यौवन के मद में ही उन्मत्त रहने वाली अहंकारमयी नारी! देख, आज मैं तेरा यह दंभ किस प्रकार धूल में मिलाता हूं।"

राजेश्वरी उपस्थित संभावनाओं की कल्पना कर रो पड़ी। देह श्लथ होने लगी, किन्तु निःश्वास के स्वर अब भी कह रहे थे—'इससे तो मरण ही श्रेयस्कर है।'

विजय पलंग के पास जाता-जाता सहसा रुक गया और धीरे से बोला—"एक दिन मैं इस रूप की पूजा करता था। कभी-कभी जब नींद उचट जाती, तब इसी सौंदर्य-गरिमा की स्मृति में करवटें बदलते भोर हो जाता था। तुम जिस कालेज में पढ़ती रही हो उसकी संस्कृति ने तुमको यही सिखलाया है कि तुम सभ्यतापूर्वक किसीको उत्तर भी न दो। किस राजकुमार को अर्घ्य-दान करने के लिए तुमने यह गर्वोन्नत यौवन सुरक्षित रखा है, ज़रा सुनूं तो सही ?"

इस समय गिरधारी कहीं से बोल उठे—"धर्म मत लो, चाहे मार डालो।" किन्तु उनका यह कथन उस कमरे में पहुंचते-पहुचते अन्तरिक्ष में लीन हो गया। एक दीर्घ निःश्वास के साथ राजेश्वरी बोली—"बस, मुझे बहन समझकर छोड़ दो भैया, पैर पड़ती हूं।"

क्षण-भर राजेश्वरी ने यह अनुभव किया—कदाचित् प्रथम बार—कि स्वाभिमान और अहम् की तुलना में लाज-रक्षा का महत्त्व किसी प्रकार कम नहीं।

"हूंः, आज मुझे भैया बनाने चली हो! और उस दिन मैं भालू हो गया था। नयनतारा के साथ मेरा नाता तुम्हें मालूम न था ?"

विजय पलंग के पास खड़ा किटकिटा रहा था। वह अपने क्षोभ को संभाल नहीं पा रहा था। उसके अन्तराल से आंधियां उठ रही थीं।

राजेश्वरी के नयनोत्पल आंसुओं से तर थे। कुछ आंसू बहकर अधरों पर

स्थिर हो गए थे। आर्द्र कण्ठ कांप रहा था। विगलित करुणा से थरथराते हुए स्वर में उसने कह दिया—"क्षमा···सहस्र कण्ठों से मैं क्षमा चाहती हूं, भैया। ज़रा मेरी विवशताओं पर ध्यान दो। मानवता के नाम पर मैं तुमसे दया की भीख मांगती हूं—भाई के नाम पर वह पावन स्नेह मांगती हूं, जीवन-भर जो राखी की लाज निभाता है। राम-कृष्ण की महामहिम संस्कृति के नाम। मैं और किसी वस्तु की नहीं, केवल लाज की भीख मांग रही हूं।"

इतने में पार्श्व से सरदार की आवाज़ आई—"अब चलो, जो मिलना था, मिल गया।" और तब गमनोद्यत विजय राजेश्वरी की ओर उन्मुख होता हुआ एक तेवर के साथ बोला— "अच्छा, जाओ छोड़ता हूं। और कुछ ?"

हतप्रभ राजेश्वरी अब पलंग से उठकर विस्मय से अवाक् हो उठी। अप्रत्याशित श्रद्धा से हाथ अपने-आप जुड़ गए और नतशिर नयनों से अश्रु मुक्त हो झरने लगे—टप्-टप्!!

थोड़ी ही देर में सभी युवक एकसाथ विदा होने लगे। चलते-चलते भी, गली से निकलते हुए, उन्होंने दो बार बन्दूकें चलाईं।

दूसरे दिन जब सवेरा हुआ, तब भी कुछ लोग घरों से निकलते हुए थर-थर कांप रहे थे। बिहारी पण्डित मौन थे। किसीसे मिलना उन्होंने स्वीकार नहीं किया।

कुछ बातों का और पता चला। राजेश्वरी की मां के पैरों में चांदी के जो कड़े थे, कहते हैं, वे दो सेर से कम न रहे होंगे। जब बाहुबल से भी उनके जुड़े हुए होंठ खोले न जा सके, तब नम्बर एक ने कहा था—'अगर न निकाले जा सकें तो पैर काट डालो।'

इसपर राजेश्वरी की मां की घिग्घी बंध गई थी। थरथराते हुए स्वर से उन्होंने कहा था—'प-प···पैर मत काटो। संडासी ले लो।' और उन्होंने स्वयं संकेत से बतला दिया था—'वह रखी है।'

सवेरे दस बजे दरोगाजी आए। गिरधारी ने लूट के सामान की जो सूची बनाई, वह सब मिलाकर कोई बीस हज़ार रुपये की थी। पांच हज़ार तो नकद ही थे। गांव के लोगों को इकट्ठा करके जब दरोगाजी ने पूछा—"किसीने उनको देखा नहीं ? कैसी पोशाक पहने थे ? किसीने पहचाना भी नहीं ?" तब एक ग्यारह वर्ष की लड़की रामदेई ने बताया था—"पोशाक सबकी एक ही-सी थी। टोप सबके सिर पर था। चमड़े की बद्धी सबकी कमर में बंधी हुई थी। मोज़ा

और घुटन्ना पहने हुए थे। आंखों को छोड़कर बाकी पूरे मुंह पर काला-काला-सा कुछ पड़ा हुआ था। मैंने उन्हें लौटते समय किवाड़ों की ओट से देखा था।"

मातादीन और बचानसिंह दोनों का शव अब पास ही पास रखा हुआ था। जिस जगह गोली लगी थी, दरोगाजी जब वह जगह भी देखने लगे, जहां इकट्ठा गाढ़ा काला पड़ा हुआ खून और यत्र-यत्र उसके छींटे पड़े हुए थे कि फिर रामदेई ने कह दिया—"बाबू साहब, पोशाक तो आपकी ही जैसी थी।"

दरोगाजी ने नाक सिकोड़ते हुए कह दिया—"क्या बकती है ?" और कहते गए—"कम्बख्त अपनी कोई भी निशान नहीं छोड़ गए !"

रामदेई भाग खड़ी हुई।

"अच्छा; रिपोर्ट थाने में जाकर लिख लूंगा। अब यह बतलाइए, आपको किसीपर शक तो नहीं ? और हां, मुंशीजी, गवाहियों के अंगूठे-वंगूठे लगवा लीजिए।"

ठाकुर गेंदासिंह वहां उपस्थित थे, उत्सुकता से गिरधारी बाबू के मुंह की ओर देखने लगे।

गिरधारी बाबू ने मुंह लटकाए उत्तर दिया—"किसीपर कोई शक नहीं है दरोगाजी। भैया किसीके साथ ऐसा व्यवहार ही नहीं करते कि कोई उनसे नाराज़ हो।"

गेंदासिंह निर्विकार मुद्रा में बोल उठा—"सारी मुसीबत तो यही है, दरोगा-जी, कि मुसीबत उसीका घर खोजती है, जो सबका भला चाहता है !"

दरोगाजी मुस्कराते-मुस्कराते संभलकर बोले—"डाकुओं का पता चल गया तब तो क्या बात है ! वरना इस वारदात का सदमा मुझे ज़िन्दगी-भर रहेगा।"

अब दरोगाजी को जांच-पड़ताल करते-करते दुपहर हो गई थी। अतएव अवसर देखकर गेंदासिंह बोल उठे—"न हो किसीको भेजकर चाय और नाश्ता मेरे यहां से मंगवा लो गिरधारी भाई।"

गिरधारी कुछ कहने ही वाले थे कि मुरारी ने कह दिया—"अभी आया जाता है। मैंने प्रबन्ध कर लिया है। ठाकुर साहब, आपको तकलीफ उठाने की ज़रूरत नहीं।"

चन्द्रमा लाला पहले तो निकट बैठे थे, पर इस समय उनका पता न था। किसीने ध्यान नहीं दिया, वे कब चुपचाप उठकर चले गए।

थोड़ी देर बाद दरोगाजी ने चलते हुए कह दिया—"लाशें थाने में भेजने का प्रबन्ध कर दो। दोनों चौकीदारों से कहो कि साथ-साथ आएं।"

फिर सब लोग एकसाथ उठकर चलने लगे।

कहते हैं, बिहारी पण्डित को कभी किसीने रोते न देखा था। पर उस दिन घण्टे आध घण्टे के अन्दर से उनकी आंखें भर-भर आतीं। मुरारी उनके सबसे निकट थे। वही समझाते रहते थे—

"जो हुआ सो हुआ। उसे कोई मेट नहीं सकता। क्यों हुआ, कैसे हुआ, इस-पर भी जितना अधिक सोचोगे, उतनी ही अधिक तकलीफ होगी।

"एक न एक दिन ऐसे संकट भी बड़े लोगों पर आ ही जाते हैं, सच पूछो तो यही बड़प्पन का दण्ड है। माना कि दण्ड बहुत भयानक है, पर बड़े आदमी ही इसे सह भी सकते हैं।

"महापुरुष इंच-इंच भूमि का योद्धा होता है। ऐसे ही बड़े आदमी संकट के समय क्षण-क्षण के लिए धीर और सहनशील होते हैं। आपकी शोभा इसीमें है कि अपने कर्तव्य से विचलित न हों।"

पर बिहारी पण्डित के हृदय में धधकता अग्निकुण्ड किसी तरह शान्त न होता था। नकद रुपये-पैसे और आभूषणों की हानि की उतनी पीड़ा उन्हें न थी जितनी राजेश्वरी के अपमान की। धीरे-धीरे गांव-भर में यह खबर फैल गई थी—'राजेश्वरी की लाज लुट गई!'

दो दिन तो घर में चूल्हा ही नहीं जला। मुरारी ने अपने घर से परांठे-साग बनवाकर भिजवा दिया। वे स्वयं दिन-भर वहीं बने रहे। बिहारी पण्डित घर से बाहर न निकले। खाना उनसे खाया न गया। बहुत आग्रह करने पर केवल दूध—सो भी पाव-भर से अधिक नहीं—पी लेते थे। राजेश्वरी की स्थिति और भी चिन्त्य थी। वह दिन-रात कोठरी में पड़ी रहती। राजकिशोर की दुलहिन वहीं आकर उसे खाना दे जाती, पास बैठकर खिलाने की भी चेष्टा करती; पर राजेश्वरी से कौर न तोड़ते बनता। आंसू तो जैसे आंखों में भरे ही रहते। जो पीड़ा शब्दों में उतर न सकती, वह नयनों के मार्ग से फूट पड़ती। जब तक मुंह का कौर कण्ठ से उतरने की तैयारी करता तब तक आंसू बहकर अधरों तक आ जाते। भोजन समाप्त हो जाता और राजेश्वरी गिलास, दो गिलास पानी पीकर पेट भर लेती।

कई दिनों तक चन्दनियां ने घर न छोड़ा। कौशल्या के पास जाती, तो उन्हें मनाने लगती—"चाची, अब नहा डालो। जब तक तुम रोटी न खाओगी, बहू चौके में भी न जाएंगी। फिर तुमको पूजा-पाठ में भी देर लगती है। दादा से भी तब तक कुछ न कह पाऊंगी। पहले ही पूछ बैठेंगे—राज की मां ने खा लिया?—उठो चाची, भगवान बिचारे भूखे बैठे हैं। उनके भोग में देरी करोगी तो उनको बुरा न लगेगा!"

कौशल्या ने उससे आंसू टपकाते हुए कह दिया—"भगवान न भी बने होते तो क्या था!"

"ऐसा न कहो चाची, भगवान न बने होते, तो धरम कैसे बचता? बड़े भाग्य थे जो धरम बच गया। दौलत का क्या है, फिर हो जाएगी। पैर पड़ती हूं चाची, अब उठो। देखो दुपहरी हो गई। सूरज सिर पर चढ़ आया। धूप आंगन के उस पार जाने को हुई। दुलरबा बैलों को पानी दिखाकर लौट आया। राज बिटिया है, दुलहिन हैं, छोटी चाची हैं। एक तुम्हींसे लगी हैं सब। उठो तो झट से।"

इस तरह चन्दनियां पहले कौशल्या को ठेल-ठालकर राज़ी करती, फिर बिहारी पण्डित को जा घेरती। दर्शन की भाषा उसे आती न थी। केवल एक नारी-सुलभ ममता थी, जो समवेदना के स्वरों में मर्मवाणी बनकर फूट पड़ती थी—

"दादा, तुम उठे नहीं और वहां बड़ी मांजी तुम्हारी राह देख रही हैं। दुपहरी लौट गई। गैया खा-पीकर जुगाली कर रही है। भैंस सवेरे बिचक गई थी। दुलरवा पल्हा-पिल्हू कर अब कहीं राज़ी कर पाया है। मुरारी चच्चा के घर से खाना आ गया। मैंने ठुइयां और पटुवां दोनों को परांठे के टुकड़े डाल दिए। दोनों बड़े प्रेम से कुतर रहे हैं। मगर दादा, भगवान बिचारे ने क्या कसूर किया है, जो उनको भूखों मार रहे हो!"

बिहारी पण्डित दो रात से सोए न थे। सिर फटा जा रहा था। आंखें लाल हो आई थीं। चन्दनियां की बातें मुंह मूंदे सुनते रहे-सुनते रहे। फिर एकाएक उसकी ओर दृष्टि डाल बोल उठे—"तू भगवान को पहचानती है चन्दनियां?"

"पहचानती न होती, तो कांच की इन हरी-हरी चूड़ियों को बीस बरस से कैसे संजोकर रखती। या तो इन्हें फोड़ ही डालती, या कुतिया की मौत मर

जाती।"

चन्दनियां की बात सुनकर बिहारी पंडित एकाएक उठ बैठे। वे जानते थे—चन्दनियां का पावन चरित्र किसी सती नारी से कम नहीं है। एक निःश्वास अन्तराल के गवाक्ष से फूट पड़ा—"यह तूने ठीक कहा चन्दनियां! अच्छा, जा मेरे लिए पानी तो ला बिटिया।"

११

विडम्बना ऐसी जिसका कहीं विवरण नहीं; भय ऐसा जिसने स्थायी रूप ग्रहण कर लिया हो। यह ऐसी पीड़ा थी, जो कार्य के क्षण ही प्रायः भूली रहती, पर कार्यहीन विश्रान्ति की घड़ियों में फिर उभर उठती थी।

राजेश्वरी उस कारण को किसी प्रकार भूल न पाती थी, जो उसके विवाह के सम्बन्ध में मुख्य रूप से एक व्याघात बना हुआ था। इसमें कोई सन्देह नहीं कि उसमें उसका कोई दोष न था, किन्तु फिर भी उसका परिणाम वह भोग रही थी। ऐसे समय वह यह भूल जाती थी कि दोष मेरा नहीं, मेरे अपावन रूप का है।

पर क्या रूप भी अपावन होता है?

विश्वविद्यालय की वह एक प्रसिद्ध छात्रा थी। प्रसिद्ध इस अर्थ में कि शारीरिक गठन, उज्ज्वल वर्ण, मोहक छवि, वेश-विन्यास में ही नहीं, भावाभिव्यक्ति की दृष्टि से भी विश्वविद्यालय-भर में वह एक आकर्षण थी और सब प्रकार से एक दर्शनीय व्यक्तित्व बन गई थी। लोग एक बार उसे देखकर उत्साह और प्रेरणा का अनुभव करते। कुछ लोग ऐसे भी थे, जो रास्ते में, इधर-उधर उसे देख पाते, तो अपनी सामाजिक मर्यादा, शिष्टता और सभ्यता भूलकर सहज ही ठिठुक जाते—'ठहरो भाई, थोड़ा देख लूं। महीनों बाद तो आज एक झलक दिखाई दी है।'

उधर स्थिति इसके नितान्त प्रतिकूल थी। राजेश्वरी कभी यह भूल न पाती

थी कि वह अछूती होते हुए भी अछूती नहीं है। छर्रे जब बदन में लगते हैं, तब तत्काल उससे खून बह चलता है। वैसे ही जब कभी कोई उससे मिलकर उसका मन छूने की चेष्टा करता तो उसकी पीड़ा बह चलती थी। लेकिन छर्रों का लगना फिर भी बन्द न होता था। यह स्वर तो उसके आन्तरिक मानस से उठता ही रहता था, कि मैं एक बार मिट चुकी हूं, मेरा विनाश हो चुका है। कदाचित् यही कारण था कि किसीसे सम्पर्क स्थापित करने में उसे अपनी ओर से कोई उत्साह न होता था। यह एक ऐसी जड़ता थी, जिससे छुटकारा पाना उसके लिए दुष्कर हो गया था। अक्सर अपने छात्रावास का कमरा बन्द करके वह घंटों मूक भाव से पड़ी रहती, यद्यपि उसका यह मूक एकान्तवास भी एक सीमा तक ही स्थिर रह पाता था।

नयनतारा राजेश्वरी के बिना रह ही न सकती थी। बी० ए० में उसके विषय थे—हिन्दी साहित्य, अंग्रेज़ी साहित्य, राजनीति-विज्ञान एवं सामान्य अंग्रेज़ी (अनिवार्य)। नयनतारा अंग्रेज़ी साहित्य में सम्यक् दुर्बल थी। इसलिए जब वह इस विषय के अध्ययन में लग जाती, तो राजेश्वरी की सहायता उसके लिए अपेक्षित हो उठती। प्राय: प्रतिदिन कुछ ऐसा होता कि थोड़ी देर पढ़ने के बाद वह अपनी कुर्सी छोड़ देती। राजेश्वरी के बन्द कपाटों के ऊपर वाले शीशे पर दो बार ठक्-ठक् का शब्द होता, राजेश्वरी भी आगन्तुक को समझ जाती। किवाड़ खुल जाते और नयनतारा अन्दर प्रवेश करती हुई, अगर पलंग खाली होता तो उसपर आकर लेट जाती और फिर अंगड़ाई लेती हुई बोल उठती—"आखिर मुझे आना ही पड़ा।"

ऐसे अवसर पर कथन के साथ उसकी दन्तावली खुल जाती और अपनी ही बात पर वह खिलखिला पड़ी। कदाचित् वह कहना चाहती थी कि आने की तबियत तो न थी, फिर भी आना ही पड़। प्रकारान्तर से वह यह बात उस-पर स्थापित करना, या कह लो, जमाना चाहती थी कि तुमको मेरा कृतज्ञ होना चाहिए।

राजेश्वरी प्राय: पूछ बैठती—"सोकर उठी हो क्या? आंखों में नींद भरी है।"

उस नयनतारा ने इस प्रश्न के उत्तर में मुंह बनाकर कह दिया—'ऊं··· हुं। प्यार भरा है।"

नयनतारा विवाहिता थी। इसलिए राजेश्वरी झट सोचने लगती—'इसको ऐसा कहने का अधिकार है।' इसमें इतना और निहित रहता—'जो मुझको नहीं है।' अतएव ऐसे अवसरों पर राजेश्वरी गम्भीर हो उठती।

नयनतारा प्रायः अनुभव करती थी कि जब मैं इस तरह की बातें करती हूं तो राजेश्वरी कभी मेरा साथ नहीं देती। मिला-जुला उत्तर देना तो वह जानती ही नहीं है।

उस दिन कुछ ऐसा हुआ कि राजेश्वरी पलंग पर लेटी हुई थी। क्लास में भी वह अनुपस्थित थी। वस्त्र उसने बदले नहीं थे। यहां तय कि उसका केश-पाश भी न विधिवत् गुम्फित किया हुआ था, न उसमें चिकनेपन की चमक थी। भाल और कनपटी पर लटें बिखरी हुई थीं।

यह स्थिति देखकर नयनतारा कुर्सी पर बैठते ही पहले मुस्कराई, फिर उसके होंठ एकाएक हिल उठे। उसने कह दिया—"आज पुनः वह दिन आ ही गया!"

नयनतारा जानती थी—हमारे वय और वयस्क जीवन की और भी तो लड़कियां हैं जो ऐसे अवसरों पर अनुपस्थित नहीं होतीं। वेश-विन्यास, भाव-भंगिमा, यहां तक कि अध्ययन-प्रणालियों की विशेष और मौलिक अभिव्यक्तियों में भी अर्थान्तिर उपस्थित होने के अवसर नहीं आते। पर राजेश्वरी अपने संस्कारों से विवश है।

नयनतारा उसके पलंग पर आकर नितान्त संलग्न होकर बैठ गई और बोली—"गुलाब का पुष्प जब अपनी कली की संज्ञा से मुक्त हो जाता है, तब उसे देखने का ही नहीं, उसकी मन्द गन्ध से आप्लावित होने का सुअवसर सारी प्रकृति को मिलता है, मनुष्य को मिलता है, पशु-पक्षी को मिलता है, निखिल जगत् के सचराचर जीवों को मिलता है।" इसके बाद फिर एक आह भरकर उसने कह दिया—"अफसोस कि नयनतारा को नहीं मिलता।"

कथन के साथ एक गम्भीरता, फिर आह भरने का एक अभिनय और समाप्ति के अनन्तर प्रवंचना-भरी स्मिति।

"उठो, उठो यहां से।" राजेश्वरी ने अंगुली को उसकी कटि में लगातार कोंचते हुए कहा।

"बुरा लग गया? कांटा छिद गया? शूल घुस गया? पीड़ा हो उठी? व्रीड़ा

बिखर गई ?"

"देखो नयना, तुम्हारी यह ढिठाई मुझे अच्छी नहीं लगती। उठो यहां से। उधर कुर्सी पर जाकर बैठो।"

"क्यों, सिद्धान्त भंग हो गया ? पवित्रता को पाला मार गया ? शाखामृग कंचुकी चीर गया ?"

नयनतारा के इस चंचल रूप से राजेश्वरी की वह सोई हुई भावना जग उठी, और वह बोली—"यह असमय तंग करना मुझे अच्छा नहीं लगता, नयना। इसलिए भलाई इसीमें है कि जिस काम से आई हो उसे कर डालो, और मुझे अकेला छोड़ दो!"

नयनतारा झट उठकर खड़ी हो गई और गम्भीरता के साथ बोली—"मेरा आना अगर तुमको अच्छा नहीं लगता, तो लो, मैं जाती हूं। किवाड़ भीतर से बन्द कर लो।"

राजेश्वरी पलंग से उठकर बोली—"चलो, कृष्णमुख करो।"

नयनतारा आगे थी और दायें ओर का किवाड़ उसके हाथ में था। राजेश्वरी उसके बाहर निकलते ही किवाड़ बन्द करने के लिए जो आगे बढ़ी तो नयनतारा ने बाहर जाने के बदले तुरन्त भीतर आकर पहले किवाड़ बन्द कर लिए, फिर अपनी दाईं बांह को उसके गले में डाल दिया और एक प्रगाढ़ आलिंगन के बाद आखों में आंखें डालकर मुस्कराई और बोली—"बस, इसी कार्य से आई थी। मेरा ख्याल है, अब तुम समझ गई होगी!"

राजेश्वरी एकदम गम्भीर हो गई। उसके जीवन में अपने ढंग का अकल्पित और अप्रत्याशित यह पहला दिन था। अतएव झट उसे अतीत का ध्यान हो आया—'उस क्षण भी प्रारम्भ कुछ इसी प्रकार हुआ था।'

नयनतारा कमरे से बाहर न जाकर जान-बूझकर क्षण-भर खड़ी रह गई। कदाचित् वह राजेश्वरी की प्रतिक्रिया देखना चाहती थी। पर यह देखकर वह चकित, अभिभूत और अतिशय चिन्तित हो उठी कि राजेश्वरी द्वार से एक पग पीछे हटकर पलंग के पास पहुंचती-पहुंचती उसपर गिरकर एकाएक अचेत हो गई।

वह अप्रिल मास का प्रथम सप्ताह था। परीक्षाएं अभी समाप्त नहीं हुई थीं। पंखा पहले नम्बर पर खुला हुआ था।

नयनतारा कुछ घबरा गई। उसने सुना था कि वयस्क हो जाने पर यौवनागम के पहले प्रहर से ही मूर्छा का यह रोग उन लड़कियों को ग्रस लेता है, जो अविवाहिता रहने के कारण यौन-सम्बन्धों की प्रकृत-स्वाभाविक चेतना से विवश आक्रान्त हो उठती हैं !

राजेश्वरी पलंग पर गिरते समय कुछ अस्त-व्यस्त हो उठी थी। उसकी इकलाई साड़ी साया के साथ-साथ पिंडली तक खुल गई थी। ब्लाउज़ ऐसी महीन चिकन का कि उसके सुगठित शरीर की उठान और विनतमुखी मांसलता लोमावलि के साथ झलक उठी थी। एक हाथ पलंग की पाटी पर पड़ा था और दूसरा वक्ष पर। अंगुलियों के नख इतने लाल थे कि उनकी नवल प्रदीप्ति एक दिन भी पुरानी न पड़ी थी।

ब्लाउज़ का तिकोना गला कुछ उन्मीलित था। नेत्र यद्यपि बन्द थे किन्तु पलक और अधर कभी-कभी कम्पित हो उठते थे।

नयनतारा पहले पलंग के पास खड़ी हुई दो मिनट तक बराबर उसके मुंह की ओर देखती रही। एकाएक उसे प्रतीत हुआ—राजेश्वरी कुछ कह रही है। उसका कुतूहल जग उठा और तब वह उसके मुंह के और भी पास आ गई। जिज्ञासा और भी प्रबल हो उठी—'देखूं यह कहती क्या है ? क्या इसके मन के भीतर कोई कांक्षा है ? कोई परिवाद, उपालम्भ या प्रश्न है ? कोई अभाव, द्वन्द्व या घात-प्रतिघात है ?'

आंखें मूंदे राजेश्वरी बुदबुदा रही थी। स्पष्ट-अस्पष्ट, कोई शब्द प्रस्फुटित और कोई डूबा हुआ, निर्विकल्प, सन्निहित।

एकाएक उसका ध्यान खुले कपाटों की ओर जा पहुंचा—'ऐसे समय यदि कोई आ गया, तो सम्पूर्ण छात्रावास में एक सनसनी फैल जाएगी। और जो कहीं राजेश्वरी ने मेरे कृतित्व की बात प्रकट कर दी, तो अपने ऊपर आए लाञ्छन, आरोप और तज्जन्य अपराध को मैं कैसे छिपाऊंगी ?'

भीतर से कुण्डी बन्द करते हुए नयनतारा पुनः पलंग पर आकर बैठ गई।

बुदबुद ऐसे कि कम्पित अधरों की क्रीड़ा के प्रतीक। बुदबुद ऐसे, जो गुलाब के खिले दलों को बिखेरने जा रहे थे, पवन के पहले ही झकोर से।

राजेश्वरी कह रही थी—"नहीं, नहीं। कुछ नहीं, कुछ नहीं।···मैंने कुछ नहीं किया।···मैं···मैं निरपराध हूं।···हाय सत्यानाश···सर्वनाश। अरे अम्मा,

ज़हर-ज़हर···ज़हर दे दो मुझे।···क्या कहा?···बचान ठाकुर मार डाले गए? ···अम्मा, तुम रोती हो?···लो मैं जिऊंगी। मैं सब कुछ सहूंगी।···परिवार, भाई, बहन, मां, समाज, गांव।···कुछ नहीं। मैं किसीकी परवाह न करूंगी। मेरा यौवन···अखण्ड है, मेरा कौमार्य दुग्ध-स्फीत मन्दाकिनी की अजस्र विमल धारा की भांति। मेरा जीवन-दीप कभी बुझने न पाएगा, मैं जलती ही रहूंगी निरन्तर। कोई भी आंधी मेरी ज्वलन्त लौ को झुका न पाएगी। नयनों का जल चाहे सूख जाए पर जलन मेरी जीवित रहेगी!"

फिर एक स्थिर मान।

नयनतारा ने अनुभव किया, हो न हो, इसके परिवार में कोई ऐसी दुर्घटना हुई है, जिसके साथ इसका घनिष्ठ सम्बन्ध है। उसकी गोल, गोरी, कोमल बांह पर उसने हाथ रखा, फिर उसका ध्यान उसके यौवन पर जा पड़ा—'उफ़, इतना रूप!'

उसने पुनः सोचा—'इस समय कोई देखने वाला तो है नहीं।' सहसा प्रकाश की एक किरण उसके अन्धकाराच्छन्न मन पर आ गई—'मैं पशु तो हूं नहीं! फिर राजेश्वरी मेरी सखी है, बहन! छिः, छिः! मैंने यह क्या सोचा था!' वह उठी और कोने पर रखी सुराही से शीशे का गिलास पानी से भर लिया। फिर चुल्लू में लेकर उसकी पलकों को लक्ष्य करके छींटे मारने लगी। फिर खाली गिलास को पलंग के नीचे रख दिया और पंखे को तीसरे नम्बर पर, पूरी गति से चालू करके कुर्सी पलंग के पास खिसका ली। फिर उसीपर बैठकर वह राजेश्वरी की ओर झुक गई।

राजेश्वरी की पलकें एकाएक हिल उठीं और निःश्वास के साथ उसने करवट बदल ली। नयनतारा ने देखा—बगल के नीचे का भाग पसीने से भीगा हुआ है। जल-बिन्दु अब भी उसके मुख, मस्तक, नासिका, कपोल और पलकों पर झलक रहे थे।

नयननारा चुपचाप बैठी रही। दो मिनट बाद एकाएक राजेश्वरी ने आंखें खोल दीं और उसके मुंह से निकल गया—"ओः, नयनतारा!"

लज्जित नयनतारा सिहर उठी और बोली—"कैसा जी है दीदी?"

राजेश्वरी ने म्लान मुख, शान्त, मन्द, संक्षिप्त वाणी से उत्तर दिया—"ठीक है।" और फिर आंखें बन्द कर लीं।

नयनतारा के मन में आया—'मूर्छा के समय की बुदबुद, उसकी शब्दावली के सम्बन्ध में इस समय कुछ पूछना क्या ठीक होगा ?'

उसके अन्तःकरण ने कहा—'भोली नयनतारा, यह तेरी दूसरी भूल होगी।'

'जीवन इस तरह तो चल नहीं सकता। धरती तक जो कहीं गीली हो जाती है, तो उसपर धूल-मिट्टी डाल देते हैं।' एकाएक सोचती हुई राजेश्वरी अब लेटी न रहकर उठ बैठी, नयनतारा को ध्यान से देखने लगी। उसे स्मरण हो आया—'मैं जब-जब इस प्रकार मूर्छित होती हूं, तब-तब कुछ न कुछ धीरे-धीरे बक भी डालती हूं। ऐसा कुछ इस बार भी हुआ होगा।'

तब तक नयनतारा ने कह दिया—"यह तुमको क्या हो गया था दीदी ? गलती मेरी ज़रूर थी, पर मैं यह न जानती थी कि इसका परिणाम इतना गम्भीर होगा। तुम तो मुझसे बड़ी हो दीदी। क्या मुझे क्षमा न करोगी ?"

कथन के बाद थोड़ा रुककर नयनतारा कुर्सी से उठकर पलंग पर आ गई। राजेश्वरी विचार में पड़ गई। तकिया उठाकर सिर के नीचे रखकर वह चुपचाप लेट गई। नयनतारा पहले तो कुछ क्षण मौन रही, फिर आप ही आप बोली—"हम साधारण मानवी जन ठहरे। दुर्बलताओं के आकार, आसक्तियों के आहार, जीवन और सौख्यानुभव के क्षेत्र में कभी कोई प्रयोग कर ही बैठें, तो मैं इसमें कोई बुराई नहीं देखती। इसलिए मुझसे यह धृष्टता हो गई। मैंने यह कल्पना भी नहीं की थी कि छोटी-सी बात, इतना छोटा-सा प्यार भी इस प्रकार अपराध की संज्ञा ले लेगा। मैं तुमसे फिर क्षमा मांगती हूं दीदी।"

इस समय राजेश्वरी की स्थिति बड़ी शोचनीय हो उठी। घना अंधेरा उसके जीवन में भले एक दिन के लिए ही आया हो, पर वह उससे इनकार कैसे कर सकती है ? भयावह परिस्थिति का एक ही निर्घोष जिसके सम्पूर्ण जीवन का अभिशाप बन गया हो, वह उससे अपने को सर्वथा निस्संग कैसे बना सकती थी ? देह-बन्धनों की परिकल्पना के नाना आरोप, सामाजिक हस्तक्षेप और दुरभिसन्धियों के क्रमागत प्रहार सहते-सहते जिसके अन्तर्मन का सारा अहंकार धूल में मिल गया हो, सामाजिक नियन्त्रणदग्धा, मर्यादा-प्रताड़ित वह प्रमुग्धा नारी अपना अन्तःकरण खोलकर कैसे दिखा सकती थी ?

एक मुस्कराहट में वह इस सारी घटना को जैसे आत्मसात् करके बोल उठी—"न जाने क्या बात है नयना, मुझे कभी-कभी ऐसे ही कुछ हो जाता है ? पहले

भी एक-आध बार हुआ है। इसलिए जो कुछ हो गया, सो हो गया। इसके लिए मैं तुम्हें कोई उपालम्भ न दूंगी।" फिर अलमारी की ओर देखती हुई बोली—"देखो, शायद दूध रखा हो। अलमारी खोलो। चीनी और ओवल्टीन भी उसीमें होगा। दो प्याले बना लो।"

नयनतारा उठी और स्टोव जलाने के उपक्रम में हवा वाला हैंडल चलाती बर्नर के चारों ओर आग की लपटें उभाड़ती, कुछ स्थिर होती हुई बोली—"मैं तो राबर्ट ब्राउनिंग की 'लास्ट राईड टुगैदर' कविता-सम्बन्धी अन्तःकथा की व्याख्या तुमसे सुनने आई थी।"

फिर कुर्सी ग्रहण कर इतना और जोड़ दिया—"आज की यह घटना सौभाग्य-सूचक है या दुर्भाग्यसूचक, मैं नहीं जानती। निकट भविष्य में हम लोग बिछुड़ जाएंगे, यह भी निश्चित है। पर साथ ही इतना और निश्चित है कि यह क्षण, यह घड़ी और तुम्हारी इस अद्भुत, मोहक रूपराशि के प्रति मेरे प्रथम प्यार का तुमसे प्राप्त यह प्रतिदान मुझे सदा स्मरण रहेगा।"

अर्धरात्रि के समय विजय बिहारी पंडित के यहां डाका डालकर लौट रहा था, तब उसके मन में वह उत्साह न था जो आगमन की घड़ियों में था। सफलता उसे मिल गई थी यह ठीक है, पर यह भी ठीक है कि अकस्मात् उसे वहां राजेश्वरी दिखलाई पड़ गई थी। उसके प्रति जो ज्वाला उसके हृदय की भट्टी में धधक रही थी, वह अब शान्त हो गई थी, किन्तु अब उसके मानस में कुछ नये प्रश्न भी उत्पन्न हो गए थे। सबसे पहला प्रश्न था, दो प्राणियों की हत्या का। इसमें सन्देह नहीं कि यह बात पहले से निश्चित हो गई थी—अगर कोई हमारे कार्यक्रम में बाधा डालेगा तो बाधा के सन्देहमात्र पर हम उसे समाप्त कर देंगे—किन्तु जब उसने देखा कि एक लाश मकान के भीतर पड़ी है और दूसरी मकान के बाहर गली में, तो उसे यह अनुभव हुआ कि विचार और व्यवहार में कितना अन्तर है! बचानसिंह के जो गोली लगी थी वह पीठ में थी, दाहिने कन्धे के नीचे और मकान के बाहर की गली में झांकने वाले आदमी के जो गोली वह बगल के नीचे थी। दोनों को धराशायी और रक्त से लथपथ अवस्था में टॉर्च के प्रकाश से देखता हुआ जब वह बाहर निकलकर आगे बढ़ रहा था, तब उसका एक बार विवेकशील मानवीय हृदय दहल उठा था।

लूट का माल लगभग बीस हज़ार का था। आठ भाग करने पर ढाई हज़ार रुपये का माल उसके हाथ आता था जो वर्ष-भर के लिए यथेष्ट था। यह भी सही था कि अब उसे एक वर्ष के भीतर अपनी मां या बहन के आगे खर्चे के लिए हाथ बढ़ाने की ज़रूरत न रह गई थी, किन्तु बारम्बार एक ही प्रश्न उसके भीतर से उभर उठता था कि आखिर इन मृत आत्माओं का अपराध क्या है ?

कहने के लिए बहुत-सी बातें थीं, 'अपराध हो या न हो। मुझे तो अपने खर्चे के लिए रुपया चाहिए। जो लोग मारे गए हैं, राष्ट्र के जीवन में उनका कोई महत्त्व नहीं है, जबकि मेरे जीवन का बड़ा महत्त्व है। उनके जीवन का कोई मूल्य नहीं है, जबकि मेरे जीवन का बहुत बड़ा मूल्य है।' और भी दूर जाकर सोचने पर कुछ स्वर भीतर से फूट निकलते हैं, 'बड़ी मछली छोटी मछली को खाकर जीती है। अगर कुछ लोगों का जीवन, स्वार्थ, विश्राम, उनके केवल पेट भरने की अवस्थाओं का अस्तित्व नष्ट नहीं होता, तो फिर हम कैसे जीवित रहेंगे? हमारे जीवन-सौख्य का प्रत्यक्ष और मूल अर्थ यही तो है कि कुछ लोगों को कष्ट मिले। इन दशाओं में मैं कहां दोषी ठहरता हूं ?'

बिहारी पंडित के मकान के आगे बढ़ते ही विजय के मन में यह विचार आने लगे थे। पर जब तक आठों साथी पक्की सड़क पर खड़ी हुई कार पर नहीं आ गए, तब तक किसी विषय में कोई विशेष बात नहीं हुई। गाड़ी ठाकुर कर्तारसिंह की थी, और उसका नम्बर भी कृत्रिम था। ड्राइवर तक को यह बात नहीं बताई गई थी कि हम कहां जा रहे हैं और किस उद्देश्य से ! जब ये लोग गाड़ी में बैठे तब कुछ साथियों ने काना-फूंसी करना आरम्भ कर दिया। विजय बोला—"स्पीक इन इंगलिश, प्लीज़ !"

कैलाश ने उत्तर दिया—"एग्रीड, सर !"

इस प्रकार अब सारी बातें अंग्रेज़ी भाषा में होने लगीं।

अब साथियों ने एक-एक करके आक्रमण की सभी दिशाओं के प्रारम्भ से लेकर अन्त तक की विवेचना प्रारम्भ कर दी।

कैलाश ने कहा—"मुझे सबसे अधिक आश्चर्य इस बात का है कि एक अविवाहिता मुग्धा नवयुवती उस घर में ऐसी मिल गई, जिसको विजय पहले से जानता ही न था बल्कि उसके साथ इधर कुछ दिनों से उसकी चल भी रही थी।"

रणधीरसिंह सिगरेट फूंकते हुए बोला—"अरे वही होगी, राजेश्वरी।"

कैलाश ने उत्तर दिया—"और तारीफ की बात यह है कि चिड़िया चंगुल में आ जाने पर भी इस उल्लू से उड़ाते न बनी।"

विजय ने आवेश के साथ कह दिया—"बको मत कैलाश! तुमको क्या मालूम कि हमारी लड़ाई का मूलाधार क्या था! मुझे रोना आता है, जब मैं यह सोचने लगता हूं कि हमने उसे पराजित ज़रूर किया, लेकिन बुद्धि-बल से नहीं, पशु-बल से।"

उसने जान-बूझकर यह नहीं कहा कि पिस्तौल की नोक से।

इसी समय घनश्याम तिवारी ने कह दिया—"मनुष्य चाहे जितना सभ्य हो जाए, लेकिन पशुत्व उसका कभी जाएगा नहीं और मरेगा तो कभी नहीं।"

विजय ने उत्तर दिया—"मैं इस कथन से सहमत नहीं हूं।"

गाड़ी चली जा रही थी। अंधेरी रात में गाड़ी के आगे वाले प्रकाश के गोल शीशों के भीतर से दौड़ती हुई रोशनी में ड्राइवर ने देखा, आगे सड़क के दाईं ओर एक सियार खड़ा हुआ था। रोशनी देखकर वह दो-चार गज उसी किनारे-किनारे आगे बढ़ा और फिर दाहिनी ओर झाड़ी में घुस गया।

विजय ने कह दिया—"मनुष्य पशु अवश्य है किन्तु वह बौद्धिक पशु है और यह तो कोई जवाब न हुआ कि अगर सीधे तौर से मेरी मांग पर नहीं झुकते तो फिर प्राणों से हाथ धोने के लिए तत्पर हो जाओ।"

कैलाश बोल उठा—"हिंसा हिंसा है, चाहे वह बौद्धिक हो चाहे पाशविक। ऐसा ही था तो आपको हमारे दल में सम्मिलित नहीं होना चाहिए था। हमें भय है कि विजय कोई ऐसी गलती न कर बैठे, जिससे आगे चलकर हमारा जीवन संकट में पड़ जाए।"

विजय के मुंह से निकल गया—"ऐ ड्राइवर साहब! गाड़ी खड़ी कर दीजिए।"

सब लोग एकसाथ चौंक पड़े।

रणधीर ने पूछा—"क्यों, क्या हुआ?" घनश्याम और त्रिलोकी एकसाथ बोल उठे—"बात क्या है, बतलाइए न?"

ड्राइवर ने गाड़ी खड़ी कर दी।

पहले उससे विजय उतरा, फिर कैलाश। उसके बाद घनश्याम, रणधीर और त्रिलोकी।

विजय सड़क के उस पार बाईं ओर जाकर एक झाड़ी के अन्दर घुस गया। कैलाश ने पूछा—"क्या कहना है आपको ?"

विजय ने उत्तर दिया—"मैं बहस नहीं करना चाहता। आप अगर मुझपर सन्देह करते हैं तो मुझे यहीं समाप्त कर दीजिए। मैं मरने को तैयार हूं। लेकिन हमने जो कुछ किया है उसपर मुझे खेद है। अगर हम मनुष्य को बुद्धि-बल से नहीं जीत सकते, तो हमारा मनुष्य होना व्यर्थ है। यह मेरा अटल विश्वास है और इसमें किसी प्रकार का समझौता नहीं हो सकता। आपको मालूम होना चाहिए कि आदिम युग से मनुष्य को केवल तीन रोग थे—इच्छा, भूख और बुढ़ापा। किन्तु पशुता ने बढ़ बढ़ाते इन रोगों की संख्या अठानवे तक पहुंचा दी है। कमी केवल दो की रह गई है। अगर वे भी बढ़ गए तो मनुष्य फिर आदिम युग में चला जाएगा। यह भगवान तथागत का वचन है।"

कैलाश मुस्कराने लगा और अपने अन्य साथियों की ओर देखता हुआ बोला—"आप लोगों ने देखा, मैंने पहले ही कहा था कि ऐसे सनकी व्यक्ति को साथ में लेना कभी निरापद नहीं हो सकता।"

इतने में घनश्याम ने कह दिया—"पागल मत बनो ! चुपचाप हमारे साथ कानपुर चलो। ऐसा ही है तो अब आगे किसी कार्यक्रम में भाग न लेना। बस।"

विजय ने और भी दृढ़ता के साथ उत्तर दिया—"नहीं, नहीं, नहीं। आप मुझे यहीं छोड़ दीजिए। मैं कहीं भी चला जाऊंगा। माल सब कैलाश के पास है। आप लोग आपस में बांट लीजिएगा। और यह लीजिए पिस्तौल, मुझे इसकी भी आवश्यकता नहीं।"

त्रिलोकी बोला—"अच्छी बात है कैलाश भाई। मैं इनके साथ रहूंगा, केवल एक छोटे भाई के नाते। माल सब लेते जाइए। बंटवारा फिर होता रहेगा। साधारण खर्चे के लिए मुझे पचास रुपये दे दीजिए।"

कैलाश बोल उठा—"ऐसा नहीं होगा। अब पहले बंटवारा होगा, फिर हममें से कोई पृथक् हो सकेगा।"

त्रिलोकी ने कह दिया—"जैसी आपकी मर्ज़ी।"

वहां कोई तराज़ू तो थी नहीं। तब अन्दाज़ से रुपये और आभूषण के आठ भाग कर लिए गए। जब सबने अपने-अपने भाग ले लिए, तब त्रिलोकी ने कह दिया—"अब विजय भाई का भाग मुझको ही दे दीजिए।"

त्रिलोकी ने पूछा—"क्यों विजय ?"

इतनी देर में विजय ने सोच लिया था कि लेने में कोई हर्ज नहीं है। हम इसका और भी उत्तम उपयोग कर सकेंगे। उनके पास भला क्यों रखेंगे ? खैर, देखा जाएगा। और उसके मुंह से निकल गया—"मुझे आपत्ति नहीं है।"

अन्त में ऐसा ही हुआ।

कैलाश, घनश्याम और रणधीरसिंह गाड़ी पर चले गए और त्रिलोकी तथा विजय उस अंधेरी रात में जिधर से आ रहे थे उसी दिशा की ओर मुंह करके खड़े हो गए। विजय ने पूछा—"अब ?"

त्रिलोकी ने मुस्कराते हुए उत्तर दिया—"चिंता मत करो। यहीं पास ही मेरी ससुराल है। श्रीमतीजी वहीं हैं और चिरंजीव होने वाले हैं।"

विजय ने प्रसन्नता के साथ उत्तर पिया—"मैं यह सोच ही रहा था कि जब तुम मेरे साथ यहां ऐसे जंगल में रुक रहे हो तो इसका कोई न कोई आधार अवश्य होगा।"

त्रिलोकी के मुंह से निकल गया—"आधार कहो या अवलम्ब, मुझे सबसे बड़ा तुम्हारा है। अब मैं जीवन-भर तुम्हारा साथ न छोड़ूंगा।"

विजय ने कह दिया—"तो फिर चलो, जहां चलना हो।"

थोड़ी दूर पर सड़क से मिली हुई एक पगडंडी मिली और दोनों उसी मार्ग पर चल दिए, आगे त्रिलोकी, पीछे विजय !

१२

धीरे-धीरे फिर दिन उसी प्रकार कटने लगे जैसे पहले कटते थे। फिर रातें वैसी ही शान्तदायिनी होने लगीं, जैसी पहले होती थीं। खाना सब लोग पेट-भर खाने लगे और नींद भी सबको प्रेम से आने लगी। भेद अगर था भी, तो वह केवल मन में था। डाका पड़ा था बाहरी मकान में, किन्तु स्त्रियां दोनों मकानों में बंटी हुई थीं। फिर जब डाके वाले घर के अन्दर आ गए, तब बाहरी मकान के आंगन

की स्त्रियां भी भीतरी मकान में चली गई थीं। राजेश्वरी-मात्र ऐसी थी, जो भीतरी मकान में न पहुंच पाई थी।

इसका भी एक कारण था। बाहरी मकान अभी नया था। उसका एक कमरा तो बिल्कुल पक्का बना हुआ था। और राजेश्वरी की बैठक उसीमें रहा करती थी। उसीमें अन्दर की ओर एक कोठरी थी, जिसमें उसके कपड़े दो ट्रंकों में रखे हुए थे। उस समय तक ऐसे विशेष आभूषण उसके पास न थे। कानों के बुन्दे, झुमके, टाप्स और गले में सोने की ज़ंजीर। हाथों में कोई भी आभूषण वह न पहनती थी। एक हाथ में चूड़ियां रहतीं, दूसरी में घड़ी। तब तक भीतरी मकान में वह केवल इस विचार से न जा सकी थी कि इस मकान में रखा ही क्या है जो वे लोग इसीमें आएंगे। कदाचित् इस विचार में यह भावना भी निहित रही होगी कि मेरे पास ऐसा है ही क्या, जिसके लिए मुझे किसी प्रकार के भय की आशंका हो !

इस परिस्थिति के कई पक्ष थे। एक था यह कि जो वार्तालाप राजेश्वरी और विजय के बीच हुआ उसे केवल गिरधारी की दुलहिन ने सुना था। यद्यपि पूरा-पूरा वह भी न सुन पाई थी। और जब विजय ने कमरे का दरवाज़ा बन्द कर लिया तब कोई बात स्पष्ट रूप से सुनाई ही नहीं पड़ती थी।

यह सब कुछ था, किन्तु गिरधारी की दुलहिन इतना तो जान ही गई थी कि डाकुओं के दल का यह नवयुवक, राजेश्वरी से केवल पूर्वपरिचित ही नहीं वरन् अत्यधिक असंतुष्ट भी है। दोनों के बीच में कोई ऐसी ग्रन्थि पड़ गई है, जो खोलने से न खुलती है, न शिथिल होती है। और राजेश्वरी के विषय में तो यह सर्वविदित था कि उसे गर्व बहुत है—वंशगत कुलीनता का, शिक्षा और अभिजात्य का। सदा ऐंठकर चलना, ढेले का जवाब पत्थर से देना उसका स्वभाव है। ऐसी दशा में गिरधारी की दुलहिन का यह सोचना बिलकुल स्वाभाविक था कि इस डाके का मूल आधार धन नहीं, प्रतिशोध है।

कुछ बातें तो कौशल्या के कान में पड़ गई थीं। इतना वह जान गई थी कि इस लड़के के साथ राजेश्वरी का कोई झगड़ा अवश्य रहा होगा।

कौशल्या की इस भावना को गिरधारी की दुलहिन से बल मिला था। किवाड़ों के बीच वाली सांस से उसने जो बातें सुनी थीं, धीरे-धीरे एक-एक करके उसने उन्हें सारी बातें बता दी थीं। यह बतला दिया था कि राजेश्वरी ने

उसके समक्ष रोकर, हा-हा खाते हुए छोड़ देने की प्रार्थना की थी। कहा था, 'मुझे बहन समझकर ही छोड़ दीजिए।'—इसके उत्तर में उस आदमी ने गरज-कर कहा था—'क्यों छोड़ दूं ? आज भैया बनाने चली हो। और उस समय मैं भालू हो गया था ?'—कहा था—'तुम तो कालेज में पढ़ती हो, तुम्हारी यही सभ्यता है कि किसीसे सीधे मुंह बात न करो ?'—और अन्त में यह भी कहा था कि अच्छा जाओ, छोड़ता हूं।

गिरधारी की दुलहिन ने जो कुछ कहा था, ठीक कहा था। केवल एक बात वह कहने से चूक गई थी। वह यह कि जिस रूप का तुमको इतना अधिक गर्व है, प्रतिशोध के इस क्षण में—देख लो—उसकी क्या स्थिति है, अनाश्रित और दयनीय।

यहां तक तो हुई गिरधारी की दुलहिन के ज्ञान की बात। कुछ बातें ऐसी भी थीं, जिनका न उसको ज्ञान हो सका था, न राजेश्वरी के अतिरिक्त किसी अन्य को।

पहली बात तो यह थी कि टॉर्च के प्रकाश में राजेश्वरी की पहली झलक पाते ही उस डाकू ने एक ही झटके में कंचुकी और ब्लाउज़ फाड़ डाला था। उसको इस बात का भी ध्यान न था कि उसने राजेश्वरी को आलिंगन में बांध-कर लगातार तीन बार चूम लिया था। राजेश्वरी ने भी उस कंचुकी और ब्लाउज़ के क्षत-विक्षत और छिन्न अस्तित्व को सदा के लिए छिपा दिया था। खुले हुए द्वार को तुरन्त बन्द कर उसने सबसे पहला काम यही किया था कि एक ट्रंक को खोलकर कंचुकी और ब्लाउज़ बदल लिया था। उनको पहनते समय भी वह यही सोच रही थी कि अब इस बात को कोई जान न सकेगा। किन्तु उसके मन की स्थिति बहुत गिरी-गिरी-सी, मरी-मरी-सी हो गई थी। इस सीमा तक कि दिन का दिन बीत जाता किन्तु मुस्कान और हास्य की एक झलक भी कभी किसीको न मिलती। घर के लोग कभी सीधे रूप से और कभी प्रकारान्तर से यह जानने की चेष्टा अवश्य करते कि वह बिगड़ किस बात पर रहा था ? क्या वह तुमको पहले से जानता था ? राजेश्वरी अन्तर्मन से इस बात को छिपाना चाहती थी। उसने उत्तर भी यही दिया था कि मेरा कोई परिचय न था। किन्तु जब राज-किशोर की दुलहिन ने संदेह किया और स्पष्ट कहा कि बिटिया, तुम बतलाओ चाहे न बतलाओ, पर ऐसा कभी हो नहीं सकता कि एक अपरिचित आदमी

इस तरह आंखें दिखाए, डांटे और घुड़कियां दे।

भाभी की इस बात के उत्तर में राजेश्वरी ने कह दिया—"तुम्हींपर कभी कोई आदमी लट्टू हो जाए और समय-असमय तुमसे अपने-आप बात करना आरम्भ कर दे, तो इतनी-सी बात में वह तुम्हारे लिए सुपरिचित हो जाएगा?"

यह एक ऐसी अभिव्यंजना थी, जिसका एक रूप यदि निषेधात्मक था, तो दूसरा निश्चयात्मक। निषेधात्मक इस रूप में कि इसमें प्रथम और प्रतिकूल पक्ष की प्रेरणा-मात्र का परिचय मिलता है, जिसका आधार केवल प्रभाव और आकर्षण है; और निश्चयात्मक इस रूप में कि बिना किसी संयोग के किसी व्यक्ति का ऐसा साहस ही कैसे हो सकता है! और वस्तुस्थिति तो वास्तव में यह थी ही कि राजेश्वरी इस बात से इनकार नहीं कर सकती थी कि वह उससे परिचित है।

इस प्रसंग को लेकर फिर एकसाथ कई प्रश्न उठ खड़े हुए। सारी बातें सुन और समझकर राजकिशोर की दुलहिन का कहना था कि अभी तो यह प्रारम्भ की बात है। कौन जाने वह भविष्य में क्या न कर बैठे! लेकिन इस दुर्घटना ने उसका सारा क्षोभ शान्त कर दिया है! इसलिए यह सोचा जा सकता है कि संभव है, अब वह आगे कोई अनिष्ट न करे।

गिरधारी बाबू के विचार इस विषय में बहुत ही उग्र और प्रतिशोधपूर्ण थे। उनका कहना था कि अब इस मुकदमे को अन्त तक लड़े बिना मैं मानूंगा नहीं, चाहे मेरे घर में एक पाई न रह जाए, घर छोड़कर बाहर ही क्यों न चला जाना पड़े। जब तक अपराधी को सज़ा नहीं मिलती, तब तक ज़िन्दगी में कोई मज़ा नहीं। जिस तरह राजेश्वरी ने रो-रोकर उससे धर्म-रक्षा की भिक्षा मांगी है, उसी तरह घुटने टेककर, हाथ जोड़कर, हा-हा खाते हुए उससे एक नहीं, दस बार क्षमा मंगवाऊंगा। फिर भी, मेरे हृदय की ज्वाला शान्त न होगी और मैं चाहूंगा कि किसी ओर से उसे क्षमा न मिले।

दोनों विचारों की ये समानान्तर रेखाएं अपनी जगह पर स्थिर थीं। चाचा का विरोध देखकर राजकिशोर यदि कुछ न कहता तो भी गनीमत थी। पर धन-सम्पत्ति की हानि एक ऐसा विषय था कि जिसमें मध्यम मार्ग सम्भव न था। अभियोग तो चलाना ही पड़ेगा। चारों ओर की बातें सोचकर अन्त में उसे इसी निष्कर्ष पर आ जाना पड़ता। कौशल्या और गिरधारी की दुलहिन दिन-भर दो-चार बार यह कहे बिना न मानतीं कि अब चाहे जैसे हो, जहां से हो, विवाह तो

राजेश्वरी का तुरन्त ही कर देना चाहिए। राजकिशोर का इस विषय में कहना था कि विवाह हम अपने सुल्तानपुर से करेंगे। किन्तु गिरधारी इसके भी विरुद्ध थे। उनका कहना था कि ऐसा तभी हो सकता है जब हम गांव छोड़ दें। जब हमको गांव में रहना है तब विवाह भी हमको यहीं से करना पड़ेगा।

कौशल्या यह तो चाहती थी कि विवाह गांव से ही हो, किन्तु उसके मन में एक भय समाया हुआ था, 'कहीं ऐसा न हो कि विवाह के समय कोई व्यक्ति समधी के कान में उल्टी-सीधी बातें जड़ दे, जिसका परिणाम यह हो कि बरात लौट जाए !' इसलिए उसकी इच्छा थी कि यह विवाह कानपुर से हो। किसी भी प्रकार के संकट को सह सकने की शक्ति अब उसमें न रह गई थी।

यह घटना अगस्त के महीने में हुई थी, जब प्रायः सभी लोग बाहर सोया करते हैं। कमरे और कोठरियां बन्द रहती हैं। पर अब दिवाली के दिन निकट थे। राजेश्वरी का पढ़ना छूट गया था। एक दिन राजकिशोर ने सुल्तानपुर से लौटकर कहा—"सी० आई० डी० वालों ने कहीं एक बैग पड़ा पाया है, जिसमें एक परचा मिला है। परचे में कुछ गहनों की सूची दी हुई है। जिसके आगे धरमकांटे की तोल लिखी हुई है। हमारे यहां के थाने में चाचा ने जो सूची बनवाई थी उसका एक-तिहाई भाग उस सूची से मिल जाता है। यह परचा जिस दुकान का है वहां पुलिस जांच के लिए गई थी। उस फर्म का नाम है—'रामनारायण श्यामनारायण'। रामनारायण बाबू के चिरंजीव गोविन्द नारायण उस दुकान के मालिक हैं। गहने तो सब फौरन गला डाले जाते हैं। इसलिए गोविन्द नारायण बाबू अभियोग में तो शामिल किए नहीं जा सकते, लेकिन उन्होंने उस आदमी का पता दे दिया है जो इस माल को उनके यहां बेच गया था। अब तक इन सारी बातों में कोई दम न था। पर सिर्फ एक बात ने इस मामले में जान डाल दी है। माल बेचने वाला कैलाशबिहारी बम्बई चला गया है, जहां उसका कोई पता नहीं चल रहा है।"

सारी बातें सुनकर गिरधारी ने कह दिया—"पता चलेगा। इसी कैलाशबिहारी के नाम तुम वारण्ट निकलवाओ।"

बिहारी पंडित का सारा दृष्टिकोण ही उस दिन से बदल गया था। पूजा-पाठ यथाक्रम चल रहा था, लेकिन अब उसमें मन नहीं लगता था। सारी बातों का समाधान उन्हें मिल जाता था। केवल एक बात का न मिलता था, और वह

बात थी—'ये भगवान के भक्त ही सबसे अधिक दुखी क्यों रहते हैं ? प्राणान्तक पीड़ाओं से भरी दुर्घटनाएं तक उनके यहां होती हैं ! गांव के लोग ही ईर्ष्या-द्वेष में भले घरों का भेद ऐसे लोगों के पास पहुंचा देते हैं जिनका काम ही है लूटमार करना। और यह गांव के ठाकुर गेंदासिंह यहां मेरे दरवाज़े बैठकर यहां तक कह जाते हैं कि चलो, यह बहुत अच्छा हुआ कि बहू-बेटियों का धर्म बच गया।' और ठाकुर गेंदासिंह की इस प्रकृति से सभी लोग परिचित थे कि उनकी बातों का अर्थ भीतर से सदा प्रतिकूल होता है।

इन्हीं सब बातों का परिणाम यह हुआ कि बिहारी पण्डित के जीवन में अब कोई उत्साह न रह गया था। काया कृश होती जाती थी। जोर से बोलना, नौकरों को डांटना, पास-पड़ोस वालों के आ जाने पर आदर से बैठाकर उनके साथ घुल-मिलकर बातें करना अब बिल्कुल बन्द हो गया था। अब तो वे केवल उस दिन की प्रतीक्षा कर रहे थे जब राजेश्वरी का ब्याह हो जाएगा और वह सदा के लिए दूसरे घर की हो जाएगी। महीनों तक यह स्थिति रही कि वे राजेश्वरी का दुःख-सुख पूछना भी भूले रहे। अब वह छुट्टियों में घर आ गई थी और कभी दिखाई भी पड़ जाती थी। दूध का गिलास हाथ में लेकर सामने खड़ी हो जाती, खाना खाने से इन्कार कर देने के पश्चात् उन्हें मनाने आ जाती, कहने लगती—"खुलकर भूख नहीं लगी तो न सही, जैसे कुछ थोड़ा-बहुत खाया जाए उतना ही खा लेना। चलो, चलो बाबू!"

तब बिहारी पण्डित राजेश्वरी के मुख की ओर एकटक देखते रह जाते। एक बार तो उनके मन में आया, कह दूं कि अगर तुम पैदा ही नहीं हुई होतीं तो बड़ा अच्छा होता! पर उन्होंने ऐसा कुछ कहा नहीं। मानो उनकी अपनी ही अन्तश्चेतना ने मुंह पर थप्पड़ मारकर कह दिया हो—'यह तुम सोच रहे हो बिहारी पण्डित, जिसने उसे जन्म दिया है! सृजन के प्रति क्षोभ प्रकट करने से पहले दर्पण में अपना मुंह क्यों नहीं देखते ?'

इस प्रकार बिहारी पण्डित भीतर ही भीतर अपने-आप से ही सदा झगड़ते रहते थे।

उस दिन शायद धनतेरस थी। अचानक आ पहुंचे सोने पण्डित। चरण-स्पर्श के पश्चात् क्षेम-कुशल की बात हुई। सोने पंडित ने देखा, उसके पश्चात् दादा कुछ खुले नहीं। तब सहसा उन्हें ध्यान हो आया, जान पड़ता है, डाके ने ही इनकी यह

हालत बना दी है।' बोले—"दादा, मैं मौके पर तो नहीं आ सका। पर मुझे दुःख बहुत हुआ। सुना, धनहानि तो इतनी अधिक हुई है कि सम्भव है कई वर्ष तक सिर उठाने की भी शक्ति न रहे।···"

बिहारी पंडित ने उत्तर में केवल इतना कह दिया—"यह दुनिया अब हमारे जैसे लोगों के रहने योग्य रह नहीं गई बेटा। राजेश्वरी के विवाह तक अटका हूं। उसके बाद···"

कथन बीच में ही कट गया, क्योंकि उसके बाद निःश्वास ने मुंह बन्द कर दिया।

सोने पंडित घर से विशेष प्रीति न रखते थे। उनका अधिकांश समय घूमने-फिरने में व्यतीत होता था। बड़े भाई से उनका यह समझौता हो गया था कि वे काम करें चाहे न करें, डेढ़ रुपया रोज़ हमसे लेते जाएं। इस प्रकार मार्ग-व्यय के लिए पैंतालीस रुपया मासिक सोने पंडित के लिए यथेष्ट था। जहां कहीं जाते, एक दिन के स्थान पर दो दिन लग ही जाते। अगर कोई कार्य निकल आता तो दो-चार दिन से लेकर दस-बीस दिन पार करने में क्या लगता था। और नातेदारियों का सिलसिला कुछ इस प्रकार का था कि आना-जाना बना ही रहता था। सोने पंडित की प्रकृति कुछ ऐसी थी कि कोई भी समस्या उनके सामने उपस्थित कर दी जाए, तो पूर्ति का साधन इनके प्रबुद्ध मानस से तुरन्त निकल आता था।

वे नौकरी दिला सकते थे। बड़े से बड़े और भयानक रोगों की दवा करवा सकते थे, इस वचन के साथ कि इसको ठीक होने में क्या लगता है! मुश्किल से दस-पांच दिन लगेंगे। खेत-पांत हों कि गाय-भैंस, रिक्शा हो कि इक्का-तांगा, चारा काटने की मशीन हो कि बैलगाड़ी, संकट के समय बिकवा देना उनके बायें हाथ का खेल था। भाई-भाई या चाचा-भतीजे में झगड़ा हो गया हो, यहां तक, कि जान जोखिम की नौबत आ गई हो, सोने पंडित को तार देकर बुला लीजिए, दो-चार दिन उनको आदरपूर्वक रखिए, इसी बीच में सन्धि हो जाएगी। टूटे हुए हृदय मिल जाएंगे और आपको ही ऐसा प्रतीत होगा कि सोने पंडित आदमी नहीं, जादूगर हैं।

बिहारी पंडित की बात सुनकर सोने पंडित ने उत्तर दिया—"अच्छी बात है दादा। राजेश्वरी के लिए वर मैं आपको दूंगा।"

उनका इतना कहना था कि बिहारी पंडित बोल उठे—"कहीं ऐसा हो जाए

तो बेटा, मैं जी जाऊं, नहीं तो अब ज़ीने में कोई रस नहीं रह गया है।"

सोने पंडित बोले—"दादा, शायद आपको एक बात नहीं मालूम।"

"वह क्या ?"

"मैं कभी झूठ नहीं बोलता। राजेश्वरी के लिए वर मैं जल्दी से जल्दी तैयार कर दूंगा और होली से पहले-पहले यह ब्याह होकर रहेगा।"

बिहारी पंडित का हाथ धोती की मुर्री पर जा पहुंचा। बोले—"तो फिर ऐसा करो कि जहां कहीं पूछताछ करनी हो, वहां चले ही जाओ। आज कौन दिन है ? सोमवार ही है न ?"

"हां दादा, सोमवार ही है।"

"आज तो पूर्व दिशा की ओर दिक्शूल है और कल है चतुर्दशी। अच्छा तो ऐसा करो कि द्वितीया को चले जाओ। तब तक रहो प्रेम से। लड़का कैसा है, इस विषय में घर के लोगों से भी सलाह कर लो। और देखो, खर्च-पात के लिए रुपये रख लो।"

सोने पंडित बोले—"दादा, रुपयों की अभी ज़रूरत क्या है ?"

"है ज़रूरत। मैं जानता हूं। चुपचाप ले लो। बहस मत करो।"

सोने पंडित ने रुपये गिने, तो वे बीस निकले।

तब बिहारी पंडित ने कह दिया—"चलते समय और ले लेना।"

ये बातें हो हो रही थीं कि गिरधारी आ गए। सोने पंडित ने जो उनके पैर छुए तो गिरधारी ने आशीर्वाद देते हुए कहा—"चलो, पहले भीतर चलो, फिर बातें होंगी।"

सोने पंडित ने गिरधारी के कंधे पर हाथ रखकर अन्दर जाते-जाते धीरे से कह दिया—"लड़का मेरा देखा और जाना-समझा हुआ है। भगवान चाहेगा तो कार्तिक की पूर्णिमा तक मैं सब तय करवा दूंगा।"

गिरधारी बाबू बोले—"बस, बस भाभी के सामने होते-होते तुम सबसे पहले यही कह देना—अच्छा !"

सोने पंडित ने हंसते-हंसते उत्तर दिया—"अरे, तुम कहो तो लड़के को यहीं बुला दूं। तुमने मुझे समझा क्या है ?"

राजकिशोर की दुलहिन आंगन में बैठी हुई एक ब्लाउज़ सी रही

झब्बू आकर कहने लगा—"छोनी ने अमाले आती ती छूंल उथाल दाली है," और कथन के साथ मां के सिर पर हाथ रखकर उसे हिलाता हुआ कहने लगा—"अम्मां-अम्मां, ताये उथाल दाली है ?"

राजेश्वरी ने जो देखा, तो उसकी ऐसी प्यारी बात सुनकर उसे गोद में उठा लिया, चुम्मी ली और पूछा—"तुम्हारे हाथी की सूंड उखाड़ डाली है ?" प्रश्न के साथ फिर उसकी चुम्मी ली और कह दिया—"हम उसको जुड़वा देंगे। अच्छा!"

इतने में हाथ-मुंह में दाल लगाए हुए सोनी ने आकर कहा—"दादा ने अमाले घोले की पूंछ उथाल दाली, अमने उनते आती की छूंल उथाल दाली।"

सोनी की इस बात को सुनकर राजेश्वरी हंस पड़ी। बोली—"सुनते हो झब्बू, दीदी क्या कह रही है ? तुमने उसके घोड़े की पूंछ उखाड़ डाली तो उसने तुम्हारे हाथी की सूंड़ उखाड़ डाली।"

इधर यह अभियोग चल रहा था, उधर बिहारी पंडित हथेली पर तम्बाकू मलते-मलते कह रहे थे—"दोनों की भेंट करा देने में मुझे और कोई आपत्ति नहीं है। सिवाय इसके कि पति होने वाले किसी भी छोकरे को मैं यह अधिकार देना स्वीकार नहीं करता कि वह मेरी राज को देख लेने के बाद किसी भी आधार पर उसे अस्वीकार कर सके। बल्कि मैं चाहता तो यह हूं कि दोनों में से कोई यह न भांप सके कि उनके इस वार्तालाप का कोई प्रयोजन भी है।"

बिहारी पण्डित के उस कमरे में उस समय कई व्यक्ति बैठे हुए थे। एक थे पण्डित सोनेलाल, जो पड़ोस में ही रहते थे और गांव के पुरोहित थे। बिहारी पण्डित के हाथ से तम्बाकू की चुटकी लेकर नीचे वाले होंठ के भीतर रखते हुए बोले—"ऐसा कैसे हो सकता है भैया ? जब लड़के ने यह शर्त कर ली है कि वह अपना जोड़ स्वयं पसंद करेगा, तब उसको सदा यह अधिकार रहेगा कि चाहे वह 'हां' करे चाहे 'ना'। और यह तो वह सोचकर ही आएगा कि मैं लड़की देखने के लिए भेजा गया हूं।"

दूसरे थे ग्राम-पंचायत के सभापति बलबीरसिंह! उन्होंने कहा—"और लड़की भी यह सोचकर उसके सामने जाएगी कि उसके रूप और गुण की परीक्षा का यही एक अवसर है। और यह तो आप जानते ही हैं कि परीक्षा आखिरकार परीक्षा ही होती है। परीक्षार्थी या तो पास हो जाता है, या फेल।"

राजकिशोर बाबू कुर्सी पर बैठे हुए थे। एकाएक उठ खड़े हुए और बोले—

"बाबू, इसमें बुरा मानने की कोई बात नहीं है। देखने का मतलब तो यही होता है।"

बिहारी पंडित का चेहरा तमतमा उठा। उन्होंने झट से कह दिया—"तब यह विवाह न होगा। जो लड़का विवाह के सम्बन्ध में माता-पिता के आश्वासन पर विश्वास नहीं करता, मैं उसके चरित्र पर अविश्वास करता हूं। उसकी आसक्ति रूप पर है, गुणों पर नहीं। राजू, तुम उसको साफ जवाब दे दो कि लड़की को देखने का अधिकार मैं लड़के को कदापि नहीं दे सकता।"

बिहारी पंडित का इतना कहना था कि बलबीरसिंह बोल उठे—"इस तरह काम न बनेगा दद्दुआ। इसके लिए कोई सुगम उपाय निकालना पड़ेगा, जिसमें अपनी शोभा भी रह जाए और कार्य भी सिद्ध हो जाए।"

इसी समय राजकिशोर बाबू बोल उठे—"हां, बाबू, ठीक तो है। बलबीर भैया बिल्कुल ठीक सुझा रहे हैं। इसके लिए अगर एक अवधि दे दी जाए तो कोई न कोई सुगम मार्ग निकल ही आएगा।"

सोनेलाल बोल उठे—"हां, हां, ठीक तो है। पास-पड़ोस में जब कोई काम-काज हो, तब दोनों को एक-दूसरे से परिचित होने का अवसर दिया जा सकता है। काम-काज में हमारे घरों की लड़कियां पास-पड़ोस के घरों में जाया ही करती हैं। मैं इसमें कोई बुराई नहीं देखता।"

किन्तु बिहारी पण्डित ने स्पष्ट कह दिया—"मेरी राज बैठी रहेगी, पर इस प्रकार के परिचय के निमित्त मैं किसी व्यक्ति के घर में उसे पैर न रखने दूंगा।"

"बाबू, तुम इधर आओ। हमारी बात सुनो," राजकिशोर बाबू ने उनको एकान्त में ले जाकर समझाने की चेष्टा करते हुए कहा, "बाबू, तुमको कुछ मालूम नहीं है। बने-बनाए काम में तुम बेकार ही विघ्न डाल रहे हो। जिस लड़के की बात चल रही है, वह पहले से ही गांव से सम्बन्धित है। आपको मालूम ही है कि मुरारी बाबू की लड़की माधुरी का विवाह तय हो गया है और यह लड़का, ब्रज-मोहन, मुरारी बाबू के छोटे भाई बनवारी बाबू के साढ़ू हरिमोहन का पुत्र है। ऐसी दशा में इसी विवाह में इस लड़के को निमंत्रित करके बुला लेने में क्या हर्ज है? ऐसे निमंत्रणों में घर के लड़के सदा सम्मिलित हुआ करते हैं।"

इतने में सोनेलाल ने चारपाई से उठते-उठते कह दिया—"हां भैया, ऐसा ही

करो। काम बन जाएगा। मेरा ब्रह्म बोलता है।"

इस प्रकार बिहारी पंडित को मानना ही पड़ा। बोले—"हां, यह बात तो कुछ समझ में आती है।" कथन के साथ चुप रह गए और एक निःश्वास लेकर मन ही मन कहने लगे—'जब तक विवाह नहीं हो जाता, न जाने क्या-क्या करना पड़ेगा ?'

रात हुई। बारह बजे।

"सुनती हो राज की अम्मां," चारपाई से उठकर मुट्ठियां बांधे, दांत किट-किटाते बिहारी बोले—"विवाह हो चाहे न हो, मैं अपनी मान-मर्यादा भंग न होने दूंगा। मेरी लड़की विवाह होने से पूर्व किसी छोकरे की शकल न देखेगी। चाहे वह भगवान रामचन्द्र की संतान ही क्यों न हो ! मैं ब्राह्मण-संतान हूं। मर जाऊंगा तब मेरा कर्म और मेरा धर्म ही साथ जाएगा। मैं लानत भेजता हूं ऐसी दुनिया पर। अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिए सनातन से चली आई सामाजिक पर-म्परा को कदापि न तोड़ूंगा।"

कौशल्या एकदम घबराकर उठ बैठी। चारपाई से उतरते-उतरते उसके हाथ-पैर कांपने लगे। बोली—"धीरे बात करो, धीरे बात करो। राज जग पड़ेगी तो क्या कहेगी ? तुम्हारे मन की इस हालत को देखकर कितना दुःख होगा उसको ?"

बिहारी बाबू एकदम ठंडे पड़ गए। नितान्त दयनीय बनकर मन्द से भी मन्द स्वर में उन्होंने उत्तर दिया—"यह तुमने ठीक कहा।" और इतना कहते-कहते स्वर फिर तीव्र हो उठा—"मगर मैं करूं क्या राज की अम्मा ? तुमको पता नहीं कि मेरे भीतर कितनी ज्वाला धधक रही है। बच्चे न पैदा हों, तो बीस झंझट न पैदा हों, अब बदनामी सहो समाज की और बुढ़ापे में कपार पर हाथ धरकर रोओ। बच्चे पैदा करो तो उनको पढ़ाओ-लिखाओ। पहले उनको परीक्षा में पास करवाओ और जब ब्याह का अवसर आए तो उसे परीक्षा में बैठाकर खुद परीक्षा दो।"

अब स्वर तीव्र हो उठा—"तो हम ज़िन्दगी-भर परीक्षा ही देते रहेंगे? लानत है ऐसी ज़िन्दगी पर। मैं कल ही उनको तार दे दूंगा कि अगर दिमाग सही है तो पता लगा लें लड़की कैसी है। हम लड़की दिखाने के लिए बिल्कुल तैयार

नहीं हैं।"

गरज उठे बिहारी पंडित। राजेश्वरी की मां अत्यन्त चिन्ता में पड़ गई। सोचने लगीं—'अगर इनका यही हाल रहा तो यह नैया पार लगेगी कैसे? पहले खुद ही दरवाज़े से सलाह करके भीतर आए। फिर समझाया कि लड़की दिखानी पड़ेगी तरकीब से और सब कुछ कहने के बाद अन्त में कह दिया कि किसीसे कहना नहीं, और अब हालत यह है कि बके जा रहे हैं। मैंने कहा, धीरे से बात करो तो एक-दो बातें धीरे से कीं और उसके बाद फिर गरजने लगे।'

तब विवश होकर वे बोलीं—"देखो राज के बाबू, राज बैठी तो रहेगी नहीं। ब्याह तो उसका होगा ही। लेकिन मुझे डर है कि कहीं ब्याह के पहले तुम पागल न हो जाओ।"

बिहारी पण्डित टहल रहे थे कि कमरे में दोनों हाथ बांधे हुए पुनः खड़े हो गए। बोले—"अच्छा! अब मैं तुम्हारी ही बात मानूंगा। किसीसे कुछ नहीं कहूंगा। ज़ोर से नहीं बोलूंगा। भीतर जो भट्ठी जल रही है उसको जलने दूंगा। मगर एक बात तुम भी याद रखना—मेरी लड़की को देखने के बाद भी अगर लड़के ने यह कह दिया कि लड़की पसन्द नहीं है, तो पहले उसको मार डालूंगा, फिर उसके बाद खुद मर जाऊंगा। बस जाओ, तुम भी आराम से सोओ और मैं भी आराम से सोता हूं।"

जिस समय पति-पत्नी में बातें चल रही थीं, उस समय राजकिशोर अपनी पत्नी से कुछ मन्त्रणा कर रहे थे। एकाएक पिता का तीव्र गम्भीर-रौद्र रूप और स्वर का गुरुत्व अनुभव कर कहने लगे—"मुझे इस विवाह में सबसे अधिक डर इसी बात का है कि बीच में बाबू कहीं बिगड़ न उठें। जब उनको क्रोध आता है तब उन्हें अवसर और पात्र का ध्यान नहीं रह जाता। और अभी तो बात ही केवल चल रही है, विवाह का श्रीगणेश भी नहीं हुआ है। कौन भगवान पार करेगा?"

एकाएक उनको कुछ ऐसा मालूम हुआ कि कहीं कुछ गिरा है। लालटेन की बत्ती ऊपर उठाकर वे जब कमरे के द्वार पर आए तो पता चला कि राज टेबल पर बैठी हुई कुछ लिख रही है।

१३

कई मास बीत गए। तब एक दिन अकस्मात् शिवमोहन ने आकर कहा—"अरे बिरजू, तुम तो बिलकुल निश्चिन्त बैठे हो! पर आज तुमको अपने बनवारी मौसिया के यहां निमन्त्रण में जाना है।"

"तो क्या आज ही जाना है?"

"और कब जाओगे? आज ही तो उनके यहां बरात आने को है।"

"अच्छा, अभी तैयार होता हूं।"

शिवमोहन चले गए। ब्रजमोहन ने विजय से कह दिया—"तुम्हारा क्या कार्यक्रम है?"

विजय ने उत्तर दिया—"मेरा कोई कार्यक्रम नहीं है। सारे कार्यक्रम उन्हीं लोगों के पूरे होते हैं जो वचन निभाना नहीं जानते, जिनकी बात का कोई निश्चय नहीं होता, जिनके वचन का कोई मूल्य नहीं होता।"

ब्रजमोहन की भौंहें सिकुड़ गईं। बोल उठा—"क्या बकते हो विजय?"

विजय उठ खड़ा हुआ और तनकर बोला—"मैं बकता हूं? तुमको शर्म नहीं आती? पी० सी० एस० की परीक्षा में बैठने के लिए तुमने मुझे परीक्षा-शुल्क देने का आश्वासन नहीं दिया था? एक-दो बार नहीं, तुमने पचास बार मुझे झूठे अश्वासन दिए। मैंने सदा तुमपर भरोसा किया। इसी कारण आज मैं कहीं का न रहा। तुम जाओ, बरात करो। आंखें लड़ाओ। मेरा कार्यक्रम क्या पूछते हो?"

ब्रजमोहन व्यावहारिक था, बुद्धवादी भी था, पर साथ ही साथ वह सहृदय भी था। वचन के प्रति उसके मन में वैसी ही ममता रहती थी जैसी किसी मां की अपने बच्चे पर रहती है।

इसका एक कारण था ब्रजमोहन महत्त्वाकांक्षी व्यक्ति था। सर्वत्र उसकी प्रशंसा होती रहे, सभी मिलने-जुलने वाले उसकी सराहना करते रहें, इस प्रकार की इच्छा अब उसके लिए एक दुर्बलता बन गई थी। अतः उसने कह दिया—"देखो भाई विजय, अब तक जो कुछ हुआ सो हुआ, पर अब मैं तुमको कोई कष्ट न होने दूंगा। तुम चलो, मेरे साथ चलो। जैसी मेरी मौसी, वैसी तुम्हारी मौसी।"

विजय ने उत्तर दिया—"नहीं, नहीं, ऐसा नहीं हो सकता।"

ब्रजमोहन नहीं माना। बोला—"नहीं, तुम्हें चलना ही पड़ेगा। विश्वास रखो, तुमको वहां कोई कष्ट न होने पाएगा। मैं जो साथ में रहूंगा। उठो, जाओ और तुरन्त तैयार होकर आओ।"

विजय उठकर चला गया और ब्रजमोहन विचार में पड़ गया—'कुछ भी हो, विजय कहता सही है। जब तक कोई आदमी वज्र की तरह कठोर नहीं हो जाता, तब तक वह कोई त्याग भी नहीं कर सकता।'

ब्रजमोहन अपनी तैयारी में लग गया।

थोड़ी देर में सवारी दरवाज़े पर खड़ी थी। ब्रजमोहन का सामान लद गया, परन्तु विजय नहीं आया। उसे बुलाने के लिए जो आदमी भेजा था उसने लौटकर बताया कि वे घर में नहीं हैं।

ब्रजमोहन सोचने लगा—'मैं तो जानता था कि वह कभी नहीं आएगा। बड़ा स्वाभिमानी आदमी है। लेकिन मेरी समझ में नहीं आता कि भैया मौसी के यहां स्वयं क्यों नहीं गए? मुझे भेज रहे हैं।'

ब्रजमोहन जब स्टेशन पर पहुंचा, तो कुली ने समान सिर पर रखते-रखते कह दिया—"गाड़ी तो आ गई है बाबू!"

"मगर अभी तो मुझे टिकट भी लेना है।"

"तो फिर जल्दी कीजिए।"

ब्रजमोहन ने सोचा—'सेकंड क्लास का टिकट ही क्यों न ले लिया जाए?'—और वह झट से आगे बढ़कर दूसरे दर्जे का टिकट ले आया।

टिकट हाथ में लिए बाकी पैसे जेब में डालता हुआ वह आगे बढ़ ही रहा था कि एक महाशय ने आकर प्रश्न कर दिया—"क्यों, लखनपुर जा रहे हैं न?"

ब्रजमोहन ने विस्मय से उसकी ओर देखा। पर जब पहचान का कोई सूत्र उसे न मिला, तो उसने कह दिया—"आपने कैसे जाना कि मैं लखनपुर जा रहा हूं?"—कथन के बाद वह उसे पुनः पहचानने की चेष्टा करने लगा।

सिर पर काली गोल टोपी और बदन पर मखमल का कुर्ता! अवस्था चालीस के लगभग। वर्ण श्याम और नाक लम्बी। पान मुंह में भरा हुआ। आंखों पर धूप का चश्मा। नाक के बायें ओर काला तिल।

उसने एक हल्की मुस्कराहट के साथ उत्तर दिया—"मैं जानता हूं। आप मुझको नहीं पहचानते, पर मैं आपको पहाचानता हूं। चलिए, चलिए। मैं आपकी ही खोज में था। मुझे भी मुरारी बाबू के निमन्त्रण में लखनपुर जाना है।"

गाड़ी नम्बर एक के प्लेटफार्म पर खड़ी थी। ब्रजमोहन पूर्वीय पुल की सीढ़ियां चढ़ रहा था। दाईं ओर फटे-मैले कपड़ों में खड़ा दुर्बल एक भिखारी बोल उठा—"बाबू, एक पैसा!"

उसे ध्यान हो आया—'इनकी फिकर कौन करता है?' जेब में एक पैसा—खाली पेट वाला—पड़ा था। वही उसे देकर आगे बढ़ गया।

कई लोग ऊपर जा रहे थे और कुछ लोग नीचे आ रहे थे। एक दम्पती सामने आ पड़े। उनकी देवीजी बच्चा गोद में लिए थीं और उनका कुली तब तक कुछ अधिक आगे बढ़ गया था। यह देखकर देवीजी बोल उठीं—"तुमसे इतना भी न बना कि चुन्नी को ले लेते।"

स्वामी ने वहीं खड़े होकर घूमते हुए उत्तर दिया—"तो तुम्हींने क्यों नहीं दे दिया?" फिर दोनों हाथ बढ़ाते हुए कह दिया—"अब यहां दे दूं? चलो, चलो, आगे बढ़ो।"

इस वार्तालाप में देवीजी की संकुचित नाक-भौं-मिश्रित भंगिमा देखकर ब्रजमोहन को कुछ हंसी आ गई। पर उनकी स्वस्थ-सुन्दर चुन्नी को देखकर उसे अपना भी अतीत स्मरण हो आया—'मेरी उत्तरा अगर बनी होती तो आज मेरा बेबी भी इतना ही बड़ा होता!'

जीवन की गति ऐसे समय एक क्षण का भी विलम्ब नहीं करने देती। ब्रजमोहन यही सोचता हुआ आगे बढ़ता जा रहा था कि आगे जाते हुए थोड़ा रुककर, उसको साथ लेते हुए उन महाशय ने पूछा—"अपनी मौसी के यहां लखनपुर आप पहले भी तो कभी गए होंगे?"

पर ब्रजमोहन तो उत्तरा के ध्यान में था—'एक दिन मैंने उससे कहा था—अगर मेरे आने में कभी देर हो जाए तो तुम खाना खा लिया करो। मगर मेरी यह बात उसने कभी नहीं मानी।'—कि इतने में उसे प्रतीत हुआ—'कदाचित् इन्होंने मुझसे कुछ पूछा है।'

तब उसने सहसा कह दिया—"अयं, क्या पूछा आपने?"

फिर उसी समय कई व्यक्ति एकसाथ सामने आ गए, और उत्तर का अवसर

उस भीड़ में सदा के लिए खो गया।

दोनों आगे बढ़ गए। कुली सीढ़ियां उतरकर नीचे खड़ा हो गया और ब्रजमोहन आगे बढ़कर सेकंड क्लास के डिब्बे की ओर घूम गया।

डिब्बे की खिड़की से झांकती हुई एक प्रौढ़ महिला अपनी बाईं आंख दबाकर अपने स्वामी के आगे-आगे जाने वाली एक अतिशय स्थूलकाय मारवाड़ी नारी की ओर संकेत कर पूछ रही थी—"जोड़ा कैसा रहेगा ?" और गिलास में बरफ का पानी देते-देते स्वामी मुंह बिचकाकर उत्तर दे रहे थे—"ऊंहूं। इनाम किसीके पल्ले न पड़ेगा। कुश्ती बराबर की ही रहकर छूट जाएगी।"

ब्रजमोहन ने उत्तर सुनकर प्रश्न की कल्पना करते हुए एक बार नारी की ओर देखा, एक बार पुरुष की ओर, तो कुछ ईर्ष्या-सी हो उठी—'ये लोग वास्तव में सुखी हैं।' तभी उसे कुछ ऐसा भान हुआ, जैसे कोई उससे कह उठा हो—'सुखी व्यक्ति संसार के लिए अधिक उपयोगी होता है।'

इतने में साथ के उन महाशय ने आश्चर्य के साथ कह दिया—"अच्छा ठीक है, ठीक है। मैं तीसरे दर्जे में बैठूंगा। आप जाइए अपने डिब्बे में। आगे तो भेंट होगी ही। मैं यहीं कहीं पास वाले डिब्बे में बैठूंगा।"

ब्रजमोहन दूसरे दर्जे में जाकर एक जगह खड़ा हो गया। बर्थ पर पहले से एक सभ्य जोड़ा बैठा हुआ था; उसके बाद दो व्यक्ति और थे जिनमें एक बालक था।

ब्रजमोहन ने दम्पती के आगे बढ़कर उस व्यक्ति से कह दिया—"ज़रा-सा आप···"

उस व्यक्ति ने ब्रजमोहन को ध्यान से देखते हुए कह दिया—"क्षमा कीजिएगा, अगर मैं भूलता नहीं हूं तो आप ब्रजमोहन दीक्षित हैं ?"

ब्रजमोहन हक्का-बक्का रह गया। उसके मुंह से निकल गया—"आऽप···? आपको कहीं देखा है मैंने, लेकिन याद नहीं आ रहा।"

"मैं जानता था, आप मुझे भूल गए होंगे। बैठिए-बैठिए।" और उन्होंने प्रसन्नता के साथ उन्हें बैठने को पूरा स्थान खाली करते हुए पास बैठे हुए व्यक्तियों से कह दिया—"ज़रा-सा आप लोग भी थोड़ा-थोड़ा स्थान···"

अन्य लोग भी थोड़ा-थोड़ा आगे खिसक गए।

ब्रजमोहन अभी बैठा ही था कि कुली ने खिड़की के आगे से कह दिया—

"बाबूजी, पैसे।"

"ओह ! पैसे।" कथन के साथ ब्रजमोहन जो पैसे जेब से निकालने लगा, तो पैसे तीन आने ही सही-सही निकल सके। साथ में एक इकन्नी और थी। उसे निकालकर पुनः जेब में रखते हुए उसने तीन ही आने कुली को दे दिए और कह दिया—"वैसे एक आना मैं तुम्हें और देता, पर मेरे पास रेज़गारी और है नहीं।"

कुली ने जवाब दिया—"अरे बाबू साहब, मेरे सामने ही आप एक इकन्नी भीतर की जेब में डाल रहे हैं और जवाब ऐसा दे रहे हैं !"

ब्रजमोहन ने उस नवपरिचित व्यक्ति को लक्ष्य कर थोड़ा मुस्कराते हुए उत्तर दिया—"देखा आपने ? मैंने यह इकन्नी अन्य तीन इकन्नियों के साथ निकाल करके भी भीतर इसलिए डाल ली थी कि वह (इकन्नी) पाकिस्तानी है। पर यह कुली मेरी बात पर अविश्वास कर रहा है। आप जानते हैं, ऐसा क्यों है ? केवल इसलिए कि हम रेट से एक आना अधिक दे रहे हैं। जो लोग एक पाई अधिक नहीं देते, उनसे इनकी एक नहीं चल पाती।"

इतने में साथ बैठे हुए उन महाशय ने अपनी जेब से इकन्नी निकालकर कुली को दे दी और कह दिया—"लो।"

कुली के जाते ही ब्रजमोहन ने कह दिया—"आपने देखा, इनके मन में यह चेतना कूट-कूटकर भर दी गई है कि रेल पर सफर करने वाला हरएक सफेदपोश बुर्जुआ होता है और ज़ाहिर है कि वह सीधे या छिपे तौर से सदा श्रमिकों का शोषण किया करता है। इनको यह सिखलाया गया है कि जहां पैसे का सवाल पैदा हो वहां इस वर्ग के व्यक्ति की बात पर कभी विश्वास न करो।"

ब्रजमोहन के इस कथन पर वे महाशय बोले—"इस समय आपके सम्बन्ध में उसकी यह बात चाहे सही न उतरती हो, लेकिन अगर आप मुझे माफ करें तो खयाल मेरा भी ऐसा है।" इस कथन के साथ वे थोड़ा मुस्करा उठे। फिर उन्होंने कह दिया—"क्योंकि रानीपुर वाले पण्डित रामधन शर्मा के यहां एक विवाह में निमन्त्रित होकर आने वाले श्रीमान् ब्रजमोहनजी दीक्षित को जब रात को साढ़े नौ बजे राह की थकान उतरवाने के लिए किसी नाई की आवश्यकता पड़ी थी तब उसका प्रबन्ध जिस व्यक्ति को सौंपा गया था, वह आपका यह सेवक ही था। और मुझे अच्छी तरह याद है वह दिन, जब थकान उतर गई थी, उस समय श्री दीक्षितजी ने जिस शब्दावली में इस सेवक के प्रति कृतज्ञता प्रकट की थी, वे थे—

भाई केदारनाथजी, इस सेवा के लिए मैं आपको जीवन-भर न भूलूंगा।"

केदार बाबू की इस बात पर ब्रजमोहन बाहर से तो हंस पड़ा, पर भीतर ही भीतर जैसे कट गया। अपराध स्वीकार करते हुए बोला—"क्षमा करो भाई केदार, मुझे नाम-मात्र भी आपका स्मरण नहीं रहा, पर अब सब कुछ स्मरण आ गया। बात यह है कि···"

"अब आगे बात-वात कुछ नहीं है दीक्षितजी। हां, अब यह बताइए कि जा कहां रहे हैं, श्रीमान ?"

इसी समय एकाएक जो ब्रजमोहन की दृष्टि केदारनाथ की पत्नी की ओर जा पड़ी तो उसके आश्चर्य का ठिकाना न रहा। उसकी बड़ी-बड़ी आंखें और सुन्दर वेश-विन्यास देखकर वह सोचने लगा—'कहीं यह अंजना तो नहीं है ?'

ब्रजमोहन के ननिहाल के मकान के ठीक पीछे तीर्थराम मिश्र का एक परिवार रहता था। मिश्रजी गांव में पटवारी थे। अंजना उन्हींकी बेटी थी। जब वह चार-पांच वर्ष की थी, तभी से ब्रजमोहन उससे परिचित था। प्राय: वह उस घर में आती रहती थी। पर जब कभी ब्रजमोहन उपस्थित रहता, तो वह उसे देखते-देखते पहले तो मुस्करा उठती, फिर संकुचित होकर तुरंत लौट जाती थी। फिर जब वह यौवनागम को प्राप्त हुई तब उसके मामाजी के घर की छत पर बैठकर वह शोभा दीदी से बातें करती रहती थी। उसे स्मरण हो आया कि प्राय: जब वह मुस्कराती, तो उसके नयन भी मूक भाषा में कुछ कहने लगते थे। ऐसा दिन न जाता कि शोभा उससे नीचे आने का आग्रह न करती; किन्तु वह गली पार करके, वहां तभी आती जब ब्रजमोहन घर में न रहता। उसका स्वर बड़ा प्यारा था। दीदी ने बतलाया था कि इसका विवाह एक ऐसे व्यक्ति से लग रहा है जो बी० ए० में प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण हुआ है। अमियां की फांक-सी उसकी आंखें उसे अब तक स्मरण थीं। एक बार शोभा ने पूछा था कि बिरजू से तू इतना लजाती क्यों है री ? वह तो मेरा भाई है। इसके उत्तर में उसने कहा था—'इन कालेजों में पढ़ने वाले लड़कों के सामने आने में मुझे न जाने कैसा लगता है, दीदी !'

अत: अचकचाकर ब्रजमोहन बोल उठा—"अयं मैं ? जी, मैं एक विवाह के सिलसिले में लखनपुर जा रहा हूं, और मेरा ध्यान जो अभी थोड़ा बहक गया, उसका कारण यह है कि आपकी इन श्रीमतीजी को मैंने अपने सामने दो-चार बार देखा है।···अंजना नाम है न इनका ?"

इतने में जैसे लोम-लोम के दोलन से मुस्कराते हुए अंजना ने हाथ जोड़कर कह दिया—"नमस्ते, भाई साहब।"

"नमस्ते।"

उत्तर देते-देते ब्रजमोहन को पुनः उत्तरा का ध्यान हो आया। वह सोचने लगा—'काश, इस समय उत्तरा भी साथ होती। कम से कम इसको इतना तो ज्ञात हो जाता कि वह इसकी अपेक्षा कहीं अधिक सुन्दर है।'

केदारनाथ बाबू बोले—"चलो, यह बड़ा अच्छा हुआ। अभी तक आपका और मेरा ऐसा कोई नाता जुड़ नहीं पाया था। अब यह कसर भी पूरी हो गई। अगर आप मुझे भूल भी जाएंगे, तो मुझे यह कहने का अवसर तो रहेगा कि है बड़ा भुलक्कड़ मेरा यह…!"

शेष का 'साला' शब्द जैसे स्वयमेव कहकर ब्रजमोहन हंस पड़ा।

केदार बाबू ने पूछा—"और कहिए, आपकी श्रीमतीजी, मतलब यह कि आजकल अपने पिता के यहां हैं या आपके घर? और यह कि विकास का क्रम कैसा चल रहा है?"

तत्काल अंजना गम्भीर होकर बोल उठी—"बहुत दिन हुए, सुना था कि भाभी का स्वर्गवास हो गया। इधर का हाल मुझे नहीं मालूम।"

ब्रजमोहन विचार में पड़ गया। केदार बाबू सोचने लगे—'अगर विवाह कर लिया होता, तो इस समय इसके मुख पर यह उदासीनता न होती।' फिर उनके मुख की ओर देखते हुए बोले—"पत्नी का देहान्त हुए यदि कई वर्ष हो गए और अब तक आप विधुर ही बने हैं, तो यह बात मेरे लिए विचारणीय हो जाती है। मैं यह कल्पना भी नहीं कर सकता कि आप इस अवस्था में अकेले रहते कैसे होंगे।" इसके बाद वे यह भी कहने जा रहे थे कि 'इधर कई वर्षों से कुछ ऐसा हो गया है कि मैं इनको वर्ष-भर में महीना-पन्द्रह दिन के लिए ही छोड़ पाता हूं, केवल सावन मास में,' पर फिर अन्य लोगों का ध्यान कर रुक गए। केदार बाबू की बात सुनकर अंजना मुस्कराने लगी।

इतने में स्टेशन आ गया और इतने व्यक्ति डिब्बे में भर गए कि उपस्थित यात्री सहम उठे। केदार बाबू बोले—"अरे यह सेकंड क्लास का डिब्बा है। इसमें बैठने पर अधिक भाड़ा देना पड़ता है।"

"देना पड़ेगा तो देंगे। जब गाड़ी में कहीं जगह नहीं थी, तो टिकट ही क्यों

बांटा गया ? क्या हमारा पैसा हराम का है ?"

केदार बाबू कुछ उत्तर न दे सके। ब्रजमोहन बाबू सोचने लगे—'क्या उत्तर दिया है इस ग्रामीण व्यक्ति ने ! वास्तव में इस स्थिति की ज़िम्मेदारी रेलवे-विभाग पर है।'

तब तक उस का ध्यान आकर्षित कर लिया लेमन वाले ने, जो खिड़की के सामने खड़ा होकर पूछ रहा था—"लेमन चाहिए लेमन ?"

ब्रजमोहन ने सोचा—'यह दिन-भर में पचासों बार लेमन-लेमन की पुकार लगाता है। कुछ लोग लेमन लेते और पीते भी हैं, पर मन कोई नहीं लेता।'

अंजना अब बर्थ के नीचे झुककर डिब्बे का ताला खोलने लगी।

बालक अपने पिता से कहने लगा—"तुम भी पूड़ियां निकालो बाबू, थोड़ी-थोड़ी भूख जगती-सी जान पड़ती है।" डिब्बे के नवागत यात्री अपना-अपना सामान ठीक ढंग से रखने में झगड़ने लगे।—"देखिए, मेरे बक्स के ऊपर से यह पुलिन्दा हटाइए जनाब।—ये लो, आपका घी बहा जाता है। सम्हालो न इसको !"

इतने में टिकट-घर के पास मिलने वाले महाशय खिड़की के सामने आकर बोल उठे—"आप लोग लेमन लेंगे कि चाय ? लेमन लें तो यहां भेजूं। चाय का प्रबन्ध तो भरथना स्टेशन पर ही होगा।"

ब्रजमोहन ने उत्तर दिया—"इस कृपा के लिए धन्यवाद। लेकिन मुझे चाहिए कुछ नहीं।"

"मैंने सुन रखा था कि आप बड़े संकोची स्वभाव के हैं। आज देखता हूं, मैंने गलत नहीं सुना।" वे महाशय बोल उठे।

इस समय एक ग्रामीण दूसरे को धक्का देकर हटाता हुआ चिल्ला उठा—"अरे बाप रे ! मार डाला !"

निकट के कई व्यक्तिओं के स्वर एकसाथ फूट पड़े—"क्या हुआ ? हुआ क्या ? कहीं चोट लग गई क्या ?"

उस व्यक्ति ने एक सीत्कार के साथ, विकृत भंगिमा से उत्तर दिया—"देखते नहीं, पैर की यह अंगुली आपने जूता रखकर भुरता बना दी !"

"लेकिन मैंने जान-बूझकर तो ऐसा कुछ किया नहीं। अनजाने आपके पैर पर मेरा पैर पड़ गया होगा। मुझे क्या पता कि आपके पैर में जूता भी नहीं है !"

"पर जनाब, आपके पैर को तो इतना ज्ञान होना चाहिए कि वह किसी हाड़-मांस वाले आदमी के शरीर पर पड़ रहा है ।"

ब्रजमोहन ने इन बातों से ध्यान हटाकर उत्तर दिया—"एक तो मैं आपको पहचानता नहीं, दूसरे इस कोलाहल के बीच में अगर कुछ ग्रहण करने की मुझे प्रेरणा न हो, मेरे संकोच को आलोचना का भागी तो नहीं बनना चाहिए ।"

तब वे महाशय हंस पड़े । बोले—"यह आपने ठीक कहा । अच्छा, फिर थोड़ी देर बाद सही । अब गाड़ी भी छूटने वाली है । रही परिचय की बात, सो आपके बड़े भाई साहब शिवमोहन बाबू मुझे अच्छी तरह जानते हैं और नाम मेरा बहुत छोटा-सा है—सोने । अब भरथना में भेंट होगी ।"

कथन के साथ ही वे अपने डिब्बे की ओर आगे बढ़ गए ।

केदार बाबू और अंजना एकसाथ हंस पड़े । ब्रजमोहन भी मुस्कराने लगा । फिर उसने केदार बाबू से पूछा—"हां, तो आप कहां जा रहे हैं ?"

केदार बाबू की मुस्कान अभी मन्द नहीं पड़ी थी । उन्होंने हाथ की पत्रिका बन्द करते-करते उत्तर दिया—"मैं आगरा जा रहा हूं । इलाहाबाद से आगरा के लिए मेरा स्थानान्तर हो गया है ।"

इतने में डिब्बा खोलकर प्लास्टिक की एक तश्तरी में नमकीन काजू ब्रज-मोहन के सामने रखती हुई अंजना बोली—"लीजिए ।"

ब्रजमोहन जैसे चौंक पड़ा हो । उसे ध्यान आ गया—'इसी नारी ने कहा था—'इन कालेज वाले लड़कों के सामने आने में मुझे न जाने कैसा लगता है ।'

अंजना ने दूसरी तश्तरी स्वामी के आगे बढ़ा दी । फिर थरमस से गरम चाय निकालकर प्यालों में ढालने लगी ।

गाड़ी चल पड़ी और ब्रजमोहन सोचने लगा—'उत्तरा तो पुनः मिलने से रही, पर यदि अंजना-सी नारी भी···'

इसी समय केदार बाबू काजू टूंगते हुए बोल उठे—"बरात से लौटकर आने पर किसी दिन हमारे यहां आने की कृपा कीजिएगा ब्रजमोहन भाई । वहां मैं आपको एक ऐसी लड़की से मिलने का अवसर दूंगा, जो आपको दस मिनट में निरुत्तर कर देगी ।"

और अंजना ने चाय का प्याला ब्रजमोहन के सम्मुख बढ़ाते-बढ़ाते स्वामी की ओर देखकर कह दिया—"हां, इसमें कोई शक नहीं । राजेश्वरी ऐसी ही

होनहार लड़की है ।"

अचानक गाड़ी मन्द हो गई और पास वाले डिब्बों से अनेक व्यक्ति खिड़कियों से झांकने लगे । कई प्रकार के स्वर कानों में गूंज उठे ।

एक ने कहा—"जान पड़ता है कोई आदमी है ।"

दूसरे ने उत्तर दिया—"गिर ही नहीं पड़ा, कटकर समाप्त भी हो गया होगा ।"

गाड़ी जब खड़ी हो गई तो मालूम हुआ, बात बिल्कुल सही है । किसी आदमी के हाथ से डंडा छूट गया था । वही बेचारा गिरकर गाड़ी के नीचे आ गया । उसकी जेब से एक रुपया दस आने का जो निकट निकला, वह भरथना का था ।

तब व्रजमोहन सोचने लगा—'ऐसी दशा में इन रेलवे अधिकारियों के पास एक ही उत्तर होता है—जब गाड़ी में जगह ही नहीं है, तो इस तरह यात्रा ही क्यों करते हो ?'

इतने में भीड़ के अन्दर का वही ग्रामीण यात्री बोल उठा—"आप लोग देख लीजिए कि हम लोगों की जान का क्या मूल्य रह गया है !"

व्रजमोहन सोचने लगा—'विजय ठीक कहता था ।'

१४

मुरारी बाबू का घर मेहमानों से भरा हुआ था । बनवारी की दुलहिन अपने बच्चे को दूध पिला रही थी । कभी बच्चा एक क्षण के लिए दूध पीना छोड़, अपने ऊपर का अंचल हाथ से हटाकर, बाहर झांकने लगता और कभी पुनः चुकुर-चुकुर मां का दूध पीने लगता था । नाइन माधुरी के बदन में उबटन लगाने जा रही थी और माधुरी की मां, बड़ी चाची, आंचल भराई के लिए गुड़ की भेली के साथ चावल निकालकर सूप में रख रही थी । बनवारी बाबू स्टेशन पर परोहन भिजवाने का प्रबन्ध कर रहे थे और मुरारी बाबू के साले गयाप्रसाद को सहेज

रहे थे—"समधी को तुम खासतौर से अपनी सवारी में बिठा लेना; क्योंकि एक तो तुम्हारे पास मंझोली है, दूसरे तुम्हारे बैलों की जोड़ी भी सबसे अच्छी है। चौधरी साहब तारीफ कर रहे थे।···और हां, अच्छी याद आई। बिरजू भी तो आ रहा है उसी गाड़ी से। उसे भी बैठा लेना। पहचानते तो होगे तुम बिरजू को !"

मकान से लगा बायीं ओर एक दूसरा घर था, जिसका एक भाग खाली करवा लिया था। उसीमें मिठाइयां बनाने का प्रबन्ध था। भट्ठी पर कढ़ाही चढ़ने जा रही थी। दीक्षितजी बालूशाही सेंकने की तैयारी में थे। मुरारी बाबू वहीं खड़े-खड़े कह रहे थे—"न हो दीक्षित, मोअन असली घी का दे देना, फिर चाहे सेंक लेना वनपस्ति से ही। क्यों, ठीक रहेगा न ?" बनवारी की दुलहिन अपनी जिठानी के पास आकर पूछ रही थी—"जीजी, खाने के लिए आज कौन-सा चावल निकाला जाए ! बासमती वाला मटका अभी बिल्कुल नहीं छुआ गया है, और देहरादूनी तो परसों के लिए रखना होगा। अपने बंबा पार वाले खेत का ही काम में ले लिया जाए, तो कैसा हो ? वह भी तो दो साल का पुराना है।"

इसपर बड़ी चाची कह रही थीं—"हां, ठीक तो है। आज घर का ही चावल रांधना ठीक रहेगा।"

दरवाज़े पर सेहन के उस पार छप्पर के नीचे भैंस खड़ी जुगाली कर रही थी और हफीज़ुल्ला दालान के भीतर चारपाई बुन रहा था।

इसी समय गयाप्रसाद ने मुरारी बाबू के पास आकर कहा—"लो, जगम्मनपुर वाली चाची आ गईं। साथ में बहू भी है।"

"अच्छा, चाची आ गईं !" प्रसन्नमुख मुरारी बाबू बोले और लपककर द्वार की ओर चल दिए। तभी बनवारी भी उनके पीछे हो लिए। गज्जू नौकर कदाचित् बैल खोलकर दरवाज़े के कुएं की जगत से लगी चरही पर पानी पिलाने जा रहा था कि बनवारी बाबू ने कह दिया—"अरे गज्जू, ज़रा चाची का सामान तो भीतर पहुंचा देना। फिर चौपाल पर खड़े किशोर वय के एक बालक को देख बोले—"रामू, तुम भी इधर आ जाओ। हां, हां, आ जाओ। संकोच मत करो। घर के लड़के हो।"

इस तरह बात की बात में जगम्मनपुर वाली चाची का सामान भीतर पहुंचा दिया गया।

घर के भीतर प्रवेश करते ही बनवारी बाबू की दुलहिन ने पहले बहू की

चद्दर उतारी, फिर चाची के चरण छुए। सभी बहुओं की चूड़ियों की अमरता का आशीर्वाद देती हुई चाची भेंट-भलाई में लग गईं।

इसी समय बाहर सोनेलाल, उजागर, त्रिवेणी, लंगोटे और खुलईं आपस में लड़ बैठे। त्रिवेणी और उजागर के लट्टुओं में नृत्य की बाजी लगी थी। सोने का कहना था कि उजागर का लट्टू बड़ी देर तक नाचता है और खुलई का मत था कि त्रिवेणी का लट्टू गन्नाता बहुत है।

इतने में लंगोटे बोल उठे—"जीत सोने की हुई। देर तक उसीका लट्टू नाचता रहा। हमारे पास घड़ी है। यह देखो।"

उसका इतना कहना था कि त्रिवेणी ने उसके सिर पर एक तड़ी जमा दी और तिरस्कार के भाव से कह दिया—"चल चल! बड़ा घड़ी वाला बना है। घड़ी से कहीं लट्टू का नाचना परखा जा सकता है?"

परिणाम यह हुआ कि शिकायत मुरारी बाबू के पास जा पहुंची। उन्होंने जो दोनों के बयान सुने, तो कह दिया—"बात तो उसने ठीक कही थी, बेटा। घड़ी देखकर फैसला दिया था; फिर तुमने उसके चांटा क्यों मार दिया!"

"नानाजी, बात यह है कि इसको अपनी घड़ी बड़ा घमण्ड है। हर बात में यह अपनी घड़ी सामने पेश कर देता है। अभी हम टट्टी गए थे नानाजी; तब भी इसने कह दिया कि तुमको टट्टी में पूरे दस मिनट लगे।"

त्रिवेणी ने अपनी प्रतिक्रिया बतला दी।

उसकी इस बात पर पहले तो मुरारी हंस पड़े, फिर अभियोग का रंग-ढंग देखकर बोल उठे—"कुछ भी हो, तुम्हें चांटा नहीं मारना चाहिए था। इन सबमें तुम सबसे बड़े हो इसका यह मतलब तो नहीं कि डरा-धमकाकर जो चाहोगे, वही मनवा लोगे?"

इसपर त्रिवेणी ने अपना दूसरा तर्क उपस्थित करते हुए उत्तर दिया—"नानाजी, हमने कोई चांटा तो मार न था; ज़रा-सी तड़ी-भर जमा दी थी। बस, इसीपर लंगोटे···पिनपिना उठे नानाजी।"

यद्यपि मुरारी को उसकी शरारत-भरी अन्तिम शब्दावली—पिनपिना उठे नानाजी—पर मन ही मन हंसी आ रही थी; फिर भी उन्होंने गम्भीर होकर कह दिया—"लंगोटे बेटा, तुम भी अपने बाबू की यह घड़ी मां को दे आओ। सारा झगड़ा इस घड़ी के नाम पर है, ज़रा-ज़रा-सी बात पर तुम लोग झगड़ा

कर बैठते हो। यहां इस समय इतनी फुरसत किसको है जो दिन-भर तुम लोगों का झगड़ा निबटाता फिरे !"

इतने में माधुरी उबटन लगाकर उठती-उठती नाइन से बोल उठी—"चाची, घर जाना तो बिहारी दादा के यहां भी हो लेना। कई दिन से राजेश्वरी दीदी नहीं देख पड़ी। कहना—बुलाया है। अच्छा !"

नाइन स्वीकृति में सिर हिलाकर चल दी।

आज सवेरे से ही बिहारी पण्डित इस फेर में थे कि आपसे-आप कोई आकर उनको यह समाचार दे दे कि ब्रजमोहन आ गया। एक बार तो उन्होंने गिरधारी से पूछा भी—"कुछ पता चला ?"

गिरधारी ने पान भरे हुए मुंह से उत्तर दिया—"परोहन तो भिजवा दिए हैं मुरारी बाबू ने। अभी-अभी जलपान भी स्टेशन भेज दिया गया। बरात तो वही पांच बजे चलेगी। यहां पहुंचते-पहुंचते छः साढ़े छः तो बज ही जाएंगे।"

फिर उन्होंने गिरधारी से तो कुछ नहीं कहा, लेकिन पत्नी के पास आकर पूछने लगे—"राज की मां, आज सबेरे तुमको कोई शकुन हुआ था ?"

कौशल्या ने अपना अर्ध-पोपला मुख प्रसन्नता की लहर में थोड़ा-सा खोलकर उत्तर दिया—"मुझे सवेरे-सवेरे एक नेवला देखने को मिला था। और तुमको ?"

"मुझको कोई शकुन तो नहीं हुआ लेकिन नेवला दिखाई देना भी बड़ा मांगलिक माना गया है। मेरा ब्रह्म बोल रहा है कि इस बार मुझे सफलता अवश्य मिलेगी। तुमने इस विषय में राज से कोई बात तो की न होगी—कि की थी ?"

"आज सवेरे दिन चढ़ते ही जब नाइन आई थी तभी मालूम हुआ था कि माधुरी ने राज को बुलाया है। मैंने कह दिया कि ऐसे समय घड़ी दो घड़ी को उससे रोज़ मिल आना चाहिए। मुरारी की दुलहिन का स्भाव बड़ा अच्छा है। पिछली बार जब मैं उनके घर गई थी, तो मुझको उन्होंने बड़े उत्साह से सब सामान दिखाया था। कलेवा के अवसर पर देने के लिए थाली का पूरा सेट उन्होंने चांदी का मंगवाया है शहर से।"

"अच्छा ?" बिहारी पण्डित ने आश्चर्य के साथ कहा—"चांदी का सेट

मंगवाया है। ये लोग हमारे हितों में बड़ी ही बाधा डालते हैं। चांदी-वांदी का सेट तो मंगा न सकूंगा।···खैर, और कुछ बात हुई थी ?"

कौशल्या ने सूंघनी की चुटकी नाक में लगाकर उत्तर दिया—"कोई खास बात तो नहीं हुई। मेरे ही मुंह से इतना निकल गया था कि पता नहीं, मेरी राज के भाग में क्या बदा है ?"

इतने में उसे छींक आ गई।

"इसपर उन्होंने क्या उत्तर दिया ?" बिहारी पंडित ने उत्सुकता से पूछा।

कौशल्या ने उत्साह के साथ कहा—"अच्छे से अच्छा वर मिलेगा उसे, उन्होंने झट कह दिया। फिर मेरे निकट आकर कहने लगी थीं कि लड़का तय-भर हो जाए, फिर भगवान चाहेगा तो सब सकुशल निबट जाएगा। तुम चिन्ता न करना दीदी।"

इसपर बिहारी पण्डित प्रसन्नता के साथ मुस्कराते हुए बोले—"अच्छा! कह रही थी कि 'सब सकुशल निबट जाएगा; चिन्ता न करना।' बड़ा अच्छा स्वभाव है उसका। मगर···मगर इस बात के भीतर भी जान पड़ता है, उनका कोई मन्तव्य छिपा हुआ है। अब मैं किसी दिन मुरारी बाबू से मिलूंगा।"

कौशल्या दूसरी बार छींकती हुई बोल उठी—"बस, यही तुममें ऐब है, राज के बाबू। अरे, मिलना ही है तो उनके यहां जाकर बैठो; काम-काज में हाथ बंटाओ। ऐसे समय ही अपना-पराया समझ में आता है।"

"हां. यह तुमने ठीक कहा।" उत्तर के साथ बिहारी पण्डित बाहर आए, तो गिरधारी ने कह दिया—"अरे भइया, बड़ा गड़बड़ हो गया।"

उनका मुंह सूखा हुआ था, होठ फड़क रहे थे।

आश्चर्य और चिन्ता की संयुक्त भंगिमा में कुछ घबराहट के साथ बिहारी पण्डित बोले—"क्या ? क्या गड़बड़ हो गया ? जल्दी बताओ, हुआ क्या ?"

गिरधारी ने चारपाई पर बैठते हुए उत्तर दिया—"जिस भरोसेलाल आसामी पर हमारी रकम फंसी हुई थी, कल उसके घर चोरी हो गई। अभी-अभी मुझे चन्द्रमाप्रसाद से मालूम हुआ। लाही बेचकर कल ही बेचारा सात सौ की रकम घर ले आया था। वही ज्यों की त्यों बकस में रखी हुई थी। सवेरे जो सोकर उठा, तो क्या देखता है कि ताला टूटा पड़ा है और पिछवाड़े सेंध हो गई है।"

"यह तुमने बुरा सुनाया। ये घटनाएं मेरे विचार से इसीलिए हो रहीं हैं कि राज का ब्याह न हो सके। कब का वादा था रकम चुकाने का ?"

"वादा तो वह जेठ से कर रहा था। कह रहा था कि लाही का भाव ज़रा ठिकाने ग्रा जाए तो बेचूं। तीन घण्टे पुलिस दरवाज़े पर पड़ी रही। लगभग दो हज़ार का नुकसान हुग्रा बताते हैं। ज़ेवर के नाम पर छल्ला भी नहीं रहा। कपड़ों में कम्बल तक नहीं छोड़ा। हां, बर्तन कोई नहीं गया।···ग्रब यह रकम डूबी समझो। चुकौते में बैलों पर हाथ डाल नहीं सकता। भैंस किसी काम की नहीं है। एक तो बूढ़ी, दूसरे उसके नीचे दूध नहीं। एक ही ग्राध वियांत की ग्रौर सम्भावना है।"

"हूं! ग्रच्छा तुम एक काम करना कि उसके यहां ज़रा हो ग्राना। ग्रपने रुपयों के बारे में ग्रभी कुछ कहना न उससे, भला!"

बिहारी पण्डित ग्रब ग्रपनी चिन्ता भूल गए। वे सोचने लगे— ग्राज बेचारे के यहां खाना भी न बना होगा। छोटे-छोटे चार बच्चे हैं, स्त्री है। मां को मोतियाबिन्द के कारण ग्रांखों से कुछ सूझ नहीं पड़ता। बिना कुछ पूजा किए थाने में रिपोर्ट भी न लिखी गई होगी। हालांकि कमरे में मोटे-मोटे काले ग्रक्षरों से लिखा रहता है —'घूस लेना ग्रौर देना पाप है'—रिपोर्ट लिखाने का यहां कोई शुल्क नहीं लगता'—यह रूप है महात्मा गांधी की जय के नारे का! क्या ज़माना है! देश को स्वराज्य मिल गया; विदेशों में प्रचार की धूम है कि भारत-वर्ष ने इतनी थोड़ी ग्रवधि में ग्राशातीत उन्नति की है; मगर गांवों की वास्त-विक स्थिति का इन लोगों को कुछ भी पता नहीं।'

इस समय दिन के दो बज रहे थे। घर में चौका उठ गया था। चन्दनियां बर्तन मलती हुई सोचती जाती थी—'गोपालू को भगवान ने ही बचाया है।' फिर एका-एक हाथ रोककर कौशल्या की ग्रोर देखकर बोली—"चाची! ग्रो चाची!! कुछ सुना? भरोसेलाल के यहां जो चोरी हुई है, उसमें थानेदार दुपहरिया लौटे तक दुग्रारे पड़ा रहा। सुनती हूं, यही उसकी समझ में नहीं ग्रा रहा था कि चोरी हुई कैसे? ग्रांगन में लोग पड़े थे। जहां उनकी चारपाई पड़ी थी, उसके पीछे एक दालान ग्रौर उसीसे लगा कमरा। वहीं बकस रखा हुग्रा था।"

चन्दनियां का स्वभाव था कि वह जब ग्राती, तो गांव-गली में जितना हाल मालूम होता, काम ग्रारम्भ करने से पहले वही सुनाने बैठ जाती।

कौशल्या ने कह दिया—"देख चन्दनियां, काम के बखत काम और बात के बखत बात। अभी थोड़ी देर में राज नहाने के लिए बैठ जाएगी। उस बखत पानी चुक गया तो ?"

मुंह मटकाकर चन्दनियां बोली—"तो क्या हुआ ? तब तक मैं बिटिया के नहाने-भर को भी पानी नहीं भर पाऊंगी ?···हां चाची, तो थानेदार दाढ़ीजार कहता था कि घर के ही किसी आदमी से भेद मिला है चोर को। वह आदमी भी इस चोरी में शामिल है। सो वह पूछ रहा था कि बताओ किसपर शक है? चाची, जब से सुना, तब मे मेरा जी धक्-धक् हो रहा है। बड़ा अच्छा हुआ, चाची, जो गोपालू यहां था नहीं। नहीं तो, जो कहीं भरोसेलाल उसीका नाम ले देता, तो क्या होता ?"

"तू नाहक इतना डरती है, चन्दनियां। जब गोपालू चोरी नहीं करता तो उसका नाम ही कोई क्यों ले देगा ?"

"चाची, चोरी तो नहीं करता, लेकिन सोहबत तो उसकी खराब ही है, यह किससे छिपा है ! जो जुआ खेल सकता है, वह चोरी भी कर सकता है। इसीलिए मैं हनुमानजी की मनौती मान आई कि मेरे गोपालू का कोई नाम न ले दे।"

राज की मां हंसने लगीं। बोलीं—"बड़ी डरपोक है तू, चन्दनियां। आज तक तो कोई ऐसा काम गोपालू ने किया नहीं; फिर तू नाहक डरती है।"

"तुम नहीं जानतीं, चाची, कि ज़माना कितना खराब लगा है। ऐसा ज़हर फैल गया कि करो तो डर, न करो तो डर। हे भगवान ! ···अच्छा चाची, पानी भर लाऊं।"

और बस इतना कहकर चन्दनियां पानी भरने चली गई।

बिहारी पण्डित सायंकालीन संध्या से निवृत्त होकर खड़ाऊ पहने सीधे मुरारी बाबू के यहां पहुंचे।

मुरारी बाबू के मकान के पास एक खण्डहर था, जिसमें एक तरफ की दालान का एक हिस्सा गिरने से कुछ बच गया था। उसके दिन तब फिरते थे, जब दो-चार साल में कभी कोई काम-काज होता था। जिन लोगों के परोहन आते, उन्हें वहां बांधा जाता। जिन लोगों को द्वार पर चारपाई डलवाकर लेटने का अवसर न मिलता, उनकी चारपाइयां वहां पड़ जातीं और लकड़ी चीरने की आवश्यकता

होती, तो यह काम भी वहीं किया जाता।

मुरारी बिहारी पण्डित के साथ उसी खण्डहर वाले मकान की दालान में खड़े हुए कह रहे थे—"अरे गज्जू, एक दीपक यहां भी जलाकर रख दे।" और फिर मन ही मन सोचने लगे—'सोया हुआ खण्डहर है। वर्षों के बाद कहीं जगने का अवसर मिला है—फिर और भी अधिक अतीत में चले गए—गयादीन बाबा यहीं पर लांग चढ़ाए, तकली लटकाए, जनेऊ काता करते थे। अपने हाथ का काता हुआ जनेऊ पहनते और समय-समय पर टोले में जब किसीको जनेऊ की आवश्यकता पड़ती, तो झट से निकालकर दे देते थे।

इतने में गयाप्रसाद ने साइकल से उतरकर घबराहट के साथ मुरारी बाबू से कह दिया—"जीजा, बारात तो आ गई, मगर एक दुर्घटना हो गई।"

"क्या कहा? दुर्घटना हो गई?"

गया ने उत्तर दिया—"हां, आप तो जानते हैं कि बरात में, चाहे जितना मना करो, लोग परोहन दौड़ा ही देते हैं। उसी दौड़ में हमारी मझोली से भी समधी और बिरजू दोनों उछलकर सड़क के किनारे खुदी हुई खाई में जा गिरे। बिरजू के पैर में मोच आ गई और समधी की कमर में।"

मुरारी से अधिक बिहारी पण्डित घबरा उठे। बोले—"ज़्यादा चोट तो नहीं आई?"

"अभी ज़्यादा तो नहीं जान पड़ती, मगर चोट की पीड़ा तो कुछ देर बाद उभरती है।"

मुरारी ने पूछा—"मगर वे लोग हैं कहां!"

"वे लोग तालाब के पास होंगे। ऊसर में यह घटना हुई थी। बिहारी जीजा के मकान के पास जो सरकारी दवाखाना है, उन लोगों को वहां ले आने के लिए मैं गाड़ीवान से कह आया हूं।"

"यह तुमने बड़ा अच्छा किया, गया। चलो बिहारी भैया, ज़रा देखें चलकर।"

दोनों चल पड़े।

इस समय बिहारी पण्डित आगे बढ़ते हुए सोच रहे थे—'सृष्टि का यही नियम है। जब वह मां बनने का अवसर पाती है, उसकी कुक्षा से पुत्र-रत्न जन्म लेता है, तभी वह अतिशय पीड़ा से कराहती-कराहती अचेत हो उठती है!

कहीं ऐसा तो नहीं है कि जिस चिन्ता के कारण मैं रात-दिन व्याकुल रहता हूं, भगवान ने उसके निवारण के लिए ही···!

१५

समधी के सामने पहुंचते ही मुरारी ने पहले उनके पैर छुए और बिहारी पण्डित ने पहले उनकी ओर उन्मुख हो हाथ जोड़कर नमस्कार किया। ब्रजमोहन भी झट मुरारी के चरण छूने लगा।

इतने में मुरारी बोले—"मुझे अभी-अभी मालूम हुआ कि आपकी कमर में चोट आ गई, तो मुझे बड़ा क्लेश हुआ। मैंने गया को कितना समझाकर भेजा था कि सावधानी से बरात लिवा लाना। मगर आप तो जानते हैं, देहाती आदमी बैलों के साथ रहते-रहते स्वयं भी बैल हो जाते हैं। कहां चोट आई है! ज़रा देखूं तो सही।"

"ऐसी कोई घबराने की बात नहीं, पर दस-पांच दिन की तकलीफ तो हो ही गई।"

आशीर्वाद के बाद सलोनेलाल बोले—फिर दायीं ओर कमर पर हाथ रखते हुए मुंह को कुछ इस ढंग से सिकोड़ लिया कि कमर की सारी पीड़ा नाक के ऊपर उस स्थल पर आ गई जहां दोनों भृकुटियां मिलकर कभी-कभी प्राणों में विरक्ति और क्षोभ की वह्नि सुलगा देती हैं। फिर बोले—"यह है।"

मुरारी ने हाथ से टटोलते हुए जो इधर-उधर दबाया, तो सलोनेलाल पीड़ा से विकल होकर कराह उठे—"बस, बस यहीं, यहीं।"

"तकलीफ तो आपको बहुत हो गई पर, पर,"—मुरारी ने कह दिया—"आप चिन्ता न करें। मैं अभी हजारी को भेजता हूं।"

बिहारी पण्डित लोकाचार खूब जानते थे। अतः इस बात के साथ स्वर में स्वर मिलाकर उन्होंने कह दिया—"हजारी ऐसे मामलों में उस्ताद है। चाहे जैसी भीतरी चोट हो, मालिश और सेंक के बल से एक-दो दिन में सारा दर्द खींच

लेता है।"...

फिर सोचा—'सम्भव है समधी से मुरारी की बातें जल्दी खतम न हों,' इसलिए झट उन्होंने ब्रजमोहन की ओर उन्मुख होकर कह दिया—"सुना, तुम्हारे पैर में भी मोच आ गई। यह बड़ा गड़बड़ हुआ।" फिर कथन के साथ थोड़ा झुककर बैठते हुए पूछा—"कौन-से पैर में है मोच !"

तब तक मुरारी भी इधर आ गए। पहले उन्होंने गया के विषय में दो शब्द जमा दिए।

"यह गया भी पूरा मूर्ख ही है। अन्य लोगों की देखा-देखी इसने अपनी मझोली सबसे आगे रखने की चेष्टा अवश्य की होगी। पर तुम चिन्ता न करना बिरजू, मोच के मामले में हजारी बड़ा उस्ताद है।"

इतने में गिरधारी टार्च लेकर आ पहुंचे। बिहारी पण्डित तब तक उटकुरुवां बैठकर ब्रजमोहन के दायें पैर की ओर संकेत कर बोले—"ज़रा दिखलाना तो छोटे भैया इधर···हां मुझे तो यही जान पड़ता है। अच्छा ज़रा पूरा पैर जमाकर देखो, कहां दर्द अधिक है।"

ब्रजमोहन ने खड़े होने की चेष्टा की, पर वह सफल न हो सका। मुरारी की ओर देखता हुआ बोला—"दर्द कुछ ज़्यादा है मौसिया। बस इसी जगह, एड़ी की गांठ में समझ लीजिए।"

इसी समय गयाप्रसाद आते दिखाई पड़ गए, तब मुरारी और बिहारी उसकी ओर लपक गए।

बिहारी ने कहा—"हजारी नाऊ को तुरन्त भेजो गया भाई। और एक आदमी यहां पंखा डुलाने के लिए भी। वैसे आज उतनी उमस तो नहीं जान पड़ती जितनी कल थी।"

मुरारी फिर गया के निकट गए। धीरे से बोले—"और सुनो। दो गिलास गरम दूध में बताशे घोलकर और थोड़ी फिटकरी पिसवाकर भेजो।"

गया लौटने ही वाले थे कि बिहारी पण्डित ने मुरारी की ओर उन्मुख होकर कह दिया—"दूध मैं ही भिजवाए देता हूं। तुम्हारे यहां तो दीक्षित मिठाई चढ़ाए बैठे हैं। दूसरे काम के लिए कहोगे, तो भौंह न चढ़ जाएंगी उनकी! कारीगर इस मामले में कितने सनकी होते हैं, जानते ही हो।"

मुरारी अवसर का ध्यान कर बोले—"बिहारी भाई, बात तुम्हारी सचमुच

मौके की होती है।" फिर साले की ओर दृष्टि डाल कहने लगे—अच्छा तो गया, तुम जाओ हजारी को भेजने, मैं अभी यहीं हूं।"

बिहारी पण्डित यह कहकर चल दिए कि मैं अभी आता हूं। आप तब तक उनका बिस्तर लगवा दीजिए।

दुलारे कहीं काम में उलझा हुआ था। अतः गिरधारी ने दोनों पलंगों पर बिस्तर बिछा दिए।

जिस कमरे में मुरारी के समधी और ब्रजमोहन को ठहराया गया वह हास्पिटल के पास होने के साथ-साथ बिहारी पण्डित के घर के दूसरे सहन से सम्बन्धित था। अन्तःपुर से बाहर निकलने का वही एक प्रमुख मार्ग था। गिरधारी ने पहले ही आकर भाभी से कह दिया था—"बिरजू बाबू और मुरारी भाई के समधी—दोनों—घर के बाहरी कमरे में ठहरे हैं।"

तब तक यह समाचार भी वहां पहुंच गया था कि दोनों को चोट आ गई है।

ब्रजमोहन उस समय पलंग पर लेटा हुआ सोचने लगा—'ये बिहारी पण्डित बड़े व्यावहारिक जान पड़ते हैं। हो सकता है मौसिया के साथ इनकी घनिष्ठता हो।'

गिरधारी बिस्तर लगा चुकने के बाद चबूतरे पर ही बैठ गए। मुरारी इस समय समधी से कह रहे थे—"जनवासे की अपेक्षा यहां आपको आराम अधिक मिलेगा।"

इतने में जनवासे से कई आदमी आते हुए दिखलाई पड़े। दुलारे एक बाल्टी में पानी ले आया और साथ में लोटा। मुरारी बोले—"दादा, ज़रा पैर इधर बढ़ाओ, उन्हें धो दूं। चाहे जितनी आराम की यात्रा हो, थकान आ ही जाती है।"

तब तक हजारी आ गया। सामने आते ही उसने दोनों मेहमानों को पैर छूते ही कह दिया—"पानी थोड़ा कुनकुना करा लें मालिक, चोट वाली बात ठहरी।"

बिहारी पण्डित बोल उठे—"हां, हां, हजारी, यह तुमने अच्छा सोचा। मुझे इस बात का ध्यान ही न रहा। जाओ दुलारे, पानी कुनकुना ही करा लो।"

बिहारी पण्डित ने डेढ़-डेढ़ पाव के बदले आधा-आधा सेर गाढ़ा मीठा दूध दो गिलासों में, फिटकरी की पुड़िया के साथ, सलोनेलाल और ब्रजमोहन के पास भेज दिया।

मुरारी अपने घर पहुंच गए थे और जनवासे से वरपक्ष का नाई उनके यहां

जा चुका था।

सलोनेलाल ने दूध के गिलास में मुंह लगाकर पहला घूंट जो गले के नीचे उतारा, तो बिहारी पण्डित की ओर दृष्टि डालते हुए प्रसन्नमुख कह दिया—"वाह ! दूध तो आपने सचमुच बढ़िया पिलाया भाई साहब !"

बिहारी पण्डित गद्‌गद हो उठे। आकाश की ओर आंखें उठ गईं। दोनों हाथ जोड़कर बोले—"सब प्रभु की देन है।"

देर से ब्रजमोहन के मन में बारम्बार यही स्वर गूंज रहा था—'जब भैया जानते थे कि मैं देहात की बरातों में जाना पसन्द नहीं करता, तब मुझे यहां आने के लिए उन्होंने जो सब प्रकार से विवश कर दिया, इसका कोई ऐसा अर्थ अवश्य है जिसको उन्होंने अपने मन में ही रख छोड़ा है।'

अब उससे भी न रहा गया। बोला—"मैंने तो दरवाज़ा देखकर ही समझ लिया था, भाग्य से ही किसी सम्पन्न घर का सम्पर्क मिल रहा है।"

गिरधारी की दुलहिन इन समस्याओं को सुनकर जिठानी के निकट जाकर धीरे से बोली—"जीजी, तुमको जिस बात की चिन्ता थी, वह आपसे-आप दूर हुई जाती है। मन में आता है, अभी देख आऊं।"

कौशल्या और भी धीरे से बोली—"देख आना। ऐसी जल्दी क्या है ? इस समय तो वहां मुरारी के समधी भी हैं। फिर किसी मौके से जाना या यहीं बुलवा लेना। आज तो बेचारा मोच के कारण कहीं आ-जा भी नहीं सकता।"

राजेश्वरी ने जब चाची को मां के पास फुसफुसाते हुए देखा, तो उसे कुछ शका हो उठी। वह इन बातों को जितना अधिक सुनती, उतनी अधिक चिंतित होने लगती—'ऐसी कौन-सी बात है जो अम्मा और चाची इतने धीरे से करती हैं कि कोई सुन न सके ?'

डाक्टर सिनहा घूम-घामकर लौट आए। तब मुरारी समधी के पास आते-आते उधर ही घूम गए। बोले—"डाक्टर साहब, बरात के दो अतिथियों को कुछ चोट आ गई है। जिनमें एक तो मेरे खास समधी ही हैं। सोचता हूं, पहले हजारी नाऊ टार-टूर ले, ज़रा मालिश-वालिश कर दे, बाद में फिर आप भी मरहम-पट्टी करवा दीजिएगा।"

डाक्टर साहब जानते थे, गांव के लोग पहला महत्त्व घरेलू चिकित्सा को ही

देते हैं। अतः उन्होंने हंसते-हंसते कह दिया—"जैसा आप कहेंगे, हो जाएगा। वैसे मैं सेवा के लिए अभी से तैयार हूं।"

मुरारी का जी न माना। वे पुनः समधी के पास जा पहुंचे—"आपकी राय का मेरे लिए सबसे अधिक महत्त्व है। डाक्टर साहब का कहना है, 'मैं मरहम-पट्टी के लिए तैयार हूं।' बुलाऊं उनको ? बिरजू बेटा, तुम तो शहर में रहते हो। तुमको डाक्टरी इलाज का अधिक अनुभव होगा। तुम्हारा क्या ख्याल है ?"

इस समय राजेश्वरी बैठक के कमरे के ठीक पीछे वाले कमरे में थी। मुरारी बाबू का प्रश्न सुनकर उसे विदित हुआ कि कोई बिरजू बाबू हैं और अभी नवयुवक हैं।

ब्रजमोहन लेटा हुआ था। उसने उठने की चेष्टा करते हुए उत्तर दिया—"मौसिया, मैं नगर में अवश्य रहता हूं। एलोपैथिक चिकित्सा पर विश्वास भी कम नहीं रखता, पर पुरातन भारतीय चिकित्सा-प्रणाली से मेरी ऐसी कोई विरक्ति नहीं कि अपने विषय के ग्रामवासी आचार्यों की छिपी हुई विद्याओं का लाभ उठाने में हिचकिचाऊं। इसलिए मोच निकालने का पहला अवसर मैं नाई को ही देना चाहता हूं।"

मुरारी हंसते-हंसते बोल उठे—"जब कभी मेरी राय से तुम लोगों की राय मेल खा जाती है तब मुझे बड़ी प्रसन्नता होती है।"

ब्रजमोहन का यह उत्तर सुनकर राजेश्वरी की आलोचना आरम्भ हो गई—'भाषा अवश्य सांस्कृतिक है, पर समन्वयवादी जान पड़ते हैं। नवयुग की मान्यताओं के प्रति प्रखरता के साथ निष्ठावान नहीं।

'किन्तु वह व्यक्ति जनवादी मान्यताओं के प्रति निष्ठावान कैसे हो सकता है जो परम्पराओं और रूढ़ियों के नाते उन संयोगों से भी लाभ उठाने में कभी चूकता नहीं, आतिथ्य-स्वीकार के सिवा जिनका कोई महत्त्व नहीं है ?'

फिर इसी दृष्टिकोण से वह अपने लिए सोचने लगी—'मैं स्वतः भी ऐसे दलदल में पड़ी हूं कि करना दूर रहा, मन की भावना किसीसे कह तक नहीं सकती।'

थोड़ी देर में अगवानी हुई। न सलोनेलाल उसमें सम्मिलित हो पाए, न ब्रजमोहन। हजारी नाई नौ बजे रात तक मालिश करता रहा। थोड़ी देर तक तो सलोनेलाल जगते रहे, फिर उन्हें एक झपकी लग गई। ब्रजमोहन के पैर की मोच

का दर्द बहुत कुछ थम गया। यद्यपि गांठ में सूजन हो आई। मुरारी ने अन्त में डाक्टर साहब को बुलाकर दोनों की मरहम-पट्टी करवा दी।

धीरे-धीरे जब दस बजे और द्वाराचार के बाद पौनछक आने का अवसर आया, तब तक दोनों को नींद आ गई थी। सलोनेलाल बड़ी मुश्किल से जगे भी, तो उन्होंने कुछ भी खाने से इन्कार कर दिया। पर ब्रजमोहन ने साधारण नाहीं-नूहीं के बाद, सोने पंडित के आग्रह करने पर, अन्त में विवश हो बैठकर प्रेम से भोजन किया।

अब सोने पंडित ने अपने लिए भी एक पलंग बीच में डलवा लिया—केवल इस विचार से कि आज न सही, पर कल तो राजेश्वरी से देखादेखी करवाकर ब्रजमोहन को अनुकूल कर ही लेना है।

ब्रजमोहन अर्धनिद्रित अवस्था में कभी-कभी सोचने लगता—'आज यह मोच वाली घटना क्या हो गई, मेरा तो लोम-लोम दुविधा में पड़ गया है। ये सोने पंडित अवश्य ही किसी ऐसी योजना के फेर में हैं जिसका सीधा सम्बन्ध केवल मुझसे है, अन्यथा ये महाशय इतनी देर बाद अपना पलंग यहां कदापि न डलवाते।'

रात में देर से नींद आने के कारण ब्रजमोहन कुछ देर से उठा। प्रातःकाल हो गया था। उस समय दुलारे भैंस दुह चुका था : गाय दुहने गया था। पर आज वह बिचक गई। बिहारी पंडित के निकट जाकर गिरधारी ने कहा—"भैया, मुरारी के यहां से चाय और नाश्ते का सामान अभी तक तो आया नहीं।"

बिहारी पण्डित स्नान कर चुके थे। अब माला जप रहे थे। एकाएक एक गुरिया पर उनकी अनामिका अटक गई। बोले—"मुरारी के यहां से सामान आने की प्रतीक्षा हमको नहीं करनी चाहिए। कोई अपने कर्तव्य-पालन में देर कर दे, इसका यह मतलब तो नहीं कि हम भी देर कर दें।"

गिरधारी ने उत्तर दिया—"इसीलिए तो मैंने आपसे पूछा।"

बिहारी पण्डित बोले—"इसमें पूछने की क्या बात थी, राज की मां सब कर लेगी।"

ब्रजमोहन सोचने लगा—'इस घर में राज नाम का कोई लड़का भी है।'

गिरधारी अपनी भाभी के पास जा पहुंचे। बोले—"भौजाई, वो मुरारी के

यहां से चाय और नाश्ते का सामान अभी तक आया नहीं।"

उनकी बात पूरी हुई थी कि उसी समय सोने पंडित आ पहुंचे। बोले—"भाभी, कष्ट करने की बात नहीं है। सामान आ गया।"

कौशल्या ने उत्तर दिया—"आ गया? ठीक है, न भी आता, तो मैं तो यहां व्यवस्था कर रही थी।" फिर सोने पण्डित के पास जाकर धीरे से कहने लगी—"मुझे सब मालूम है। सामान सब वनस्पति में बना है।"

सोने पण्डित व्यावहारिक आदमी थे। बोले—"तो क्या हुआ? अब तो सभी जगह चलन है।"

कौशल्या ने अपनी सहज बुद्धि का परिचय देते हुए कहा—"सूत्रधार तुम हो। क्या यह अच्छा लगेगा कि ब्रजमोहन हमारे दरवाज़े पर ठहरकर वनस्पति से बनी हुई चीज़ें खाएं।"

सोने पण्डित प्रसन्नता से खिल उठे। बोले—"भौजाई, यह बात तो तुमने बहुत ठीक सोची। क्या बताऊं, मुझे आते-आते देर हो गई कुछ। अच्छी बात है। एक काम करो कि देशी घी का थोड़ा-सा हलुआ बनवा लो। सूजी अगर घर में न हो तो मैं ले आऊं।"

ये बातें इधर हो ही रही थीं कि राजकिशोर की दुलहिन ने घूंघट के भीतर से खांसते हुए कुछ ऐसा संकेत कर दिया कि कौशल्या उसके निकट जा पहुंचीं।

राजकिशोर की दुलहिन ने बताया कि सब चीज़ें मौजूद हैं। किसी बात की कमी नहीं है।

थोड़ी देर में जब सोने पण्डित ने जलपान की सामग्री ब्रजमोहन के सामने रख दी, तो उसने आश्चर्य के साथ कह दिया—"यह क्या? जलपान तो मैं कर चुका। अभी-अभी मैंने चाय समाप्त की है।"

बिहारी पण्डित वहीं खड़े थे, बोले—"तो क्या हुआ? वह सामान तुम्हारे मौसिया के यहां से आया था, पर तब तक देर होती देखकर कुछ सामान हमारे घर में भी बनना शुरू हो गया था। थोड़ा-सा तो है ही। जितना खाया जाए, खा लो।"

इतने में सोने पण्डित ने कह दिया—"बरात के सामान की बात और है। यह चीज़ घर की है। इसकी महिमा और है। वहां बरात में भीड़-भाड़ के लिए सामग्री बनती है और यह बात तुमसे छिपी नहीं है कि आजकल काम-काज में

वनस्पति का प्रयोग ज़्यादा होता है। यह चीज़ देशी घी की है। आपको पसन्द आएगी।"

ब्रजमोहन बिना कुछ कहे चम्मच उठाकर हलुआ खाने लगा।

तभी सोने पण्डित ने दूसरी ओर देखते हुए कह दिया—"समधी जी चले गए?"

बिहारी पण्डित ने जवाब दिया—"हां, रात में जब कई बार लोगों को यहां दौड़ना पड़ा, तब पालकी में बैठकर, गिरदा इधर-उधर लगाकर उन्हें जाना ही पड़ा। बात यह है सोने, तबियत चाहे मौज में हो, चाहे तकलीफ में, सम्पूर्ण जीवन से सम्बन्धित काम-काज अपने ही किए होते हैं। फिर जब उनकी जाने की इच्छा ही थी, तो मैं उनको रोक ही कैसे सकता था!"

इतने में ब्रजमोहन बोल उठा—"जाना तो मुझको भी पड़ेगा।"

बिहारी पण्डित बोले—"तुम्हारे पैर में अभी इतनी तकलीफ है कि नित्य-कर्म के लिए बाहर जाने में तो देह में पसीना आ गया। फिर वहां सबके साथ रहने में तुम्हें तकलीफ भी तो होगी। आज खाने की ही बात है। हम जानते हैं कि वहां पूड़ियां खानी पड़ेंगी, वो भी कल की। और रोज़-रोज़ पूड़ियां खाने से तुम्हारी तबियत खराब हो गई तो? मैंने रात में तुम्हें कई बार खांसते सुना है, लगता है, तुम्हारे गले में खराश पैदा हो गई है।"

इतने में मुरारी आ गए। ब्रजमोहन के पास आते ही उन्होंने पूछा—"मोच का क्या हाल है?"

ब्रजमोहन ने जवाब दिया—"मौसिया, अभी तो तकलीफ ही है।" मुरारी बोले—"तो फिर तुम्हारा क्या इरादा है? यहीं रहोगे या घर चलोगे?"

ब्रजमोहन को बोलने का अवसर न देकर बिहारी पण्डित बोल उठे—"डाक्टर साहब ने कहा था कि मैं अभी देखूंगा। अगर दर्द बन्द न हुआ, तो सम्भव है सुई भी लगाएं। वैसे कोई बात न थी। पर तुम्हारा घर यहां से काफी दूर है। डाक्टर साहब को बखत-बे-बखत जो आना पड़ गया, तो उन्हें भी दिक्कत हो सकती है।"

मुरारी ने कहा—"हां, यह तो तुम ठीक कहते हो। घर के सब लोग पूछ रहे थे, इसलिए मैंने कहा।"

बिहारी पण्डित ने उत्तर दिया—"अच्छा ऐसा करो कि अभी डाक्टर साहब देख लें, तब ब्रजमोहन की अगर इच्छा हो, तो चले जाएं। मगर फिर इनके खाने

का क्या प्रबन्ध होगा ? तुम्हारे यहां तो पूड़ी का ही इन्तज़ाम हो रहा होगा।"

मुरारी विचार में पड़ गए। बोले—"भाई, जैसा प्रबन्ध सबके घरों में होता है वही हमारे घर में भी हुआ है। बिरजू तो अपने घर का लड़का है। हम तो अपने मान्य लोगों के लिए भी विशेष प्रबन्ध नहीं कर पाते।"

"सो तो ठीक है," बिहारी पण्डित बोले—"मगर बुरा न मानो तो एक बात कहूं ! साधारण परिस्थिति की बात दूसरी है। लेकिन जब तबियत खराब हो, तब तो खान-पान में विशेष ध्यान रखना ही पड़ता है। भगवान न करे कि ऐसा हो; लेकिन कल को अगर बिरजू का पेट खराब हो जाए, तो उस दशा में, पैर में मोच होने पर, वह दस्तों के लिए कैसे दौड़ेगा।"

मुरारी निरुत्तर हो गए। बोले—"अच्छी बात है। ऐसी हालत में, कम से कम आज तो बिरजू, तुम यहीं रहो। कहीं मत जाओ और हिलो-डुलो तक नहीं। भगवान चाहेगा तो शाम तक सूजन और पटक जाएगी। और बिहारी भाई, इनके खाने के लिए आज यहीं प्रबन्ध कर लीजिएगा।"

कथन के साथ वे पहले चल खड़े हुए, फिर कुछ सोचकर तुरन्त रुक गए। पूछा—"चाय और नाश्ता आ गया था ?"

सोने पण्डित ने कह दिया—"वह तो आया ही था। फिर यहां से भी बनकर आ गया, क्योंकि तब तक एक-आध चीज़ बना ली गई थी।"

मुरारी हंसने लगे। बोले—"यह मैं पहले से ही जानता था। खैर, अब मैं बिरजू की ओर से बेफिकर हूं। वैसे अभी बैठता, पर रात-भर जागकर कोरी आंखों भोर किया है। इसलिए···"

बात बीच में अधूरी छोड़ मुरारी दूसरी ओर दृष्टि डाल बोल उठे—"ये लो, दरोगा बेटा भी आ गए।"

ये राजकिशोर बाबू थे। चरण-स्पर्श के उत्तर में 'सुखी रहो' आशीर्वाद के साथ मुरारीने कहा—"कल से तुम्हारी प्रतीक्षा कर रहा हूं। सामान कहां है ?"

राजकिशोर ने उत्तर दिया—"सामान स्टेशन पर ही छोड़ आया हूं दादा। सवारी कोई देख न पड़ी, तब सोचा—असिस्टेण्ट स्टेशन मास्टर की साइकिल से ही क्यों न चला जाऊं।"

"अच्छी बात है," कहते हुए मुरारी बोले—"घंटा आधा घंटा ठहरकर हमारे यहां आ जाना। खाना वहीं खाना पड़ेगा; अच्छा !"

पर राजकिशोर बाबू सोने पंडित और पिता के साथ बातचीत में इतने उलझ गए कि फिर कोई उत्तर न दे सके।

ब्रजमोहन सोच रहा था—'भैया ने मुझे यहां व्यर्थ नहीं भेजा। आज न सही, कल सही। मालूम तो हो ही जाएगा।'

राजकिशोर ने अन्त में बतलाया—"डाके वाले दो नवयुवकों का पता चल गया है। उनमें एक तो कोई कैलाश है और दूसरा भी अच्छा-सा नाम है। बस, अब वारण्ट निकलने ही वाले हैं।"

राजेश्वरी को माधुरी से मिलते समय कभी-कभी विजय का भी ध्यान हो आता। स्मरण आते क्षण अब भय नहीं होता था, होता था एक पश्चात्ताप कि उस नृशंस बर्बरता का मुख्य आधार मैं स्वयं थी। आखिर उसमें ऐसी बुराई ही क्या थी जो मैंने उसकी अवमानना की? पर अन्तस् से वह अब भी यह स्वीकार न करना चाहती थी कि उसका प्रतिकार यही होना चाहिए था। ज्यों-ज्यों दिन चलते जाते थे, त्यों-त्यों विजय के प्रति उसकी प्रतिक्रिया मन्द पड़ती जाती थी। और यह बात तो वह पचासों बार सोचती थी कि कुछ भी हो, उसकी सांस्कृतिक निष्ठा में कोई कमी नहीं है। दूसरा कोई होता तो उस स्थिति में कोई कसर बाकी न रखता।

इस सहानुभूति की निष्ठा-विधा तब और भी प्रदाहमयी बन जाती, जब वह सोचने लगती—'अच्छा, क्या यह सम्भव नहीं कि जिसने मेरे रूप का सारा वैभव उच्छिष्ट बनाकर छोड़ दिया है, आशा के आंगन में कभी न कभी, चिरन्तन मिलन भी उसीके साथ हो। वह मानव हो कि दानव, मुझे इससे कोई मतलब नहीं।'

माधुरी का विवाह ऐसे लड़के से हो रहा था, जो श्रम-विभाग में पत्रकार था। उसका वर्ण श्याम था और शरीर दुर्बल; पर उसकी आंखें बड़ी थीं। जब वह मुस्कराता, तो उसकी भंगिमा से ऐसा प्रतीत होता, मानो वह किसी विसंगति का आभास पाकर हंस रहा हो।

राजेश्वरी ने जब उसे देखा, तो वह मन ही मन हंसती रही। जब माधुरी से उसने अपनी कोई प्रतिक्रिया व्यक्त नहीं की, तो वह समझ गई—'राजेश्वरी को वे पसन्द नहीं आए।'

लेकिन माधुरी इस चुनाव से पूर्ण सहमत थी। वह एक पत्रकार के महत्त्व को

समझती थी और उसे विश्वास था कि कुछ भी हो, उसके साथ मेरी मर्यादावृद्धि तो होगी — सम्मान तो मुझे मिलेगा।

इसके अतिरिक्त उसके मन के भीतर कहीं यह बात भी छिपी पड़ी थी कि जिस नारी के पति का व्यक्तित्व, रूप और आच्छादन असाधारण रूप से आकर्षक होता है उसका जीवन सदा संशयग्रस्त और दुखी रहता है। कदाचित् उसका मत था कि असाधारण सौन्दर्य चाहे पुरुष का हो, चाहे स्त्री का, स्वयं अपनी सीमाओं में विलय होकर नहीं रह सकता। राजेश्वरी से उसकी आत्मीयता अवश्य थी, पर यह बात एक दुविधा के रूप में अब भी उसके मन में बनी हुई थी कि डाका डालने वाले युवकों में से किसी एक से उसका पूर्व-परिचय भी कदाचित् रहा हो। क्या हुआ, क्या नहीं हुआ, इस विषय में मतभेद हो सकता है, पर इसमें दो मत नहीं हो सकते कि वह राजेश्वरी से चिढ़ा हुआ रहा होगा।

माधुरी की इस मान्यता का एक आधार भी था। राजेश्वरी की इस प्रकृति से वह परिचित थी कि कोई भी व्यक्ति हो, यदि वह बिना किसी विशेष प्रयोजन के उससे मिलने अथवा बात करने की चेष्टा करता है, तो वह अपनी क्षुब्ध अनासक्ति व्यक्त किए बिना नहीं मानती।

गांव में कई ऐसे अवसर आ चुके थे। कई वर्ष की बात है, एक बार गेंदासिंह के घर में विवाह था। गांव-भर की बहू-बेटियां आमंत्रित थीं। राजकिशोर की दुलहिन भी उसमें सम्मिलित हुई थीं। पर राजेश्वरी घर में उपस्थित रहने पर भी गेंदासिंह के घर झांकने नहीं गई। कालान्तर में वह जब मुरारी के घर, सत्यनारायण की कथा के अवसर पर, आंगन में खड़ी देख पड़ी तो कहीं गेंदासिंह ने कह दिया—'हमारे घर नहीं आती राज बेटी ! वैसे कभी न आओ तो कोई बात नहीं, पर काम-काज में तो आना ही पड़ता है।'

प्रश्न सुनकर राजेश्वरी विचार में पड़ गई। आक्षेप उचित था, यह वह भी स्वीकार करती थी। अब क्या उत्तर दे, इसी असमंजस में उसने कह दिया—'सभी काम-काजों में सबके घर आना-जाना सम्भव नहीं है।'

माधुरी पीली धोती पहने बैठी थी। पैरों में महावर की लाली और हथेलियों में हरिद्रा रंजित थी। ग्रीवा, कर्ण, कलाइयां तथा पैर आभूषणों से सुशोभित थे। आंखें उनींदी थीं। जान पड़ता था, नींद नहीं आई।

राजेश्वरी आते ही पास बैठती हुई बोली—"वाह, क्या कहने हैं ! कहीं

पाण्डेयजी इसी रूप-सज्जा में पा जाएं, तो मज़ा आ जाए ।"

पहले माधुरी संकुचित हो उठी, फिर कुछ सोचकर बोली—"क्या करूं, तुम्हीं बाताओ। जो रीतियां हमारे समाज में युग-युग से प्रचलित हैं, ऐसे अवसरों पर उन्हें मानना तो पड़ता ही है। फिर स्वयं मुझे भी कम कुतूहल नहीं होता। बिरजू भैया कह रहे थे—बड़े भाग्य से यह दिन आता है। कम से कम यही समझकर तुमको अनुराग के साथ सारे परिणय-कृत्य सम्पन्न करने चाहिए कि ऐसा अवसर जीवन में केवल एक बार आता है।"

"कौन बिरजू भैया ?" राजेश्वरी ने एकाएक प्रश्न कर दिया।

"अरे ! तुमने बिरजू भैया को अब तक देखा ही नहीं !"

"क्यों, उनको देखने की बात तुम्हारे मन में उठी कैसे ?"

"यों ही मैंने कहा। वैसे चाहे न भी कहती, पर वे अभी कल तक तो तुम्हारे ही घर ठहरे हुए थे।"

"होंगे, मैंने ध्यान नहीं दिया।" उत्तर के साथ राजेश्वरी गम्भीर हो गई। —'वह यह कैसे कह सकती है कि उसने बिल्कुल ध्यान नहीं दिया।'

राजेश्वरी की यही बातें माधुरी को सुहाती न थीं। अतः उसे कहना पड़ा— "ध्यान क्यों नहीं दिया—और ध्यान गया क्यों नहीं, मुझे इसीपर आश्चर्य हो रहा है।"

"आश्चर्य की इसमें क्या बात है ! जो भी व्यक्ति मेरे घर आए, या ठहरे, उसपर ध्यान देने में जैसे मैं कोई लाभ नहीं देखती। वैसे ध्यान न देने में कोई हानि भी नहीं अनुभव करती। और परिचय भी तभी किया जा सकता है, जब उसकी आवश्यकता होती है।"

माधुरी की शिक्षा इण्टरमीजिएट के आगे न बढ़ पाई थी। किन्तु पत्र-पत्रिकाएं वह बराबर पढ़ती थी। इस कारण उसका साधारण ज्ञान धीरे-धीरे उच्च स्तर को छूने लगा था। अतः इस अवसर पर उसने स्पष्ट कह दिया—"बस दीदी, तुम्हारा यही गर्वीला स्वभाव मुझे अच्छा नहीं लगता। मैं तो यह सोच ही नहीं सकती कि जीवन के प्रति ऐसी उदासीन वृत्ति रखकर कोई आदमी जी ही कैसे सकता है।"

यह एक ऐसा उत्तर था, जो राजेश्वरी की अन्तश्चेतना से जा लगा। यही तो उसकी वास्तविक समस्या है। यही वह व्रण है, जो न टपकना जानता है, न

फूटना। एक टीस-सी सदा होती रहती है। न बढ़ती, न मन्द पड़ती, न शान्त होती है।

इतने में इधर-उधर से घूमता हुआ आ पहुंचा ब्रजमोहन। पर द्वार तक आते-आते माधुरी से भी अधिक परिपक्वयौवना, रूप-राशि की उर्वशी, अनंगलता-सी नारी को पास बैठा देखकर एकाएक ठिठुक गया।

संयोग से राजेश्वरी के नयन-मीन ब्रजमोहन से जा मिले और ब्रजमोहन की तपन-भरी अपलक आंखें उसकी देह-यष्टि की अगम कमनीयता देख धन्य हो गईं। —'हां, यह है मेरी उत्तरा-सी मोहक नारी!

'लेकिन जो भी नारी मेरी उत्तरा-सी मोहक हो, क्या यह आवश्यक है कि वह मुझे मिल ही जाए? एक तो मैं वैसा अछूता वर नहीं रह गया। कौन जाने यही बात इस परिणय में व्याघात बन उठे! फिर हमारी सामाजिक मान्यताएं और विधियां! मेरी ओर से भी प्रस्ताव होने से रहा।'

क्षणमात्र में ब्रजमोहन आत्मगत हो उठा—

'और बिहारी पण्डित की पारिवारिक महत्त्वाकांक्षाएं?'

त्वरा से राजेश्वरी उठने को हुई। बोली—"अब चलूंगी माधुरी।"

माधुरी उसकी उड़ते हंसों की किनारी वाली दुग्ध-श्वेत साड़ी का छोर पकड़ती हुई बोली—"बैठो, बैठो। तुम्हारा परिचय करा दूं। यही हैं मेरे बिरजू भैया।" फिर ब्रजमोहन को लक्ष्य कर कह दिया—"चले आओ, चले आओ। यह मेरी बाल-जीवन की सखी राज दीदी है। पूरा नाम है राजेश्वरी।"

फर्श पर एक बड़ी दरी बिछी हुई थी। ब्रजमोहन थोड़े अन्तर से बैठ गया।

पहले माधुरी ने पूछा—"पैर की मोच का क्या हाल है?"

ब्रजमोहन ने मुस्कान के ब्याज में उत्तर दिया—"मोच तो खैर ठीक हो रही है; पर इसके कारण जवाब देते-देते तबियत में एक खरोंच-सी पड़ी जा रही है। लगता है, मुझसे पूछने को केवल एक यही प्रश्न लोगों के पास रह गया है।"

माधुरी हंस पड़ी और राजेश्वरी हंसती-हंसती मुस्कान की धारा पर ठहर गई। रूमाल अधरों से जा लगा।

माधुरी बोली—"देखा, बिरजू भैया की हर बात में एक व्यंग्य रहता है!"

राजेश्वरी के मन में आता था—'वह भी कोई प्रश्न करे, न प्रश्न करे तो

प्रसंगानुकूल कोई बात ही कहे ।'

गौरैया का एक जोड़ा उस समय सामने द्वार की देहरी पर बैठा फुदकने लगा-- और चोंच में चोंच भिड़ाकर क्रीड़ा-रत कपोत-दम्पती पंख फड़फड़ाते हुए उड़ गया।

राजेश्वरी ने उसे लक्ष्य कर कह दिया —"मैं जब कभी बीमार पड़ती हूं, तो भैया अगर कहते हैं—अब इसको कोई ठंडा पानी न देना, तो भाभी उनके स्वर में स्वर मिलाकर कहने लगती हैं—तुम कहो तो कमरे में अंगीठी सुलगा दूं, जिससे पानी के साथ-साथ हवा भी ठण्डी न मिले ।"

राजेश्वरी के साथ-साथ माधुरी भी खिलखिलाकर हंस पड़ी । बोली— "देखा भैया, तुमने तबियत में खरोंच पड़ने की बात कही, तो दीदी ने भाभी के माध्यम से कितना मधुर अनुमोदन सुझा दिया । प्रयाग विश्वविद्यालय से बी० ए० किया है इसी वर्ष ।"

ब्रजमोहन बोल उठा—"तभी मन ही मन सोच रहा था, और भी कहीं देखा है शायद । अब ख्याल आ गया—वहीं देखा होगा । अगर मैं भूलता नहीं तो कदाचित् निबन्ध-प्रतियोगिता में—किसी कारणवश सर्वप्रथम होते-होते अन्त में द्वितीय हो गई थीं । फोटोग्राफ भी किसी पत्र में निकला था । निकला था न ?"

स्वीकारोक्ति में राजेश्वरी पहले पुकिलत हो उठी, फिर रूमाल अरुणारे अधरों से लग गया ।

अब ब्रजमोहन बारम्बार यही सोचने लगा—'अच्छा, जो विवाह अब तक तै न हुआ हो तो ? पूछना भी गुनाह होगा ।'

उसे उस समय विजय का स्मरण हो आया—'वह तो कभी इस बात का विचार करता नहीं । शची भाभी जब उसका समादर करने लगती हैं, तो वह पन्ना को भी एक ओर उठाकर रख देता है···अच्छा, यदि राजेश्वरी का विवाह किसी अन्य व्यक्ति के साथ हो गया, तो ?'

तब भी वह उसके सम्पर्क में आकर रहेगा ।

इसी समय बनवारी की दुलहिन आ गईं । बोलीं—"अरे बिरजू बेटा, तुमने अभी तक खाना नहीं खाया !"

ब्रजमोहन चौंक पड़ा । बोला—"ओः खाना ! मगर खाना तो मौसी, मेरा शायद बिहारी मौसिया के घर बन रहा है । मैं निश्चयपूर्वक तो नहीं कह सकता,

कानों में जो स्वर पड़ते रहे हैं, उनका अभिप्राय मैं यही समझने की धृष्टता कर रहा हूं। हां, वह बात दूसरी है कि राजेश्वरी मुझे अपने घर खिलाने को राज़ी न हो—और चुपके-चुपके उसीने मेरी पतंग काट दी हो ! क्यों ?"

कथन के अन्त का प्रश्नसूचक शब्द उसने राजेश्वरी की ओर उन्मुख होकर कह दिया ।

ब्रजमोहन के इस कथन पर राजेश्वरी का लोम-लोम तरंगित हो उठा। तभी बनवारी की दुलहिन रंग-ढंग देखकर बोल उठीं—"अच्छा तो है। वहीं सही। पर राजो बेटी, अब बिरजू को खाना खिलाने में और अधिक देर-दार मत कर।"

मन ही मन प्रसन्नता से पुलकित किन्तु ऊपर से संकोच में विजड़ित राजेश्वरी उठकर खड़ी हो गई। बोली—"चलती हूं माधुरी।"

माधुरी प्रसन्नता से उछल पड़ी। द्वार तक साथ-साथ चलती हुई यह देखकर ठिठक गई कि ब्रजमोहन आगे हो गया है। फिर राजेश्वरी के कान के पास मुंह ले जाकर चुपके से कह दिया—"ऐसा संयोग जीवन में बड़े भाग्य से मिलता है दीदी।"

अपनी फांक जैसे नयनों की कोरों से बाण चलाती हुई राजेश्वरी ने उल्लसित वाणी में कह दिया—"दुत् ! पगली कहीं की !!"

ब्रजमोहन उस समय सोच रहा था—'ये परिस्थितियां ही हैं, जो सुख का तुरन्त सृजन कर उठती हैं। उन्हें किसीसे सलाह लेने की आवश्यकता नहीं पड़ती। किन्तु जो हमारे मन, प्राण और आत्मा के अतल लोक तक को उन परिस्थितियों के अनुकूल बना देता है, वास्तव में सुख का मूल सृजनहार तो वही होता है ! ओ मेरे युग-युग के सृजनहार, राजेश्वरी को मेरी हृदयेश्वरी बना दे, तो तेरी यह कृपा मैं जीवन-भर न भूलूंगा।'

थोड़ी देर बाद बिहारी पण्डित के घर में चतुर्दिक् एक बिजली-सी दौड़ गई। ब्रजमोहन जब खाने बैठा, तो गिरधारी की दुलहिन ने थाली में खाना परोसकर उसके आगे रख दिया और राजकिशोर की दुलहिन निकट बैठकर पंखा झलने लगीं।

कौशल्या उस समय माला फेर रही थीं और राजकिशोर का बच्चा राजेश्वरी की गोद में बैठा उसके मुंह में अंगुली डालता हुआ किलकारी मार रहा था।

इस समय पंखा झलती हुई राजकिशोर की दुलहिन अपना हार्दिक उल्लास दिखाती हुई कहने लगीं—"यह राजेश्वरी बिटिया भी ब्याहने योग्य गई है। तुमने देखा ही होगा। इसके लिए कोई लड़का बतलाना लला।"

ब्रजमोहन की समझ में न आ रहा था, यह मामला क्या है ! प्रस्ताव सुनकर वह एकाएक गम्भीर हो गया।

१६

वास्तव में ब्रजमोहन को इस निमन्त्रण में सम्मिलित होने में कोई आकर्षण न था। किन्तु उस दिन जब बरात वापस जाने लगी, तो उसे भी चल देना पड़ा। यद्यपि अब मत बदल गया था। जी में आता था—'काश, कहीं किसी प्रसंग से राजेश्वरी देखने को मिल जाती। चलते समय और तो सभी लोगों से भेंट हो गई, पर राजेश्वरी की झलक देखने को आंखें तरसती रह गईं।'

ब्रजमोहन स्टेशन जा रहा था। कुछ नया-नया-सा उसके मन को छू रहा था। मानस के सूत की उलझी हुई पिंडी का एक-एक तार सुलझता जान पड़ता था—

'माधुरी वैसे अच्छी लड़की है, बड़ी हंसमुख। बात-बात में भइया-भइया कहते उसकी जिह्वा नहीं थकती। चलते समय बेचारी कुछ उदास जान पड़ती थी। वैसे बहुत बात नहीं करती थी, फिर भी लगता था, प्रसन्न है। विशेष रूप से उस समय, जब मैं उसके कमरे में पहुंच गया था। वह घड़ी मुझे बहुत प्यारी लगी।

'पर राजेश्वरी की बात ही और है। बात करते समय बहुत संयत रहने की चेष्टा करती थी। होंठों को दबाकर कभी-कभी रूमाल से ढककर मन के मर्म को छिपाने की शैली में बड़ी प्रवीण थी। अन्य गुणों की बात मैं नहीं जानता, लेकिन जहां तक रूप का सम्बन्ध है, उत्तरा से किसी प्रकार कम नहीं है। मौसी ने कहा—खाने को देर हो रही है—तो झट साथ चल पड़ी। फिर रास्ते-भर मौन रही। मैं प्रतीक्षा ही करता रह गया कि अब कुछ कहती है, अब बोलती है। मुझे उसका

यह संयम कभी न भूलेगा।'

सेजगाड़ी में इस बार भी पंडित सलोनेलाल साथ में थे। कमर में विशेष दर्द नहीं रह गया था, किन्तु अभी अधिक नहीं चल पाते। सवारियां जब चल पड़ीं, तो उन्होंने गाड़ीवान से कहा—"देखो गाड़ीवान, बहुत धीरे-धीरे ले चलो। अन्य परोहन अगर आगे जाते हैं, तो जाने दो।"

गाड़ीवान ने कह दिया—"मालिक, हमें मालूम है। बड़े भइया ने हमसे कह भी दिया था।" फिर पंडित सलोनेलाल बोले—"बिरजू बेटा, संकोच मत करो। पैर पसार लो। हां, अब ठीक है। आज कुछ बदली जान पड़ती है। हम स्टेशन पर पहुंच जाएं तब पानी बरसे तो ठीक होगा।"

पहले आदमी अपना ही हित देखता है।

ब्रजमोहन ने कह दिया—"ब्याह तो बिल्कुल ठीक रहा। अपको मिला भी खूब।"

थोड़ा मुंह बनाकर सलोनेलाल बोले—"हां, ठीक रहा। उतना ठीक तो नहीं रहा जितना हम सोचते थे, लेकिन बरात वाले सन्तुष्ट रहे यह भी कम नहीं। हमसे एक गलती भी हो गई, पर अब क्या हो सकता है!"

"गलती कैसी?" ब्रजमोहन ने पूछा।

सलोनेलाल ने उत्तर दिया—"इस गांव में सबसे अच्छा घर बिहारी पंडित का है। उनके यहां एक लड़की ब्याहने योग्य है भी। लड़की हमें पसन्द आई। खैर, कोई बात नहीं, जो हो गया सो हो गया। अपने-अपने भाग्य की बात है। देखो, उनका भाग्य कहां ले जाता है। तुम्हारे मौसिया कुछ कहते तो नहीं थे?"

उस समय ब्रजमोहन की मन:स्थिति कुछ इस प्रकार की हो रही थी कि उसे बिहारी पंडित के घर की बात सुनकर ही सुख मिलता था···'लेकिन राजकिशोर की दुलहिन ने कल जो मुझसे आग्रह किया कि इसके लिए कोई अच्छा-सा लड़का बताना। यह बात कुछ समझ में नहीं आ रही है। उन्होंने मुझसे क्यों कहा। मुझसे उनका कोई नाता नहीं, कोई सम्बन्ध नहीं, मिलना-जुलना भी अब शायद ही हो। आगे भी मैं यहां क्यों आने लगा! पत्र-व्यवहार मुझसे कोई क्यों करने लगा! मेरी ऐसी प्रवृत्ति नहीं कि मैं अपनी ओर से उन्हें पत्र लिखूं।' तभी एकाएक सलोनेलाल का प्रश्न सुनकर चौंक पड़ा। बोला—"एं! मौसिया? हां, यही

कह रहे थे कि मैंने उन्हें संतुष्ट करने में कोई कोर-कसर नहीं रखी । फिर भी उनको संतोष न हो तो मैं क्या करूं ?"

इतने में घोड़े पर सवार सामने आ गए सोने पंडित । बोले—"कहिए बिरजू बाबू, चित्त तो प्रसन्न है ?"

ब्रजमोहन फिर चौंक पड़ा—'इनके इस प्रश्न का क्या मतलब होता है ? मैं प्रसन्न हूं कि अप्रसन्न, इस बात का इनके साथ सम्बन्ध ? मुझको तो सब मिलाकर यह एक पहेली-सी जान पड़ती है ।' अतः बेमन से उत्तर दिया—"क्या मैं कभी आपको अप्रसन्न भी दिखलाई पड़ा हूं ?"

सोने पंडित कुछ संकोच में पड़ गए । थोड़ा अटकते हुए से बोले—"अ-अ-जैसे आपको कुछ तकलीफ तो हो ही गई थी ।"

"हां, यह तो आपने ठीक कहा । पर यह भी मानना पड़ेगा कि तकलीफ इतनी नहीं हुई जितनी उसके निवारण की व्यवस्था ।"

सोने पंडित बोले—"बिहारी भइया, आदमी नहीं हीरा हैं । आपकी बड़ी प्रशंसा कर रहे थे ।"

"अच्छा !"

आश्चर्य से ब्रजमोहन सोचने लगा—'इन्होंने मौसिया का नाम नहीं लिया ।' फिर पूछा—"मेरी प्रशंसा का ऐसा कौन-सा अवसर आ गया वहां ?"

सड़क सीधी स्टेशन को जाती है । भूमि भी समतल है, किन्तु राजपथ और पगडंडी में थोड़ा अन्तर तो रहता ही है । उस अन्तर की पूर्ति कर घोड़े की रास थामे सेजगाड़ी से लगकर सोने पंडित ने उत्तर दिया—"अवसर की बात नहीं । जग की यही रीति है । जैसे एक आप हैं, एक हम हैं । बिना परिचय के आप रास्ते में मिल जाएं, अथवा बस या रेल के डिब्बे में पास ही पास बैठने का अवसर पा जाएं, तो आपको मुझसे बात करने का उत्साह हो भी सकता है, नहीं भी हो सकता है । और एक मैं हूं कि आपसे परिचय होता या न होता, यह एक अलग बात है, पर मैं तो आपसे बिना बात किए मान नहीं सकता था । तात्पर्य यह है कि गुण की पूजा सर्वत्र होती है । क्यों दादा ? झूठ कहता हूं ?"

कथन के साथ समर्थन की आशा से वे पण्डित सलोनेलाल की ओर देखने लगे ।

पण्डित सलोनेलाल को यह बात भूलती न थी कि अगर ये महाशय चाहते

तो सम्बन्ध बिहारी पण्डित के यहां नहीं करवा सकते थे ? अतः कुछ अन्य-मनस्क होकर बोले, "भाई कहते तो ठीक ही हो। पर तुम्हारा मर्म कभी कोई पा नहीं सकता। इस बात को जाने दो, यह एक अलग बात है। वैसे तुम्हारा कहने का ढंग ही ऐसा है कि अन्दर से थोड़ी-बहुत बनावट भी हो, तो कोई भांप नहीं सकता।"

सलोनेलाल का इतना कहना था कि सोने पंडित हंस पड़े। बोले—"यह आपका मेरे साथ अन्याय है। मैंने कभी आपसे कोई बनावटी बात नहीं की। आपको मुझसे कोई शिकायत हो तो बताइए। जो दहेज़ तै हुआ था, उसमें एक पाई शेष रह गई हो तो उसे भी मुझसे अभी ले लीजिए।"

ब्रजमोहन सोच रहा था—'मुझे भी दादा का कहना सही जान पड़ता है। सोने पण्डित कितनी गहराई से बात करते हैं ! सहसा कोई आदमी यह बात जान नहीं सकता। मैं स्वयं भी इसी फेर में हूं। आखिर इनकी सब बातों का मतलब क्या है ? पहले कहा, बिहारी पण्डित आपकी प्रशंसा करने लगे। इस आदमी को मैं निशाचर तो नहीं कह सकता, पर गोस्वामी तुलसीदासजी की यह चौपाई इन पर घटित खूब होती है—जानि न जाय निशाचर माया।'

पण्डित सलोनेलाल ने उत्तर दिया—"अब इस बात को इस समय जाने दो सोने। और शिकायत भला मैं तुमसे क्या करूंगा ! जो भाग्य में था, वह मिल गया। मेरा मतलब तुम अभी समझ नहीं पाओगे। कभी मैं स्वयं तुम्हें बताऊंगा।"

थोड़ी देर में स्टेशन आ गया। प्लेटफार्म पर पहुंचते-पहुंचते सिगनल डाउन हो गया। थोड़ी देर में गाड़ी भी आ गई। बारात सुभीते से चढ़ गई और सामान भी जैसे-तैसे गाड़ीवानों ने मिलकर रखवा दिया।

इतने में सोने पण्डित ने ब्रजमोहन से आकर कहा—"आपकी कोई विशेष सेवा नहीं हो सकी। इसी बात का मुझको बारम्बार खयाल आ रहा है।"

ब्रजमोहन ने पूछा—"आप तो साथ चल रहे हैं न ?"

सोने पंडित ने उत्तर दिया—"नहीं, मैं तो आप लोगों को भेजने आया था। अब मैं दो-एक दिन बाद आऊंगा। मुझे शिवमोहन से भी कुछ बातें करनी हैं ? आप तो अभी वहां रहेंगे न ?"

ब्रजमोहन फिर दुविधा में पड़ गया—'मेरा कार्यक्रम ये क्यों जानना चाहते

हैं ? और भैया से भी इनको क्यों मिलना है ?'

पर इस बार साहस करके वह पूछ ही बैठा—"सच-सच बतलाइए पंडितजी महाराज, देवतास्वरूप, इन तीन-चार दिनों से जो कुछ मैं देख रहा हूं, सुन रहा हूं, यह सब क्या है ?"

सोने पण्डित हंस पड़े और दायें हाथ की तर्जनी से अपनी मक्खी-मूंछ को कुरेदते हुए बोले—"सब मालूम हो जाएगा।"

गाड़ी जब चल पड़ी तब भी सोने पण्डित गाड़ी के साथ-साथ प्लेटफार्म पर चलते हुए बोले—"पर आपने बताया नहीं कि इन दिनों आपका चित्त प्रसन्न तो रहा ?"

विवश ब्रजमोहन के मुंह से निकल गया—"कैसे कहूं कि चित प्रसन्न नहीं रहा। लेकिन आप हैं खूब ! मैं आपको मान गया, अच्छा नमस्कार।"

सोने पण्डित अब हट गए।

गाड़ी कुछ तेज़ हो गई।

चौथे दिन सोने पण्डित ने जब हरिमोहन के घर में प्रवेश किया, तो सामने ही उनको एक गैया बछड़े को दूध पिलाती देख पड़ी। तुरन्त उनके मुंह से निकल गया—"चलो, आते ही शकुन तो हुआ।"

ब्रजमोहन की मां उस समय तुलसी के घरुए में सूर्याञ्जलि दे रही थीं। शिवमोहन का बच्चा रामू किताब सामने रखे पढ़ रहा था—"त में आ की मात्रा ता और न=तान"। गुनगुनाते हुए शिवमोहन बाबू अपने कमरे में बैठे, ट्रंक खोले हुए, कपड़े संभाल रहे थे। एकाएक जो सोने पण्डित को देखा तो बोले—"आओ, आओ सोने।"

सोने पण्डित ने आगे बढ़कर शिवमोहन के चरण स्पर्श कर लिए। खड़ी चारपाई के ऊपर एक पुरानी दरी पड़ी हुई थी; आशीर्वाद-कथन के साथ उसीको हाथ बढ़ाकर, खींचकर पास ही बिछा दिया। तब सोने पण्डित उसीपर बैठ गए। तब तक शिवमोहन की माता निकट आकर खड़ी हो गईं। बोलीं—"क्या कर आए सोने बेटा ?"

सोने पण्डित ने उनके भी चरण छू लिए, फिर उत्तर दिया—"जो करना था, सो कर आए। वैसे तो बिहारी पण्डित की हालत बहुत अच्छी थी, पर पिछले वर्ष

उनके यहां डाका पड़ गया। इसलिए मिलना-मिलाना तो वाजिबी-वाजिबो ही होगा। मगर लड़की स्वभाव की बहुत भली है और सुन्दरी तो हज़ारों में एक है। यह बात हम पहले भी कह चुके हैं।"

शिवमोहन की मां ने कह दिया—"बिरजू को पसन्द आए तब जानो।"

सोने पण्डित मुस्कराने लगे। बोले—"अब चाची, तुमको क्या बताएं। हमने दोनों को आमने-सामने कर दिया और एक-दूसरे से परिचय भी करवा दिया।"

शिवमोहन ने पूछा—"मगर अब तक उसका कोई पत्र नहीं आया मेरे पास !"

सोने पण्डित बोले—"पत्र भी आता होगा, घबराओ नहीं।"

तब तक शिवमोहन की मां बोल उठीं—"और लेन-देन के विषय में कुछ बात नहीं हुई ?"

सोने पण्डित ने उत्तर दिया—"तय तो तुम्हीं करोगी चाची। बिरजू का पत्र आ जाए और तुम्हारे मन को सन्तोष हो जाए, तो अगहन मास में राजकिशोर बाबू को बुला लिया जाएगा।"

शिवमोहन की मां ने पूछा—"राजकिशोर बाबू कौन ?"

सोने पण्डित बोले—"लड़की के भाई दरोगाजी।"

शिवमोहन की मां के मुंह से निकल गया—"ठीक, है, ठीक है। जब लड़की का भाई दरोगा है, तो कहां तक न देंगे !"

इधर ये बातें हो ही रही थीं कि शिवमोहन की दुलहिन ने एक गिलास में गरम-गरम दूध, लोटे में पानी, कटोरी में लौकी की बर्फी, तश्तरी में पान और ज़र्दा दो बार में सोने पण्डित के सामने लाकर रख दिया। देखते ही सोने पण्डित की तबियत हरी हो गई। बोले—"वाह ! क्या जोड़ मिला है ! उधर राजकिशोर की दुलहिन हैं, इधर भाभी। अरे जाती कहां हो ?" फिर उनकी ओर देखकर बोले—"ठहरो, ठहरो, पैर तो छू लूं।" भाभी के नाते शिवमोहन की दुलहिन के चरणों का भी स्पर्श कर लिया। तब मन ही मन संकुचित, प्रकट में मुस्कराती हुई शिवमोहन की दुलहिन चली गई और मां-बेटे मिलकर सोने पण्डित से बातें करने लगे।

चाची बोलीं—"लेन-देन की कुछ बातें तो हुई ही होंगी ?"

सोने पण्डित ने जवाब दिया— "बातें बहुत हुईं। सबका सार यह है कि भले घर की बात ही और होती है। तुमको चिन्ता इस बात की है कि ब्याह का खर्चा तो निकल आए और उनको इस बात की कि हमारे घर, द्वार और बरात की शोभा के अनुरूप बात निभ जाए। ऐसा तो होने नहीं पाएगा कि नेग-जोग में कोई अंग सूना रह जाए और ऐसा भी नहीं होगा कि जो चीज़ें मिलें वे देखने में हल्की जान पड़ें। फिर कुछ भी हो, राजकिशोर ठहरे दरोगाजी और बिहारी पण्डित पुराने ज़मींदार। व्यवहार में क्या नहीं आएगा! चाची, बुरा न मानना। मूल बात होती है उत्तम सम्बन्ध होना, और जब ऐसा संयोग मिल जाता है, तब वास्तव में दहेज तय करने में न कोई शोभा बढ़ती है, न उत्साह रहता है और कभी-कभी तो उतना ही मिलता है जितना तय होता है। बोलो, शिवमोन भइया। गलत तो नहीं कह रहा हूं?"

कथन के साथ सोने पण्डित पहले मिठाई का एक टुकड़ा मुंह में डाल लेते और फिर ऊपर से दूध के दो-चार घूंट गले के नीचे उतार जाते।

शिवमोहन ने उत्तर दिया—"लेने-देने की मुझे उतनी फिकर नहीं है जितनी बिरजू के सन्तोष की।"

सोने पण्डित ने उत्तर दिया—"सन्तोष की स्थिति तो अभी से यह है कि बिरजू बाबू का जी वहां से हटने को हो नहीं रहा था। कुछ अवसर ही ऐसा आ गया कि हमने समधी और बिरजू दोनों को बिहारी पण्डित के घर में ही ठहरा दिया था।"

सामने के दांतों से हीन शिवमोहन की मां हंस पड़ीं; और वृद्धावस्था के दंतहीन हास्य की क्या बात है! बोलीं "तो यह क्यों नहीं कहते कि ब्याह से पहले ही बिरजू को सुसराल दिखला दी।"

"केवल दिखला ही नहीं दी, इतना प्रेम उत्पन्न कर दिया है कि बिरजू अपनी सरहज के पास बैठकर जलपान के प्रसंग में आध-आध घण्टा प्रसन्नमन बातें करते रहते थे।"

शिवमोहन की मां ने कह दिया—"चलो, मेरा मन भर गया। बिरजू अगर प्रसन्न रहेगा तो फिर मुझे कोई शिकायत नहीं रहेगी।" और शिवमोहन बोल उठे—"मैं तो समझता हूं कि यह सम्बन्ध सबसे उत्तम रहेगा।"

अब सोने पण्डित की बारी थी। बोले—"मैं जिस काम में हाथ डालता हूं,

भगवान की दया से, उसमें दोनों पक्ष सन्तुष्ट रहते हैं। यही मेरे जीवन का नशा है।"

शिवमोहन की मां उठती हुई बोलीं—"आज सोने बेटा के लिए खीर बनाना दुलहिन। उसने मेरा मन मीठा किया है, मैं उसका मुंह मीठा करूंगी।"

सोने पण्डित हंसने लगे।

दो घण्टे बाद शिवमोहन किसी काम से बाहर गए थे तो वहां पोस्टमैन ने उनके हाथ में एक पत्र दे दिया। उसमें ब्रजमोहन ने लिखा था—"पूज्य बाबू, मैं माधुरी के विवाह से लौट आया। सब काम राज़ी-खुशी के साथ निबट गया। टीका के दिन मेरे पैर में ज़रा मोच आ गई थी। पर वहां का प्रबन्ध बड़ा उत्तम था। एक बुड्ढे नाई को मौसिया ने मालिश के लिए भेज दिया था, जो वास्तव में बड़ा अनुभवी था। मोच उसी रात को बहुत कुछ ठीक हो गई थी। दूसरे दिन ही मैं चलने-फिरने लगा था। मगर यह रहस्य बहुत बाद में खुला कि भैया ने इस निमन्त्रण में सम्मिलित होने के लिए ठेल-ठालकर मुझे ही क्यों भेजा। चलो, सब ठीक ही हुआ। वे जो कुछ सोच रहे हैं, मैं उसे भगवान की देन समझता हूं। ऐसे अवसर पर बाबू-अम्मा दोनों का आशीर्वाद लेने के लिए मैं घर आना तो चाहता था, पर छुट्टी समाप्त हो जाने के कारण नहीं आ सका।

"सोने पण्डित मुझे स्टेशन पर ही मिल गए थे। बड़े ही व्यावहारिक और नीति-निपुण व्यक्ति हैं। ऐसी वक्तृत्वकला अगर भगवान मुझको भी दे दे, तो मैं बहुत उन्नति कर सकता हूं। सम्भव है वे आ भी गए हों। हमारे यहां भी एक दिन के लिए ज़रूर आएं, उनसे कह देना। आजकल यहां पानी बहुत बरस रहा है। हवा चलती है तो अण्डी की चादर और स्वेटर की याद आ जाती है। पण्डितजी को ही दे दीजिएगा। जब इधर आने लगें, तो सग्गड़ में छोटी पिपिया में दो-ढाई सेर घी रखवा देना। जो आदमी सवारी ले जाएगा, अन्य सामान के साथ उस पिपिया को भी रखता हुआ कह देगा—कृपा करके इसको भी लेते जाइए।

"आज बृहस्पतिवार है और यह पत्र आपको शनिवार को मिलेगा। अच्छा हो कि वे रविवार को शटल से आ जाएं। शाकाहारी भोजनालय और जलपान-गृह के पास में मैं उन्हें मिल जाऊंगा। अगर बाहर मैं न देख पड़ूं तो भीतर मुझे देख लें। बाबू के लिए मैंने एक बहुत बढ़िया छड़ी खरीदी है। शनिवार के दिन अगर रमेश घर आया तो उसके हाथ भेज दूंगा। चन्द बाबू का समाचार इधर बहुत दिनों से

नहीं मिल रहा है, और सब ठीक है।—चरण-सेवक, बिरजू।"

शिवमोहन ने जब यह पत्र मां को सुनाया तो उन्होंने हंसते-हंसते कह दिया—"सुना सोने बेटा, बिरजू ने तुम्हारी कैसी प्रशंसा की है !"

उस समय सोने पण्डित खीर सपोट रहे थे। मुस्कराते हुए बोले—"मैं ज़रूर बिरजू से मिलूंगा। कहूंगा, मेरी भी कहीं नौकरी लगा दें।"

शिवमोहन ने उत्तर दिया—"अब तक गांव के दस-पांच लड़कों को नौकरी या किसी न किसी धन्धे में लगा चुका है। फिर तुम्हारे लिए क्या नहीं करेगा!"

इधर ये बातें हो रही थीं कि हरिमोहन बाबू ने अन्दर प्रवेश करते हुए कहा—"लो, जिसकी चिट्ठी पढ़ रही हो वह स्वयं आ पहुंचा।"

सब लोग आश्चर्यचकित हो उठे।

ब्रजमोहन शिवमहोन के पैर छू रहा था, तभी शिवमोहन ने प्रश्न कर दिया—"क्या, कोई खास बात है ?"

ब्रजमोहन ने उत्तर दिया—"खास बात क्या होगी ! मेरा काम ही है इन्स-पेक्शन करना। इटावा जा रहा हूं। एक सेठ को गिरफ्तार करवाने की तैयारी हो रही है।"

मां बोल उठीं—"हाय यह तो बड़ा बुरा काम है।"

ब्रजमोहन ने उत्तर दिया—"और सरकार को धोखा देना कोई अच्छा काम है ?"

सोने पण्डित भोजन कर चुके थे। आचमन करके मुंह पोंछते हुए बोले—"बिरजू बाबू चाहें तो इस मामले में अधिक नहीं तो दो हज़ार रुपया तो बना ही सकते हैं।"

ब्रजमोहन ने मुस्कराते हुए उत्तर दिया—"फिर इसी तरह एक दिन कोई मुझे भी गिरफ्तार करा देगा। तब जेल की चक्की कौन पीसेगा ?"

मां बोल उठीं—"बिरजू, तुम ऐसा काम कभी न करना। राम, राम ! मुझे ऐसा पैसा नहीं चाहिए।"

मुस्कराते हुए ब्रजमोहन ने उत्तर दिया—"एक दूत मेरे पास आया भी था। हाथ उठाकर पंजा दिखला रहा था। मगर मैंने हुश् कर दिया।"

मां हर्ष-विह्वल होकर बोल उठीं—"पांच हजार !"

सोने पण्डित ने कह दिया—"खाने वाले खाते हैं और जीवन-भर खाते रहते

हैं। कोई उनका रोआं नहीं छू पाता।"

ब्रजमोहन ने उत्तर दिया—"आप कहते हैं रोआं छू नहीं पाता, मारे जूतों के चांद गंजी कर दी जाती है। हवालात के भीतर जाते ही छठी का दूध याद आ जाता है। जब तक ज़मानत होती है, तब तक सिर के बाल झड़ जाते हैं।"

अब सोने पण्डित चुप रह गए और शिवमोहन बोले—"ये बातें होती रहेंगी। अब झट से नहा डालो तुम।"

सोने पण्डित से बिना बोले न रहा गया। बोले—"यह तो एक पक्ष की बात हुई; लेकिन बिरजू, तुम्हें यह मानना पड़ेगा कि उच्च स्तर के अधिकारी लोग कहीं-कहीं बड़ी-बड़ी रकमें हज़म कर जाते हैं और किसीको पता नहीं लग पाता, और जब लोगों की नियुक्ति का अवसर आता है, तब योग्य से योग्य व्यक्ति सम्पर्क और सिफारिश के अभाव में पड़े रह जाते हैं और योग्यता में हीन किन्तु नाते-रिश्ते में उन अधिकारियों के बेटे, भतीजे, दामाद, साले और साले के साले होने के कारण ऐन वक्त पर तार देकर इण्टरव्यू में बुला लिए जाते हैं। हृदय पर हाथ रखकर कहो, ऐसा नहीं होता है?"

ब्रजमोहन ने उत्तर दिया—"यह मनुष्य की जन्मजात दुर्बलता है और थोड़ी-बहुत मात्रा में सदा रही है। भगवान राम और कृष्ण के युग में रही है। आप ही का अगर भइया के साथ कोई सम्बन्ध न होता, तो वे माधुरी के इस विवाह में सम्मिलित होने के लिए मुझपर कदापि दबाव न डालते।"

इतने में शिवमोहन बोल उठे—"तुम नहाने जाओगे कि बहस करोगे?"

सोने पंडित सोच रहे थे, बड़ा अच्छा हुआ जो शिवमोहन ने मेरी लाज रख ली, इस समय बात आगे न बढ़ने दी।

कई वर्ष की बात हुई, उन्होंने एक बार शिवमोहन से पचास रुपये लिए थे जो अबतक वापस न कर पाए थे और सोने पंडित डर रहे थे कि कहीं ऐसा न हो कि मुंदी-झंपी मेरी जो थोड़ी-सी प्रतिष्ठा है वह भी समाप्त हो जाए।

ब्रजमोहन नहाने जा रहा था।

माधुरी के विवाह में बहुत-सी विवाह-सामग्री की खरीदारी में सोने पंडित के हाथ सौ सवा सौ रुपये लग गए थे। उस समय भी यह रकम उनकी मुर्री में खुंसी हुई थी। अतः सोने पंडित प्रतिक्रियावश वही पचास रुपये शिवमोहन को देने लगे।

अब बाहर आंगन में ब्रजमोहन स्नान कर रहा था और भीतर से शिवमोहन

का स्वर बाहर आता हुआ सुनाई पड़ रहा था—"फिर दे देना, फिर दे देना। ऐसी जल्दी क्या है ?"

ब्रजमोहन सोचने लगा—'ऐसे ही व्यक्ति सदा घूसखोरी का समर्थन करते हैं। बचाओ भगवान ऐसे लोगों से !…मगर फिर क्या किया जाए ! ऐसा युग आ गया है कि काम ऐसे ही लोगों से चलता है। मेरी जगह पर यदि आज विजय होता, तो राजेश्वरी के साथ होने वाले सम्बन्ध की प्रामाणिकता पर भी सन्देह किए बिना न मानता।'

१७

विवाह तय होने में कोई कठिनाई नहीं हुई। सोने पंडित ने दोनों पक्षों का मन पहले से ही अनुकूल बना रखा था। जहां उन्होंने शिवमोहन और उनकी मां से यह कह दिया था कि दहेज में प्राप्ति की विशेष आशा न करें, वहीं उन्होंने राजकिशोर बाबू से कह दिया—"मेरी लाज आपके हाथ है। राजेश्वरी का विवाह तो हो ही जाएगा और सम्बन्ध स्थापित हो जाने के बाद आप लोग भी एक हो जाएंगे, लेकिन अगर कहीं से भी कोई कोर-कसर रह गई, तो फिर मैं तो शिवमोहन बाबू के सामने मुंह दिखाने योग्य न रहूंगा।"

बिहारी पंडित ने विवाह खूब धूम के साथ किया। गांव के लोग यह देखकर आश्चर्य में पड़ गए कि पारसाल इनपर डाका पड़ा और इस साल इन्होंने राजेश्वरी का विवाह कर लिया। ऐसे होते हैं खानदानी रईस।

सबसे अधिक ईर्ष्या हुई ठाकुर गेंदासिंह को। वे सोचने लगे—'रस्सी जल गई, मगर ऐंठ न गई। यह आदमी मेरी परवा अब भी नहीं करता। अच्छी बात है—मेरे रहते राजेश्वरी का विवाह सकुशल हो जाए, तो मेरे जीवन को धिक्कार है।'

उस समय कमरे में कोई न था। कमर के पीछे हाथ बांधे हुए गेंदासिंह चुप-चाप इधर से उधर टहल रहे थे। कोई युक्ति समझ में नहीं आ रही थी। एकाएक

ध्यान आया, 'ऐसे कामों में चन्द्रमा लाला का मस्तिष्क बड़ा काम देता है।'

दुपहर लौट चुकी थी और सोल्हर बैलों को पानी दिखाकर स्वयं नहाने जा रहा था। इतने में गेंदासिंह ने कह दिया—"अरे सोल्हरवा, ज़रा चन्द्रमा लाला को देख, घर में हैं या नहीं। अगर हों तो कहना, याद किया है।"

सोल्हर चला गया।

थोड़ी देर में लाला चन्द्रमाप्रसाद ढीली धोती, सो भी मैली, नंगे सिर, नंगे पैर, बदन में एक बहुत साधारण किन्तु कुछ उजली बनियान डाले हुए सामने आ पहुंचे। गेंदासिंह ने पहले द्वार पर पड़े हुए पदमार्जक की ओर संकेत कर पैर स्वच्छ कर लेने का आग्रह किया, फिर उनका हाथ पकड़कर अपने गद्देदार पलंग पर बैठा लिया।

चन्द्रमा लाला ने बहुत नाहीं-नूंहीं की, कहा—"अरे ठाकुर साहब, मैं भला आपके बराबर बैठने योग्य हूं!" पर ठाकुर गेंदासिंह ने एक न मानी। बोले—"वाह! बुद्धिमान और विद्वान आदमी को मैं कभी छोटा नहीं समझता!"

चन्द्रमा लाला की बाछें खिल गईं। बोले—"इसलिए तो मैं डंका पीट-पीटकर घोषणा किया करता हूं कि ठाकुर गेंदासिंह का जोड़ नहीं है।"

ठाकुर साहब बोले—"देखो चन्द्रमा, स्वयं आदमी अपने में कुछ नहीं होता जब चार आदमी उसके सहायक और समर्थक बन जाते हैं, बस तभी वह बड़ा बन जाता है। मुझको अगर तुम्हारा बल न प्राप्त होता, तो मुझे इस गांव में कौन पूछता?"

चन्द्रमा लाला बोले—"बस, एक तुम हो इस गांव में, जो मुझे ठीक-ठीक पहचान सके हो। नहीं तो संसार की दृष्टि में तो मैं एक अदना आदमी हूं। खैर, छोड़ो इस बहस को। अब बोलो, मेरे योग्य कोई सेवा?"

ठाकुर साहब बोले—"सेवा भला मैं क्या तुमसे लूंगा! यों ही कुछ सलाह: बात के लिए बुला लिया है। मगर पहले यह बताओ, खाना खा चुके?"

चन्द्रमा लाला ने अटकते हुए उत्तर दिया—"खाना! हां खाना···मैं···बस खिचड़ी डालने जा ही रहा था कि तब तक सोल्हर आ पहुंचा।"

आषाढ़ का महीना था ही। बेटी ससुराल से अभी कल ही आई थी। झट दरवाज़े की कुण्डी खटखटाने लगे। क्षण-भर बाद भीतर से यमुना आ पहुंची। बोली—"क्या है दादा?"

ठाकुर साहब ने खिड़की के बाहर मुंह निकालकर इतने धीरे से कहा कि आवाज़ बाहर न होने पाए—"पूरियां तो अभी रखी होंगी ?"

यमुना ने उत्तर दिया—"हां, रखी तो हैं।"

"और साग जो आज बना था ?"

"वह भी कुछ बचा रखा है।"

"तो फिर एक थाली में लगाकर ले आओ, और देखो, मीठा अचार भी थोड़-सा रख लेना।"

दो मिनट बाद जब थाली चन्द्रमा लाला के सामने आ गई, तो वे प्रसन्नता से पुलकित हो उठे।

चन्द्रमा लाला फर्श पर ही बैठकर यमुना की ससुराल से आई बासी पूरियां किन्तु मुलायम एक पर एक गले के भीतर सरकाने लगे।

अभी दो-तीन पूरियां ही वे उदरस्थ कर पाए थे कि ठाकुर साहब मूल विषय पर आने के लिए उतावले हो उठे। बाहरी किवाड़ उन्होंने बन्द कर लिए और जो खिड़की मकान के आंगन की ओर खुलती थी, उसे खोल लिया। उसके बाद वे थोड़े अन्तर से चन्द्रमा के बगल में बैठ गए और बोले—"राजेश्वरी का विवाह तो हो गया।"

चन्द्रमा लाला ने सिर ऊंचा कर ठाकुर साहब की आंखों में आंखें मिलाकर उत्तर दिया—"हां, हो गया और कहना चाहिए कि शान के साथ हो गया। किसीको ऐसी आशा न थी। पारसाल जिसके यहां डाका पड़ा हो, इसी साल वह आदमी अपनी बेटी का ऐसा विवाह कर दे—देखना दूर रहा, मैंने तो ऐसा कहीं सुना भी नहीं। सचमुच बिहारी पंडित ने बड़ी बहादुरी का काम किया है।"

ठाकुर साहब की मनःस्थिति अब उस स्तर पर पहुंच गई थी कि बिहारी पंडित की प्रशंसा का एक भी शब्द उन्हें सहन न होता था। चन्द्रमा लाला इस बात को जानते थे।

ठाकुर साहब के नथुने फड़क उठे। बोले—"कुछ बहादुरी डाका पड़ने पर दिखलाई थी, कुछ अब दिखलाई है। खैर, पहले यह बतलाओ, कुछ पता चला, रुपये का प्रबन्ध कहां से हुआ ?"

चन्द्रमा लाला बोले—"मुझे तो नहीं मालूम हुआ। कहीं कोई बात ही नहीं सुनाई पड़ी।"

"तो फिर दरोगा साहब ने कहीं से रकम उड़ाई होगी।"

"मुझे भी ऐसा ही जान पड़ता है। या यह भी हो सकता है कि बहिन के यहां से कुछ प्रबन्ध किया हो। दस-पांच बीघे जमीन बेची हो।"

"मगर इन सब बातों का पता तो बाद में चलता है।···खैर, यह बताओ, तुम्हारे घर निमन्त्रण आया था ?"

"आया था। कैसे कहूं कि नहीं आया था !"

"गए थे निमन्त्रण में ?"

"गया भी था। बहुत उत्तम प्रबन्ध था। सब चीजें देसी घी की बनी हुई थीं। सोंठ की चटनी तो कमाल की थी। मिठाइयां भी चार प्रकार की थीं।" चन्द्रमा लाला को इस समय बिहारी पण्डित की प्रशंसा करने में बड़ा रस मिल रहा था।

"माना कि सब ठीक हुआ, लेकिन अगर उन्होंने रुपये का प्रबन्ध कहीं बाहर से किया है तो यह बात हमारे गांव के लिए बहुत बड़े अपमान की हुई है। माना कि वे दूसरे दल के आदमी हैं, मगर काम-काज में तो हम सब एक हो जाते हैं। आपको मालूम है, ऐसे समय मन-मुटाव को हम लोग ताक में रख देते हैं। यह भी माना कि हम गैर थे, पर शिवनारायण तो उनके खानदानी थे और मुरारी से तो उनकी दांत-काटी रोटी थी। उन्हींसे सहायता ली होती !"

चन्द्रमा लाला समझ गए कि ठाकुर साहब की इन बातों का क्या मतलब है। अतः बोले—"ऐसी बातें तो हुआ ही करती हैं। मूल बात पर आ जाइए, साफ-साफ बताइए कि आप चाहते क्या हैं ?"

ठाकुर साहब की भौंहें तन गईं। बोले—"ऊंह ! छोड़ो इस बात को कि मैं क्या चाहता हूं। मैं केवल एक प्रश्न तुमसे करता हूं कि जब उनके यहां डाका पड़ा तो डाके वाले लोग क्या उनके घर के अन्दर नहीं घुस आए थे ? और क्या यह बात तुमसे छिपी है कि उनमें से किसी एक ने राजेश्वरी का धर्म ले लिया था!"

चन्द्रमा लाला विचार में पड़ गए।

तब अवसर देखकर गेंदासिंह बोले—"सच पूछो तो इन लोगों ने हरिमोहन बाबू की आंखों में धूल झोंककर यह ब्याह किया है।"

जिस समय ठाकुर साहब ये बातें कर रहे थे, उसी समय चन्दनियां अन्दर से लौट रही थी। क्षण-भर के लिए वह मार्ग की बन्द खिड़की के पास खड़ी हो, किवाड़ों की सांस पर कान लगाकर सुनने लगी कि देखें ठाकुर साहब किसपर

बिगड़ रहे हैं।

ठाकुर साहब कह रहे थे—"अब मैं तुम्हींसे पूछ रहा हूं कि जब लड़का ये बातें सुनेगा, तो उसके दिल पर क्या बीतेगी? हरिमोहन बाबू तो कहीं मुंह दिखाने के योग्य न रह जाएंगे। आश्चर्य नहीं कि आत्मघात कर लें। और मान लो, कहीं ऐसा हो गया तो इनका पाप किसके ऊपर पड़ेगा? बोलो, बोलो, जवाब दो।"

इतनी बात सुनकर चन्दनियां झट बाहर चल दी। कड़ों के कारण पैर जल्दी नहीं उठ रहे थे, फिर भी वह दौड़ी जा रही थी।

चन्द्रमा लाला धीरे से बोले—"ठाकुर साहब, बात तो आप सही कह रहे हैं। मगर इस विषय में हम लोग कर ही क्या सकते हैं?"

ठाकुर साहब सोचने लगे—"जिस आदमी का मैंने इतना भरोसा किया था, आज उस आदमी का स्वर ही कुछ बदला हुआ है। अब क्या किया जाए?"

तब उन्होंने तुरन्त उठकर अलमारी खोली और दो-दो रुपये वाले नये दस नोट निकालकर अण्टी में कर लिए।

चन्द्रमा लाला भोजन कर चुके थे। आचमन के बाद धोती से मुंह पोंछते हुए ज्योंही सामने हुए, त्योंही ठाकुर साहब ने कह दिया—"मैं बहुत दिनों से देख रहा था कि तुम्हारी हालत दिन पर दिन खराब होती जा रही है, धोती-कुर्त्ता तो तुम्हारे पास कभी साफ रहता ही नहीं।"

चन्द्रमा लाला ने प्रसन्नता से विह्वल हो करके मन ही मन कह दिया—'मैं इसी क्षण की प्रतीक्षा में था।' फिर प्रकट में बोले—"आप आदमी नहीं, देवता हैं ठाकुर साहब।"

ठाकुर साहब ने बीस रुपये चन्द्रमा लाला के सामने कर लिए और कहा—"लो, हमारे रहते कभी ऐसी तकलीफ मत सहा करो," और पनडब्बा उठाकर उन्हें पान दे दिए।

चन्द्रमा लाला एक ही पान ले रहे थे।

ठाकुर साहब बोले—"दोनों ले लो, दोनों। मनुष्य मर जाता है पर मनुष्यता कभी नहीं मरती। मरणोपरान्त यही बातें शेष रह जाती हैं।"

अब चन्द्रमा लाला अपने वास्तविक रूप में आकर बोले—"मगर आपने यह नहीं बतलाया कि इस मामले में अब होना क्या चाहिए?"

ठाकुर साहब उनके कान के पास मुंह ले जाकर बोले—"क्या तुमसे इतना

भी नहीं हो सकता कि डाके के समय राजेश्वरी के धर्मभ्रष्ट होने की बात तुम हरिमोहन बाबू के कान में डाल सको ? और अगर इतना भी नहीं कर सकते तो मैं कहूंगा कि तुम इतने कायर और बुज़दिल हो कि तुमसे किसीको कोई आशा नहीं रखनी चाहिए।"

विवर्णमुख चन्द्रमाप्रसाद ने उत्तर दिया—"अच्छी बात है ठाकुर साहब, मैंने आपका नमक खाया है, इसलिए मैं आपकी कोई बात टाल नहीं सकता।"

अब पांच बज रहे थे। हरिमोहन की बरात के जनवासे में ज्योतिनी की तैयारियां हो रही थीं और चन्द्रमा लाला एक पायजामा और कुर्ते के फेर में अपने वंशज भतीजों और पोतों के यहां चक्कर लगा रहे थे।

ज्योतिनी में दोनों पक्षों में शिष्टाचार चल रहा था। आचार्य और पण्डितवर्ग के लोग दोनों पक्षों के लिए ऐसा स्तुति-पाठ कर रहे थे कि सुनकर श्रोतागण का रोम-रोम गंगा नहा रहा था। बिना गया गए हुए उनके पुरखे तरे जा रहे थे। वरपक्ष वाले आचार्यजी कह रहे थे कि धन में आप कुबेर हैं, विद्या में वेद-व्यास, ऐश्वर्य में इन्द्र, रूप में साक्षात् कामदेव, वीरता में अर्जुन आपके सामने तुच्छ हैं। तेज और तप में सूर्य आपको देखकर संकुचित हो उठता है, मर्यादा में तो आप रत्नाकर से भी अधिक हैं। उसके किसी-किसी भाग में ज्वारभाटा भी आ जाता है पर···

फिर तभी चन्द्रमा लाला एक ओर इस प्रतीक्षा में खड़े हुए थे कि हरिमोहन पण्डित कब उठें और बस उनसे बात करने का अवसर मिले।

थोड़ी देर में जब ज्योतिनी का कार्य सम्पन्न हो गया और ब्रजमोहन कई बालकों के साथ पालकी पर चढ़कर कलेवा को जाने लगा और समाज के लोग भी उठने लगे, तब हरिमोहन पण्डित भी उठकर समाज से बाहर आ गए। उस समय बिहारी पण्डित के पक्ष के लोग वापस जा रहे थे।

चन्द्रमा लाला ने पण्डित हरिमोहन के पास आकर धीरे से कह दिया—"महाराज, मुझे आपसे कुछ बात करनी है।"

हरिमोहन ने आश्चर्य के साथ उत्तर दिया—"आप कौन हैं ? मैं आपको पहचानता नहीं। पहले अपना परिचय दीजिए।"

चन्द्रमा लाला ने उत्तर दिया—"मैं इस गांव का निवासी हूं और मेरा नाम

चन्द्रमाप्रसाद है।" और भीड़-भाड़ से अलग ले जाकर उन्होंने कह दिया—"मैं केवल आपको यह बताने आया हूं कि जिस लड़की को आपने बहू बनाया है, आपको मालूम है वह इलाहाबाद में पढ़ती थी; वहां उसके साथ एक लड़के से लाग-डांट चल रही थी। जब वह किसी तरह उसके पंजे में न आई, यहां तक कि एक अवसर पर उसने उसे झिड़क भी दिया, तो उस लड़के का क्रोध भड़क उठा। परिणाम यह हुआ कि उसने अपने साथियों को मिलाकर बिहारी पंडित के यहां डाका डाला। कहते हैं कि उस अवसर पर उस लड़के ने राजेश्वरी की लाज लूट ली। उसके बाद बिहारी पंडित और दरोगाजी ने, जो उनके लड़के हैं, राजेश्वरी का विवाह तुरन्त कर देने की चेष्टा की; मगर गांव में इतनी बदनामी फैल गई थी कि बात छिपी न रह सकी, और कई सम्बन्ध तय होते-होते रुक गए। बस, यही बात कहने के लिए मैंने आपको कष्ट दिया।"

इतना कहकर लाला चन्द्रमाप्रसाद तुरन्त चल दिए।

हरिमोहन पण्डित एक दम से हक्के-बक्के रह गए। उनके सामने अंधेरा छा गया। किसी तरह कमरे में आकर उदास-उदास तकिए के सहारे लुढ़क गए।

थोड़ी देर में जब शिवमोहन आ पहुंचे, तब उन्होंने पिता को उदास देखकर पूछा—"बाबू, कैसा जी है ? कुछ तबियत खराब है ?"

उस समय झुटपुटा हो रहा था। जनवासे से मैं पेट्रोमैक्स जलाए जा रहे थे। इतने में हरिमोहन पण्डित लोटा हाथ में लेकर उत्तर दिशा की ओर चल दिए। गांव से लगा हुआ एक बाग था और बाग के उस पार खेत। हरिमोहन अभी बाग के किनारे तक ही आए थे कि चन्द्रमा लाला उनके पीछे हो लिए। थोड़ी देर में बराबर पर आते ही उन्होंने कह दिया—"पांय लागन महाराज !"

आशीर्वाद देते हुए हरिमोहन ने उत्तर दिया—"सुखी रहो !" फिर उसके सिर से पैर तक एक बार देखा और उत्सुकता के साथ बोले—"भैया, मैंने आपको पहचाना नहीं।"

"हूं-हूं ! मैं ऐसा आदमी नहीं हूं कि आपको ऐसे समय मेरा स्मरण आता। हालांकि व्यावहारिक कार्य ऐसे होते हैं कि दीपक के नीचे रहने वाले अंधेरे का खयाल रखना ही पड़ता है।·· और पहचानने के लिए तो आपको अवसर था, बात थी। आपके यहां जो तहसीलदार साहब हैं, ज्ञानस्वरूप बाबू, हमारे बड़े लड़के

के साले होते हैं। आपसे किसीने बताया नहीं ?"

"तब तो आप खास आदमी हैं और बड़ा अच्छा हुआ कि आपसे परिचय हो गया। आपसे तो बड़ा काम निकल सकता है।"

"हांऽ," सिर हिलाते हुए चन्द्रमा लाला बोलने लगे—"हमारे लायक कोई सेवा हो तो आप निःसंकोच आज्ञा कीजिएगा।"

"अवश्य-अवश्य साहब, ऐसी क्या बात है ! आप जैसे लोगों से परिचय बड़े भाग्य से होता है। हां, अभी-अभी जो आपने बात कही, माफ कीजिएगा, मेरी समझ में पाई-भर भी नहीं आई।"

"हंऽ-हंऽ-हां ! ठीक है, जो कुछ हो गया सो हो गया। और फिर लड़की वाला काम है। कहने वालों के हजार मुंह होते हैं और सुनने वालों के दो कान। किसकी बात का विश्वास किया जाए, बताइए !" चन्द्रमा लाला ने ऐसे ढंग से कहा की हरिमोहन बाबू के मन में आशंकाओं के ज्वार उठने लगे।

चन्द्रमा लाला बोलते गए—"चलिए, चलिए, वह सामने तालाब और शिवजी का मन्दिर है। बड़ा सुरम्य स्थान है। आप तो उधर जाते ही होंगे !"

"हां ! एकाध बार गया हूं। अच्छा स्थान है। मगर आपने तो मेरी उत्सुकता और बढ़ाई। क्या हमारे इस सम्बन्ध में कोई गड़बड़ हुई जा रही है, जिसका हमको ज्ञान नहीं है ?"

"हंऽ-हंऽ! पण्डितजी महाराज! अब ऐसे ही रहने दीजिए। गांव वाली बात ठहरी और फिर आप भी अपने हैं। यह जांघ खोलो तो लाज और वह जांघ खोलो तो लाज।" इतने में मन्दिर आ गया और हरिमोहन बाबू सीढ़ियां चढ़ने लगे।

इसी समय चन्द्रमा लाला बोल उठे—"दीक्षितजी ! न हो आप पहले निबट आइए फिर सत्संग हो। तब तक एक माला मैं भी फेर लूंगा। हरि ओ३म्तत्सत्।"

हरिमोहन के बदन में जैसे आग लग गई हो। वह पहली ही लपट के झकोरे में सोचने लगे कि सोने पण्डित ने हमारे साथ कोई विश्वासघात तो नहीं किया ! और बोले—"देखो भाई साहब ! पहेली तो बुझाओ मत ! साफ ही साफ बतला दो। अभी हमारा कुछ नहीं बिगड़ा है। बहू तो विदा कल होगी। हम आज ही से कहो—रात ही रात गोल हो जाएं और किसीको पता भी न चले।"

चन्द्रमा लाला जीभ को बाहर निकालकर बोले—"चऽ-चऽ ! राम, राम! यह आपने क्या कह दिया ! हमारा यह मतलब थोड़े ही है। आप हमको जानते

नहीं, हमारी चाहे जान चली जाए मगर धर्म हम नहीं छोड़ सकते ।"

"हां, आपने अपना शुभ नाम नहीं बताया।"

"हेंऽ-हेंऽ ! नाम जानकर क्या कीजिएगा ? अब ऐसे ही रहने दीजिए !"

"फिर भी—फिर भी ।"

"नाम तो मेरा बड़ा मामूली-सा है । चन्द्रमाप्रसाद कहते हैं । मैं श्रीवास्तव हूं । वास्तविकता मेरा जातीय गुण है । भूखों मर जाऊंगा, पर झूठ न बोलूंगा ।"

"क्यों नहीं, क्यों नहीं ! मेरे कई ऐसे मित्र हैं जो मुझे भाई से बढ़कर मानते हैं । और चन्द्रमा बाबू ! मेरा भी ऐसा ही अनुभव है कि हमारे देश में जितना भी बुद्धिजीवी-वर्ग है वह इन्हीं दो जातियों में समा गया है—ब्राह्मण और कायस्थ । एक दाहिना हाथ है, दूसरा बायां । और सच्ची बात, चन्द्रमा बाबू, यह है कि मैं तो अन्तर मानता नहीं हूं, दुनिया चाहे जो समझे ।"

"हेंऽ-हेंऽ ! हेंऽ ! क्या कहने हैं, दीक्षितजी ! नाम सुना करता था । आज सौभाग्य से दर्शन भी हो गए ।"

"तो अब चन्द्रमा बाबू, बतला ही दीजिए हमारे कहने से ! बात यह है कि कुछ आदत मेरी ऐसी खराब हो गई है कि अगर किसी बात पर मुझे सन्देह हो जाता है तो फिर न खाना हज़म होता है, न रात को नींद आती है । और यह तो आपको मालूम ही है कि शंका नागिन होती है । सांप काटे का इलाज भी है, किन्तु शंका रूपी नागिन ने अगर कहीं काट खाया, तो फिर आदमी का बचना मुश्किल हो जाता है । इसलिए आपकी बड़ी कृपा होगी यदि आप मेरी शंका का निवारण कर दें ।"

"अब दीक्षितजी, मजबूर न कीजिए । धर्म का काम है । इसमें विघ्न डालना उचित नहीं है ।"

चन्द्रमा बाबू ! यह भी धर्म का ही काम है, क्योंकि कहा है—सांच बराबर तप नहीं…"

चन्द्रमा लाला ने एक बार दाईं तरफ देखा और दूसरी बार बाईं तरफ । तब पास खिसककर कह दिया कि इतना तो आपने सुना ही होगा कि पारसाल डाका पड़ा था ।"

"हां ! मालूम है ।"

"तो अब मैं आपसे क्या कहूं ! उसी डाके में बिहारी की दुलहिन और लड़की—

दोनों का—धरम चला गया था। भाई, लोग कहते यह हैं, अब सच-झूठ की राम जाने। मन्दिर की सीढ़ियों पर बैठा हूं। अब इससे अधिक और क्या कह सकता हूं ?"

चन्द्रमा लाला का इतना कहना था कि हरिमोहन बाबू मत्था थामकर रह गए। भीतर से पसीना छूट पड़ा। जिस निमित्त आए थे उसका ध्यान ही न रहा। उत्तेजना में अतिशय व्याकुल और श्लथ होकर धीरे-धीरे नतशिर जनवासे की ओर लौट पड़े। एक-एक पग एक-एक मन से भी भारी हो गया था। पैर उठाए न उठता था।

चन्द्रमा लाला बोल पड़े—"अब मुझे आज्ञा दीजिए, क्योंकि मुझे तो अभी तीन कोस जाना है। वहां लड़की का ब्याह है और ब्योहार देना है। और हां ! एक बात तो भूल ही गया। इस गांव में मेरे दुश्मनों की संख्या कम नहीं है। इसलिए कृपा करके मेरा नाम न लीजिएगा कहीं भी। अच्छा, पां लागन !"

हरिमोहन बाबू जनवासे वापस पहुंचते ही कमरे में चले गए। एक सूती कालीन पलंग पर बिछा हुआ था। उसीपर एक तकिया लगाकर लुढ़क गए। थोड़ी देर में शिवमोहन भी वहीं आ गए।

हरिमोहन ने सारी कथा कह सुनाई।

शिवमोहन बोले—"सोने पंडित ने तो हमसे इतना ही कहा था कि गांव में दलबन्दी बहुत है, इसलिए आप किसीकी बात पर विश्वास न कीजिएगा। पर उसका यह अर्थ तो नहीं होता कि बातें इस सीमा तक छिपाई जाएं और हमारे साथ विश्वासघात किया जाए।"

हरिमोहन बोल उठे—"विवाह तो हो ही गया, पर अब हम बहू को विदा नहीं कराएंगे। ऐसी भ्रष्ट लड़की मेरी बहू नहीं हो सकती।"

शिवमोहन ने कहा—"पर इसमें लड़की का क्या अपराध है ! यदि वह सच्चरित्र न होती तो ऐसी घटना ही क्यों होती ?"

हरिमोहन ने कहा—"हम इस बहस में नहीं पड़ते। हम तो सीधी बात जानते हैं कि लड़की एक बार भ्रष्ट हो चुकी है, वह हमारी बहू होने योग्य नहीं।"

शिवमोहन ने उत्तर दिया—"बाबू, बात तो तुम सही कह रहे हो। पर

इसमें बदनामी दोनों की होगी। कितने उत्साह के साथ हम बरात ले आए और अब यज्ञ-भंग करके हम लौटेंगे तो समाज में हमारी कितनी किरकिरी होगी !"

एक निःश्वास लेकर हरिमोहन ने उत्तर दिया—"न जाने क्या होनहार है बेटा ! मेरी बाईं आंख फड़क रही है। बिरजू सुनेगा तो क्या कहेगा ?"

शिवमोहन ने उत्तर दिया—"यही मैं भी सोचता हूं। कितनी कठिनाई से तो उसके मन की पत्नी मिली थी। खैर, छोड़ो इस बात को; अब यह बतलाओ कि होना क्या चाहिए ?"

इधर ये बातें हो ही रही थीं कि इतने में दो आदमी द्वार पर आ पहुंचे।

अब सांझ हो गई थी और बरात के लोग इधर-उधर घूमने निकल गए थे। अधिकांश लोग मकान की दूसरी ओर एक बड़ी दालान में इकट्ठा थे, जहां भांग और ठंडाई छानने का अलग-अलग प्रबन्ध था।

शिवमोहन ने कुछ शंकित दृष्टि से देखते हुए द्वार की ओर बढ़ते-बढ़ते कह दिया—"कहिए, कहिए।"

आगन्तुकों में से एक वृद्धजन बोले—"हम आपसे कुछ निवेदन करने आए हैं।"

हरिमोहन ने उठकर हाथ जोड़ते हुए उत्तर दिया—"आइए, आइए !"

तब दोनों व्यक्ति उनके पास जा बैठे।

शिवमोहन ने पान की तश्तरी उनके सामने रख दी और बाहर जाकर संकेत से नाई को बुलाकर कह दिया—"दो गिलास ठंडाई," फिर भीतर आकर उनके पास बैठ गए।

वृद्ध सज्जन कह रहे थे—"यह मेरा दुर्भाग्य है कि एक ही वंश के होते हुए हम लोग केवल अलग ही नहीं हैं, परस्पर झगड़ते भी रहते हैं। बिहारी भाई के साथ हमारा भाईचारे का सम्बन्ध है; लेकिन अब स्थिति यह है कि खान-पान का व्यवहार तक बन्द है। सन्तान हम एक ही बाबा की हैं। मूल रक्त हम लोगों में एक ही रहा है। किन्तु बिहारी भाई में अहंकार और क्रोध अत्यधिक है।"

इन वृद्धजन के साथ जो दूसरे सज्जन थे, उन्होंने इसी समय कह दिया—"ये हमारे गांव के सबसे बड़े और सबसे अधिक प्रतिष्ठित व्यक्ति हैं। इनका नाम शिवनारायण द्विवेदी है।"

इसी समय द्विवेदीजी ने कह दिया—"और इनको आप जानते ही होंगे। ये

मुरारी भाई के चचेरे भाई हैं।"

शिवमोहन ने तुरन्त हाथ बढ़ाकर उनके पैर छू लिए।

अब द्विवेदीजी आंखों में आंसू भरकर बोले—"घाव तो मेरे कलेजे में बहुत हैं, लेकिन एक रक्त का नाता है जो आपके चरणों के निकट मुझे खींच लाया है। मैंने अभी-अभी सुना और सुना भी एक बिलकुल अदना दुखिया कहारिन चन्दनियां के द्वारा कि इस गांव के एक नादिरशाह ठाकुर साहब ने आपके पास एक दूत भेजकर इस विवाह-यज्ञ को विध्वंस करने की चेष्टा की है। वह टुकड़ेखोर अभी रास्ते में मिला भी था। कदाचित् आपके ही पास से लौटकर गया है!"

इतने में शिवमोहन बोले—"हां! अभी कोई चन्द्रमाप्रसाद आए थे।"

"हां! उन्हींसे मेरा मतलब है।"

इसी समय हरिमोहन ने कह दिया—"यों तो हम सारी कथा सुन चुके हैं। अब हम केवल एक बात जानना चाहते हैं कि लड़की के धर्मभ्रष्ट हो जाने के सम्बन्ध में आपको क्या कहना है?"

पं० शिवनारायण ने हरिमोहन के पास रखी हुई भगवद्गीता की पुस्तक उठाकर कह दिया—"मैं इस धर्मपुस्तक को हाथ में लेकर कहता हूं कि वह ऐसी तेजस्विनी कन्या है कि उसका धर्म कोई भ्रष्ट कर ही नहीं सकता।"

शिवमोहन बोल उठे—"हम लोग अभी इसी विषय पर विचार कर रहे थे।"

हरिमोहन ने उत्तर दिया—"शिवनारायण भइया! मैंने आपका नाम तो सुना था, मगर रक्त का नाता निभाने का यह स्वप्न मैं कभी न देख सकता था। आपने वह कार्य किया है जिसको जीवन में हम कभी नहीं भूलेंगे।" और इतना कहते-कहते वे रुक पड़े।

आंसू पोंछते हुए बोले—"मुझे सबसे अधिक दुःख इस बात का था कि इस घटना की बात सुनकर कहीं बिरजू को कुछ हो न जाए। आपको मालूम नहीं कि कितनी परेशानियों के बाद हमने यह सम्बन्ध तय किया था।"

शिवमोहन बोल उठे—"आपने बड़ी कृपा की। अपने वंश की ही लाज नहीं रखी आपने, आपने हमारी भी लाज रखी है। हम इस बात को कभी नहीं भूल सकते।"

हरिमोहन बोले—"सबसे बड़े सौभाग्य की बात यह है कि इस ग्रन्थि को आप ही सुलझा भी सकते थे। इस अवसर पर अगर बिहारी पंडित या दरोगाजी

मेरे पैरों पर नाक भी रगड़ते तो मैं उनकी बात पर विश्वास न करता।"

इतने में ठंडाई का गिलास लेकर नाई आ पहुंचा।

हरिमोहन बोले—"लो, ठंडाई तो पी लो भाई।"

शिवनारायण हाथ जोड़कर बोले—"मुझे तो आप क्षमा ही कीजिए, भला मैं कैसे पी सकता हूं!"

हरिमोहन मुस्कराने लगे। बोले—"द्विवेदीजी तो पी सकते हैं। गिलास की लागत का ही सवाल है। सो बहुत होगी, तीन आने होगी। आप हमको चार आने दे दीजिए।"

शिवनारायण जी ने पांच रुपये का एक नोट निकालकर हरिमोहन के सामने रख दिया और कहा—"अच्छी बात है, तो मेरी यह श्रद्धा-भेंट भी स्वीकार कीजिए।"

हरिमोहन ने उत्तर में कह दिया—"वाह दादा, जैसा सुनता था वैसा ही पाया।"

शिवनारायणजी ने फिर हाथ जोड़ लिए। बोले—"बहुतेरी बातें हैं भइया! और इस समय कहने की नहीं अन्यथा इस विवाह में मैं क्या नहीं करता!"

हरिमोहन कुछ सोचने लगे।

अब शिवनारायण और रामलोचन के हाथ में गिलास थे। शिवनारायण पहला घूंट कण्ठस्थ करते हुए सोच रहे थे—'दुर्घटना होते-होते बच गई। उसका सारा श्रेय चन्दनियां को है।' और अब रामलोचन ठंडाई पीते हुए सोच रहे थे—'मुरारी भइया की स्थिति तो इतनी खराब हो गई थी कि वे कभी इनको अपना मुख भी नहीं दिखा सकते थे।'

थोड़ी देर बाद जब शिवनारायण अपने घर की ओर बढ़ने लगे, तो रामलोचन से उन्होंने कह दिया—"तुम तो वहां जाओगे ही, चन्दनियां अगर वहां दिखलाई पड़े तो हमारे यहां भेज देना। ऐसे अवसर पर कुछ पुरस्कार देना ही चाहिए।"

बिहारी पंडित ने जब रामलोचन से यह सब कथा सुनी, तब उनकी आंखों में आंसू आ गए।

उस समय ब्रजमोहन कलेवा करके जनवासे लौट रहा था। द्वार पर बाजे बज रहे थे। कहार पालकी उठा रहे थे और सबसे आगे-आगे सोने पंडित भागे जा

रहे थे।

चन्दनियां ने सुना कि मुझे मुखिया ने बुलाया है तो वह फूली न समाई।

शिवनारायण ने धोती और ब्लाउज़ का कपड़ा निकालकर दिया और पांच रुपये ऊपर से।

प्रसन्नता से पुलकित हो वह कहने लगी—"दादा, आपका-सा मन भगवान करे सबका हो। मेरे जी में बार-बार आता तो था दादा, कि मौके की बात है। अगर तीर ठिकाने पर लग गया, तो भगवान बिगड़ी बात ज़रूर बना देंगे। मुझे खुशी इस बात की है कि उन्होंने मेरी विनती सुन ली।"

फिर उसकी आंखों में आंसू आ गए। प्रसन्नता से पुलकिल हो जब वह घर को लौटने लगी तब मन ही मन कह उठी—

'दादा, यह धोती और सलूका मुझे दे तो दिया, मगर अब इसको पहनना शोभा देगा! गोपलू के बप्पा, कहां हो?'

चन्दनियां पुनः सिसकी ले-लेकर रो पड़ी। तभी बिहारी पण्डित को आता देखकर पं० शिवनारायण ने कह दिया—"भैया! आपने कष्ट किया?"

और कथन के साथ आगे बढ़कर बिहारी पण्डित के गले से लिपट गए। अब दोनों जने फूट-फूटकर रो रहे थे। चन्द्रमा लाला ने आते-आते जैसे यह दृश्य देखा तो उल्टे पांव लौट गए।

पांच मिनट बाद चन्दनियां जब घर पहुंची तो यह देखकर बावली हो उठी कि जिसका प्रसन्नता से स्मरण कर वह अभी थोड़ी देर पहले रो पड़ी थी, वही—गोपलू का जनक—बैठा उससे प्रसन्नता से बातें कर रहा था।

१८

प्रातःकाल तो हो गया, पर अभी भगवान भुवन-भास्कर का उदय नहीं हो पाया था। ब्रजमोहन छत पर सो रहा था। उसका पलंग मसहरी से ढका हुआ था। दूसरा पलंग भी महसरी से आवृत था, पर वह खाली था। राजेश्वरी उठी,

धरती की रज भाल में लगाई। पास ही लगी सीढ़ियों से घर के आंगन में उतरने जा ही रही थी, तभी एकाएक ब्रजमोहन ने मसहरी का आवरण हटाकर सिर बाहर निकालते हुए कह दिया—"ठहरो, एक बात सुनो।"

राजेश्वरी ठिठक गई और मुस्कान के ब्याज में बोली—"कहिए।"

ब्रजमोहन बोले—"बात यह है कि आज ही मैं अपने को समझ पाया हूं। तुम जा रही हो, तो ऐसा जान पड़ता है, मैं कुछ नहीं हूं। थोड़ा-सा कुछ हूं भी, तो एक साधारण जीवमात्र। पर तुम मेरी आत्मा हो, राज। ज़रा पास आकर बैठो। देखो, ठंडी हवा कैसी प्यारी लगती है!"

राजेश्वरी लौट पड़ी और पास आकर उसने स्वामी के कान के पास मुंह ले जाकर एक ऐसी बात कह दी कि मुस्कराते हुए उसे कहना ही पड़ा—"अच्छा जाओ।"

राज स्नान आदि से निवृत्त होकर उसके लिए आवश्यक नाश्ता तैयार करने जा रही थी।

साधारण रूप से ब्रजमोहन प्रायः नौ बजे भोजन पर बैठ जाता था। उस दिन कुछ ऐसा हुआ कि साढ़े नौ बजे तक दाल ही न पक सकी। फिर जो दोनों साथ-साथ भोजन पर बैठे, तो बातें करते-कराते सवा दस बज गए। आचमन और मुख-शुद्धि कर लेने के बाद एकाएक ब्रजमोहन बोला—"आज तो कार्यालय जाने की बिलकुल इच्छा नहीं है, राज।"

नई-नई दुलहिन थी राजेश्वरी। विश्व-प्रकृति की निर्ममता का थोड़ा भी ज्ञान उसे नहीं हो पाया था। मन्द हास में एक बल देकर कुर्सी की पीठ पर दोनों मांसल बाहु रखे हुए उसने कह दिया—"नहीं इच्छा है तो न जाओ।"

ब्रजमोहन टेबल पर तश्तरी में रखे हुए पान उठाकर बोला—"हां, आज नहीं जाऊंगा। जब देखो तब नौ बजे खाना और दस बजते-बजते कार्यालय की कुर्सी पर बैठकर फायलें उलटना और कलम घिसना। बदन टूट रहा है। नींद के झकोरे आ रहे हैं, मगर पान, सिगरेट या चाय का अवलम्ब लेकर कुर्सी पर डटे रहना पड़ता है। यह भी कोई ज़िन्दगी है? मुझे इस ज़िन्दगी ने नफरत हो गई है राज। सप्ताह में जो एक दिन मिलता भी है, तो उसी दिन गार्हस्थ्य जीवन के सारे काम फट पड़ते हैं। लानत भेजता हूं ऐसी ज़िन्दगी पर! तुमको पता है, कब से मैं सोने को तरसता हूं?"

जिस समय ब्रजमोहन यह बात कह रहा था, उस समय झण्डासिंह कमरे में उसका पलंग बिछा रहा था।

राजेश्वरी को प्रतीत हुआ, सचमुच स्वामी के कथन में दर्द है। वह इतमीनान से दूसरी चारपाई पर बैठ गई। मुस्कराती हुई बोली—"अरे तो आप बिगड़ क्यों रहे हैं? कौन कहता है कि कार्यालय में तीसों दिन आपको जाना ही है? यह तो तबीयत की बात है; केवल मन की एक लहर है।"

"राज, तुम कभी-कभी ऐसी बात कह देती हो कि हार्दिकता और समर्पण में ही नहीं, कला-जीवन की विवेचना में भी मैं अपने-आपको छोटा समझने लगता हूं। इमर्सन ने एक जगह कहीं लिखा है कि हम सब सतहों और धरातलों में पड़े रहते हैं और कभी हमारा ध्यान ही नहीं जाता कि जीवन की सच्ची कला तो धारा पर कौशल से बहने और तैरने में है।"

झण्डासिंह स्नानागार में नहाने चला गया था। फिर भी ब्रजमोहन के शब्द उसके कानों में पड़ रहे थे—"जीवन की सच्ची कला तो···"

राजेश्वरी आनन्द से फूल उठी। उसे प्रतीत हुआ, मानो यही जीवन का वास्तविक सुख है। पर एकाएक उसके मन में एक प्रश्न जग उठा—'क्या जीवन सदा ऐसा ही एकरस रहता है?'

ब्रजमोहन कुर्सी से उठकर पलंग पर लेट गया। एक-तिहाई बिस्तर उत्तरी भाग पर समेटा हुआ रखा था, उसीपर उसने अपना सिर रख लिया।

राजेश्वरी खस का पंखा उठा लाई। उसे शीतल जल से भिगोया, फिर उसकी बंदों को तौलिये से सुखाया; फिर चारपाई के निकट कुर्सी पर बैठे-बैठे वह स्वामी पर पंखा झलने लगी। ब्रजमोहन गम्भीर होकर बोला—"कल शायद बिजली का कनेक्शन मिल जाए। फिर सीलिंग फैन ले लेंगे। तब तुम्हारा यह व्यजन-दोलन-श्रम छूट जाएगा।"

राजेश्वरी के दन्तमुक्ता झलक उठे। बोली—"प्यार हो कि सेवा, किसी न किसी मिस श्रम तो करना ही पड़ता है। फिर जो श्रम नहीं करता, उसे आनन्द भी नहीं मिलता। काम में जुटे रहने से नींद बड़ी मीठी आती है।"

"अपनी-अपनी रुचि ठहरी! मुझे गम्भीर निद्रा उतनी पसन्द नहीं, जितनी मन्द-मधुर।" इस बार कथन के साथ ब्रजमोहन ने आंखें मूंद लीं।

राजेश्वरी पंखा झलती जाती थी और नाना प्रकार के विचार उसके मानस

में तैर रहे थे। वह सोच रही थी—'शरीर का लोम-लोम तक विह्वलता की अपेक्षा रखता है।' सहसा एक प्रश्न फिर उसके मन में उभर उठा—'क्या यह केवल कलेवर का धर्म है, जो जागरण को भी स्वप्न बनाकर छोड़ देता है ? आत्मा के साथ इसका कोई सम्बन्ध नहीं है ?'

थोड़ी देर में जब राजेश्वरी ने देखा कि स्वामी गम्भीर निद्रा में लीन हो गए हैं, तब वह रसोईघर में जाकर झण्डासिंह को खाना परोसने लगी।

काल के चरण कभी स्थिर नहीं रहते। एक क्षण के पश्चात् दूसरा आगे आता ही रहता है। राजेश्वरी आराम करने के विचार से पलंग पर जा ही रही थी कि एकाएक सुनाई पड़ा—द्वार पर कोई कुंडी खटखटा रहा है।

कमरे के बाहर आकर उसने कहा—"कौन है ?"

आगन्तुक की आंखों पर धूप का चश्मा, सिर पर सोला हैट, हाथ में अटैची-केस और बाईं ओर बगल में उस दिन का अखबार। उसकी दाढ़ी फ्रेंचकट थी और सिर के केशों में लहरें पड़ी हुई थीं। कपोलों पर लालिमा इतनी ज्वलन्त थी कि आकृति से विदेशी जान पड़ता था। उसका जूता सांभर का था और हैट की बद्धी चिबुक से लगी हुई थी। उसकी बुश्शर्ट शार्कस्किन की थी और लोहा इतने सुन्दर ढंग से किया गया था कि चमक उत्पन्न हो गई थी। उसकी पैंट मक्खन जीन की थी और ब्लीचिंग टीनोपाल की। उसके मुंह में पाइप था जिससे धुआं निकल रहा था।

प्रश्न सुनकर उसने अपना नाम नहीं बतलाया, वरन् उत्तर में एक प्रश्न ही कर दिया—"साहब आफिस गए या घर में हैं ?"

"मगर महाशयजी का परिचय क्या है ?" उत्तर के क्षण राजेश्वरी द्वार के पास ही खड़ी थी। किवाड़ कुछ इस ढंग के बने थे कि उनके बीच के जोड़ में कहीं सांस नहीं थी।

"नाम जानकर भी आप मुझे न जान सकेंगी। इसलिए अगर ब्रजमोहन बाबू अन्दर हों, तो उन्हें भेज दें। काम ज़रूरी है।"

उत्तर सुनकर राजेश्वरी ने किवाड़ खोल दिए। आगन्तुक निःसंकोच भाव से झट भीतर चला आया। राजेश्वरी उसकी इस उतावली से सहमकर थोड़ा पीछे हट गई। आगन्तुक ने अटैचीकेस फर्श पर रख दिया और किवाड़ों की कुंडी लगा दी। फिर घूमकर आंखों से चश्मा उतारते हुए प्रश्न कर दिया—

"पहचाना ?"

राजेश्वरी विस्मय से अभिभूत हो एक बार कांप उठी। कहना ही चाहती थी 'नहीं' कि तब तक उसने नकली दाढ़ी भी उतार ली, और प्रश्न कर दिया—"अब?"

भयभीत मृगी की भांति विस्फारित नेत्रों से राजेश्वरी एकदम पीछे हट गई और उसके मुंह से बरबस निकल गया—"ओह, आऽप !"

"जी! डरो नहीं। मैं कोई बाघ नहीं हूं जो खा जाऊंगा। मैं भी एक इन्सान हूं। सिर्फ आज दिन-भर रहूंगा। तुम चाहोगी, तो दुपहर बाद चला जाऊंगा।"

राजेश्वरी की आंखों में आंसू आ गए। बोली—"जो कुछ हुआ है, उससे तबीयत भरी नहीं, जो मेरे जीवन को नष्ट करने आए हो ?"

"यह तुम्हारा भ्रम है। मैं तुम्हारे जीवन-सौख्य में व्याघात नहीं बनूंगा। तुम्हारे सिवा मुझे अपनी भी लाज है। मुझपर भरोसा रखो। विश्वासघात नहीं करूंगा !"

अब आगे-आगे चली राजेश्वरी और पीछे-पीछे आगन्तुक। आंगन के उस पार बरामदा था, जिससे ब्रजमोहन का कमरा लगा हुआ था। आगन्तुक बरामदे में खड़ा हो गया और राजेश्वरी कमरा खोलकर अन्दर चली गई। उसका हृदय अब भी धक्-धक् कर रहा था। आंसू उसने आंगन में ही पोंछ डाले थे। पलंग के पास खड़ी होकर वह ब्रजमोहन का कन्धा हिलाती हुई बोली—"अरे सुनो !"

ब्रजमोहन ने अंगड़ाई ली और कह दिया—"ऊं।"

राजेश्वरी बोली—"ज़रा उठो, देखो कौन आया है।"

ब्रजमोहन झट से उठकर बैठ गया और किवाड़ पूरे खोलकर स्थिर होते हुए बोला—"ओः विजय ! आओ, आओ, दशहरा के नीलकंठ महाराज, भीतर चले आओ।"

पलंग के पास एक कुर्सी पड़ी थी। उसी तरफ अंगुलि-संकेत करता हुआ बोला—"इसीपर बैठ जाओ। सबसे पहले नई भाभी से तुम्हारा परिचय करा दूं।" फिर राज को लक्ष्य करके बोला—"देखो राज, यह मेरा मित्र विजय है, बड़ा प्रतिभाशाली और लड़ाकू। मगर लड़ाकू क्यों, तार्किक। रूप इसकी सबसे बड़ी कमज़ोरी है। ज़रा बचकर रहना इससे।" और हंसने लगा।

तत्काल विजय का तेवर बदल गया। मुखमण्डल से उत्तेजना व्यक्त हो उठी। बोला—"बस, यही मेरी तुमसे सबसे बड़ी शिकायत है कि आज तक तुम मुझे

समझ नहीं सके। रूप मेरी कमजोरी नहीं, कसौटी है। एक रूप ही तो है, जिसके वैभव को मैं स्वीकार नहीं करता। उसे देखकर मुझे जलन होती है। कदाचित् इसलिए मेरे अन्दर से उठकर एक ही प्रश्न सहस्रों कण्ठों से एकसाथ बोल उठता हैं—'मेरे लिए कुछ भी नहीं; मेरे लिए कुछ भी नहीं !'—मैं रूप की पूजा नहीं करता, उसको दास बनाकर रखता हूं। उसका भोग मेरा इष्ट नहीं, साधन है।" ···फिर राजेश्वरी की ओर मुड़कर उसकी भेद-भरी दृष्टि में दृष्टि डालता हुआ बोला—"नमस्ते भाभी !"

राजेश्वरी सब जानती थी। वह भूली नहीं थी जब इसी व्यक्ति ने उससे कहा था—'उफ, इतना रूप !' फिर दांत पीसकर यह भी कहा था—'किसके लिए इसे संजोकर रख छोड़ा है ? क्या मैं जीवन-भर उपवास ही करता रहूंगा?' इस व्याख्या का स्मरण कर उसका हृदय हिल गया। मन्द पड़ी हुई धुकधुकी एक बार फिर तीव्र हो उठी और अस्थिर वाणी में उसके मुंह से निकल गया—"न···नमस्ते।"

ब्रजमोहन को राजेश्वरी की इस प्रतिक्रिया पर कोई आशंका तो न हुई, पर थोड़ा आश्चर्य हो उठा। वह सोचने लगा—'शायद मुझसे ही भूल हो गई है जो मैंने परिचय में कह दिया कि रूप इनकी कमजोरी है।'

इसी समय राजेश्वरी कमरे से बाहर हो गई।

झण्डासिंह खाना खा चुका था। सामने पड़ते ही राजेश्वरी बोली—"पैसे तो तुम्हारे पास होंगे ? देखो नींबू घर में हैं कि नहीं ?···न होंगे शायद ! नींबू और बरफ ले आना बाजार से। एक मेहमान आ गए हैं।"

झण्डासिंह तौलिया लेकर बाहर जाने लगा, तो राजेश्वरी ने इतना और कह दिया—"नींबू अगर न मिलें, तो फिर दही ले आना। और चार आंवले मुरब्बे के, चार सफेद रसगुल्ले छेनेवाले और दो समोसे, छटांक-भर दालमोठ भिखारी की दूकान से ले लेना। गरम हों, ठण्डे नहीं।"

झण्डासिंह तेज़ धूप की ओर देखता हुआ बोला—"जी।"

राजेश्वरी ने कह दिया—"पैसे कम पड़ेंगे। रुपये लेते जाओ।" और धोती के अंचल में बंधा हुआ दो रुपये का नोट निकालकर दे दिया।

ब्रजमोहन कह रहा था—"यह तुमने बुरा किया। मुझे तुमसे ऐसी आशा

न थी। मान लो छूट भी गए, फिर भी इतिहास तो बिगड़ ही जाएगा। शक तो मुझे पहले ही हो गया था, तुम्हारे इस रवैये पर। हम लोगों ने बहुत-सी योजनाएं बनाई थीं, इम्पलायमेंट एक्सचेंज में तुम्हारे लिए एक जगह भी खाली करवाई थी, मगर तुम्हारा पता ही न चला।"

विजय ने नाक सिकोड़ते हुए मुंह बनाकर उत्तर दिया—"बातें तो बहुत-सी हैं; तुम्हारे पास कम होंगी, मेरे पास अधिक हैं। मगर मैं इस वक्त थका बहुत हूं, इसलिए सोना चाहता हूं। तुम मेरे सोने का इन्तज़ाम कर दो।···मगर एक बात है। अपने इस कमरे में नहीं; क्योंकि बातें करने से तुम बाज़ आओगे नहीं और उत्तर मैं दूंगा अवश्य। इसलिए अच्छा यही है कि निर्विघ्न रूप से सोने के लिए किसी अन्य कमरे में बिस्तर लगवा दो।"

इतने में राजेश्वरी आ गई। पान से अधर रचे हुए थे। कपोलों पर पाउडर की मन्द झलक स्पष्ट जान पड़ती थी। फालसाई साटन की कञ्चुकी इतनी कसी हुई थी कि ब्रजमोहन की आंखों पर नशा छा गया। साड़ी भी उसने फालसाई जार्जेट की पहन ली थी। चप्पलों के बदले नागरा जूतियां, जिनमें सुनहला काम झलझला रहा था।

आते ही बोली—"पाइप तो चला गया विजय बाबू, मगर टब में पानी काफी है। नहा लेंगे तो तबीयत ताज़ी हो जाएगी। तब तक आपके लिए नाश्ते की व्यवस्था भी हो जाएगी।"

विजय ने एक बार राजेश्वरी की रूप-राशि को आंखों में भरकर यह सोचते हुए एकाएक आंखें बन्द कर लीं कि यह प्रतिक्रिया मेरी इस बात का उत्तर है कि मैं रूप के वैभव को स्वीकार नहीं करता। — तात्पर्य यह है कि तुम्हें खुली चुनौती है। देखें, कैसे स्वीकार नहीं करोगे !

इसी क्षण ब्रजमोहन ने बैटरी वाला रेडियो ऑन कर दिया। सरल संगीत चल रहा था। गीत के प्रारम्भ के बोल थे—हाय मोरी एकहु बात न मानी, करी मनमानी – कहानी रह गई।

ऐसे वातावरण में उठने की इच्छा तो नहीं थी, पर फिर यह सोचकर विजय को उठना ही पड़ा कि अब आलस्य करने से इन लोगों को कष्ट भी हो सकता है। गीत की शब्दावली पर इस समय वह अपने-आप मुसका रहा था।

एक कोने में कपड़े बदलकर विजय नहाने चला गया, तो ब्रजमोहन बोला—

"ज़रा यहां आना राज, एक ज़रूरी बात तुमसे कहनी है।"

राजेश्वरी उसी कुर्सी पर आकर बैठ गई, जिसपर अभी विजय बैठा हुआ था।

ब्रजमोहन पुलकित कण्ठ से बोला—"सच कहता हूं राज, अगर प्रत्येक व्यक्ति को ऐसा जीवन-साथी मिले, तो मरण के क्षण तक दुखी होने का उसके पास कोई कारण नहीं हो सकता।"

स्वामी के कथन से प्रभावित हो हंसती-हंसती राजेश्वरी बोली—"अगर दिन में दस बार मुंह पर प्रशंसा के पुल न बांधा करें, तो क्या काम नहीं चल सकता ?"

"नहीं चल सकता। प्रशंसा केवल शिष्टाचार नहीं राज, वह जीवन के क्षण-क्षणव्यापी मनोगत भावों का प्रत्यक्ष रूप भी है। कभी-कभी तो प्रशंसा आत्मीय सम्बन्धों में भी बहुत आवश्यक हो जाती है। बहुतेरे पतियों ने अपनी प्राणप्यारी पत्नियों को केवल इसलिए खो दिया कि उन्होंने स्वभाववश पत्नी के किसी गुण की प्रशंसा नहीं की—न गृहकार्य में कुशलता और प्रवीणता की, न शृंगार-प्रधानता में सुरुचि की, न रूप-लावण्य के वैभव की, न सरल-चपल मधुर स्वभाव और मुस्कान की।"

"तुम कुछ भी कहो, पर मैं अब ऊब गई हूं। जो आदमी मुंह पर निरन्तर प्रशंसा किया करता है, मुझे ऐसा जान पड़ता है, या तो वह अपना कुछ काम निकालना चाहता है, या इसी बात के लिए नौकर है।"

कुछ ऐसा हुआ कि कथन के पूर्ण होते-होते राजेश्वरी विचार में पड़ गई कि यह मैंने क्या कह दिया !

झण्डासिंह को दूर जाना नहीं पड़ा। सब सामान चौराहे पर ही मिल गया। विजय के लिए दूसरा कमरा खाली कर दिया गया। उसमें पलंग के साथ एक कुर्सी रख दी गई और साथ में ब्रजमोहन वाला चाय का टेबल। अपना टेबल राजेश्वरी ने ब्रजमोहन के कमरे में लगवा दिया।

झण्डासिंह जलपान तैयार कर रहा था।

राजेश्वरी के उत्तर को सुनकर ब्रजमोहन उसकी आंखों में आंखें डालकर मुस्कराता हुआ बोल उठा—"अच्छा, इन दो बातों में किस बात को तुम मेरे लिए अधिक युक्तिसंगत समझती हो राज ?"

राजेश्वरी पकड़ी तो गई, पर चतुरता के साथ बोली—"तुम्हारी बात और है।"

ब्रजमोहन विस्मय के साथ कहने लगा—"मेरा बस चले, तो मैं तुमको कार्यालय में भी साथ ले जाऊं। आजकल तो मैं वहां निरन्तर तुम्हारे अभाव का अनुभव करता हूं। इस समय चाय पीते समय तो निश्चित रूप से तुम्हारी याद कर लेता हूं।"

राजेश्वरी स्वामी की प्रतिक्रिया देखने के अभिप्राय से बोली—"आजकल में सम्भव है भैया आ जाएं।"

ब्रजमोहन अस्थिर हो उठा। बोला—"अभी तो मैं तुम्हें भेज न सकूंगा राज।"

"क्यों ?"

"यह तुम जानती हो।"

"जानने से क्या होता है ? अम्मां कह रही थीं कि मैं तो चार दिन बाद ही बुला ली गई थी।"

"वह ज़माना और था।"

"उस समय अम्मां की उमर पूरे बारह वर्ष की भी न हो पाई थी, पर गौना तीन वर्ष बाद हुआ था। लेकिन उस गौने में भी अम्मां बाबू के घर केवल पन्द्रह दिन ही रह पाई थीं। वह युग ही कुछ ऐसा था कि ब्याह के बाद लड़की को धीरे-धीरे ही पति से मिलने दिया जाता था।"

"सुनते हैं, उस ज़माने के लड़के बड़े शैतान होते थे ?"

"बाबू की तो अजीब हालत थी। विवाह के समय उनकी अवस्था कुल बारह वर्ष चार मास की तो थी ही।"

"तब तो उनकी सुहागरात में बड़ा मजा आया होगा ?"

राजेश्वरी गम्भीर हो गई। बोली—"हमें अपनी सीमाओं के अन्दर रहना चाहिए।"

"ज्ञान की कोई सीमा नहीं है। अतः ज्ञान के लिए हमें सीमाएं त्यागनी ही पड़ती हैं। तुम्हारी स्थिति देखकर तो मैं डर गया था। मुझे अब भी बड़ा खेद हो रहा है।"

"हटो, उस प्रसंग की चर्चा मत करो, नहीं तो मैं चली जाऊंगी।"

ये बातें अभी चल ही रही थीं कि किसीने द्वार पर दो बार किया—कुट-कुट!

ब्रजमोहन ने उठकर जो किवाड़ खोले, तो यह देखकर वह चकित हो उठा कि विजय सामने उपस्थित है।

विजय की यह उपस्थिति राजेश्वरी को असामयिक प्रतीत हुई। लाज से अभिभूत होकर, बिना कुछ कहे वह कमरे से बाहर चली गई।

झण्डासिंह दो प्लेटों में आंवले का मुरब्बा, दो में रसगुल्ले और दो जगह नमकीन, एक गिलास लस्सी और एक प्याला चाय एक ट्रे में सजाकर टेबल पर रख गया। फिर एक शीशे के जार में बरफ का पानी और दो खाली कांच के गिलास ले आया।

आशंका, सो भी इतनी प्रखर कि जब तक मिट न जाए, तब तक किसी कार्य में जी न लगे।

राजेश्वरी सोच रही थी—'पता नहीं यह किस समय मेरा सारा भेद खोल दे। जब तक यह रहेगा, चिन्ता बनी रहेगी। यद्यपि इसने विश्वास दिलाया है कि मुझपर भरोसा रखो, मैं रहस्य की कोई बात खोलूंगा नहीं; किन्तु फिर यह यहां आया ही क्यों? अगर इसका इनके साथ बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध था, तो यह विवाह में क्यों नहीं आया?···मगर विवाह में आ गया होता, तो मेरी क्या गति होती?··· ऐसा भी तो हो सकता था कि लोग इसे पहचान लेते? नहीं, ऐसा नहीं हो सकता था। सबके मुंह पर नकाब पड़ी थी।'

राजेश्वरी चाहती थी कि उसको नींद आ जाए। उसने करवट बदल ली। पड़ोस का रेडियो अब भी चल रहा था। पर उसे कोई गीत रुचिकर न लग रहा था। उसने इस स्थिति की कभी कल्पना भी न की थी। यह ऐसा एक प्राणहन्ता योग था, जिसे वह किसी प्रकार भूल न पाती थी।

एक बार फिर उसके मन में आया—'मान लो, इसने कह ही दिया तो? हाय, तब तो मैं कहीं की न रहूंगी! कैसे इन्हें मुंह दिखाऊंगी? ऐसे में जो भाई साहब आ जाएं, तो कितना अच्छा हो!' एक निःश्वास लेकर उसने मन ही मन कह दिया—'हे भगवान्! अब लाज तुम्हारे ही हाथ है।' क्षण-भर बाद वह उठकर बैठ गई। फिर कमरे के बाहर जाकर बराण्डे से लगकर खड़ी हो गई।

बातें अभी चल रही थीं—

"चलो, जैसी पत्नी तुम चाहते थे, वैसी तुम्हें मिल गई।" विजय कह रहा था।

ब्रजमोहन ने उत्तर दिया—"मैं ऐसी कल्पना भी नहीं करता था। जब से आई है, तब से मैं बिल्कुल निश्चिन्त हो गया हूं। अक्सर फाइलें भी मैं घर ले आता हूं। मैंने जांचकर देखा है। केवल हिसाब-किताब में ही निपुण नहीं, वरन् ड्राफ्ट भी अच्छा बना लेती है। और अभी उसकी उमर ही क्या है? चाहूं तो सरकारी नौकरी दिला सकता हूं, मगर हमें और अधिक चाहिए क्या? हमारा सबसे बड़ा जीवन-सौख्य है पत्नी का विश्वास और प्रेम, आस्था और मानवी समवेदना। और भगवान की दया से सारे गुण उसमें विद्यमान हैं।"

विजय हंसा और उसके मुंह से निकल गया—"तुम्हें अभी मनुष्य-स्वभाव की पहचान नहीं है ब्रजमोहन। स्त्री हो या कि पुरुष, सर्वगुण-सम्पन्न तो कोई हो ही नहीं सकता। रह गई बात प्रेम की, सो उसकी परीक्षा का तुम्हें अभी अवसर ही कहां मिलता है?"

राजेश्वरी सुनकर कम्पित हो गई—'अरे, यह क्या कहने जा रहा है!...'

विजय ने आगे कह दिया—"हैमलेट का पिता अपनी स्त्री को कम प्यार करता था? एलेक्सी एलेक्ज़ेण्ड्रोनोविच अपनी प्रियतमा अन्ना कैरेनिना को कम चाहता था? और हां, शेर अफगान मिहरुन्निसां को?"

'बस," ब्रजमोहन बोल उठा—"तुमने फिर बहकाना शुरू कर दिया। मेरे घर में आग लगाने आए हो? राज सुनेगी तो क्या कहेगी?"

इतने में सहसा दरवाज़े का एक किवाड़ खुल गया और राजेश्वरी भीतर आ पहुंची। विजय संकुचित हो उठा। सोचने लगा—'कहीं किवाड़ की ओट से यह हमारी बातचीत सुन तो नहीं रही थी!'

राजेश्वरी बोल उठी—"आप तो बहुत थके हुए थे। आपके सोने का इन्तज़ाम भी मैंने उधर कर दिया था।"

अब विजय को यह समझने में देर न लगी कि दोनों की बातचीत के बीच मेरा यहां आ जाना इसको पसन्द नहीं आया; तभी प्रकारान्तर से यह कहना चाहती है कि आप खिसकिए यहां से। यह आपके ठहरने की जगह नहीं है। अतः उसने थोड़ा बनते हुए कह दिया—"जी, पर कदाचित् आपको नहीं मालूम कि हम लोग एक युग के बाद मिले हैं। और मैं सोचता हूं कि आज ही चला भी जाऊं। इसीलिए कुछ बातें होने लगीं, तो फिर मुझसे भी नहीं रहा गया।" फिर एकाएक विषयान्तर कर बोला—"आपका यह मकान और दृष्टि से तो बिल्कुल ठीक है,

मगर इसमें मक्खियां बहुत हैं, और मेरा ख्याल है, रात में मच्छर भी बहुत लगते होंगे ?" फिर बिजली के बटन और छत की ओर देखा और कह दिया—'इलेक्ट्रिक फिटिंग तो हो गई, मगर तुमने पंखा नहीं लिया ?"

ब्रजमोहन बोला—"कनेक्शन एक-आध दिन में मिलने ही वाला है। इसीलिए अब तक पंखा नहीं लिया।"

राज ने हंसते-हंसते कह दिया—"पंखा तब आएगा, जब मैं चली जाऊंगी। तुम देख लेना ऐसा ही होगा।"

विजय को फिर बोलना पड़ा—"ऐसा होता है; ऐसा अक्सर होता है कि प्लेटफार्म पर पहुंचते-पहुंचते गाड़ी छूट जाती है।"

इतने में झण्डासिंह ने आकर एक लिफाफा देते हुए कहा—"दफ्तर का चपरासी अभी ले आया है।"

बड़े आश्चर्य के साथ ब्रजमोहन ने यह कहते हुए लिफाफा ले लिया—"दफ्तर का चपरासी लेकर आया है ? अकस्मात् ऐसा कौन-सा काम फट पड़ा !"

ब्रजमोहन ने लिफाफा खोलकर पत्र को पढ़ा, तो उसके आश्चर्य का ठिकाना न रहा।—"तीन दिन के लिए उसे चंदौसी जाना है। तुरन्त। गबन के कुछ कागज़ों की आडिट-रिपोर्ट आज से ठीक चौथे दिन दे देनी होगी। मामला संगीन है।"

वह तुरन्त उठकर कपड़े पहनने लगा।

विजय मुस्करा उठा और बोला—"यह खूब रहा ! यह आदेश भी आज ही आने को था। अच्छा भाई-मैं तो चला। कौन, झण्डासिंह ? झण्डासिंह ज़रा कोई सवारी तो स्टेशन के लिए पकड़ना।"

ब्रजमोहन ने भी कह दिया—"एक रिक्शा मेरे लिए भी।" और पैंट के बटन लगाते हुए विजय से बोला—"ऐसी जल्दी भी क्या है ! आए हो तो एक-आध दिन बने रहो।"

"दिमाग खराब हो गया है ? तुम समझते हो, तुम्हारा काम मेरे काम से ज़्यादा ज़रूरी है ?"

राजेश्वरी चाहती थी कि विजय चला ही जाए, फिर भी उसने कह दिया—"ऐसा ही है तो किसी दूसरी ट्रेन से चले जाइएगा। खाना तो खा लीजिए कम से कम।"

"नहीं भाभी, मुझे मजबूर मत करो। मैं तो यों ही आ गया था। ऐसा ही है, तो फिर मैं कभी दो-एक दिन के लिए आ जाऊंगा।"

"अच्छा भाई, मैं तो चला। मुझको तो कार्यालय पहुंचने की जल्दी है। तुम जैसा चाहो वैसा करो। वैसे चाहता तो मैं यही था कि एक-आध दिन रहकर जाते। और फिर मैं भी तो रात-वात की गाड़ी से जाऊंगा। अभी तो दफ्तर जाकर काम के सम्बन्ध में साहब से आदेश-अनुदेश लूंगा; खर्च लूंगा, उसके बाद घर आऊंगा, तब कहीं जाना होगा। तुम चाहे जब जाओ। यह तुम्हारी अपनी सुविधा पर है।"

दो रिक्शे आ गए। एक में विजय बैठा और दूसरे में ब्रजमोहन। दोनों चल पड़े। थोड़ी दूर आगे बढ़ने पर ब्रजमोहन ने कहा—"रिक्शे वाले, ज़रा रिक्शा खड़ा करना।" और वह अपने रिक्शे से उतरकर विजय के रिक्शे के पास आकर खड़ा हो गया। बोला—"आज तो तुम बहुत जल्दी में आए। अगली बार आना तो कम से कम तीन-चार दिन रहना और पहले सूचित कर देना। भाभी तुम्हारी गाना बहुत अच्छा गाती है, रेडियो-सिंगर है।"

विजय ने आश्चर्य से कह दिया—"अच्छा! तब तो आना ही पड़ेगा।" दोनों ने हाथ मिलाए और दोनों अलग हो गए—रास्ते अपने-अपने। इरादे अपने-अपने।

थोड़ी देर में जब रिक्शे वाला स्टेशन की ओर जाने लगा तो विजय ने कह दिया—"बस, ज़रा इधर घुमा देना। इसी होटल के अन्दर।"

१९

अपने कमरे में जाकर, भीतर की कुण्डी बन्द कर, विजय चुपचाप सो गया। एक गहरी नींद ले लेने के बाद जब वह सोकर उठा तो रात्रि के दो बज गए थे। चारों ओर सन्नाटा, एक-आध कमरे की बत्ती जलती हुई। चुपचाप उसने अपना

बैग उठाया, फिर रख दिया; क्योंकि ध्यान हो आया 'दाढ़ी' उसने ड्रार में रखी थी। फिर बिना कपड़े बदले हुए वह पलंग पर योंही लुढ़क गया था। फिर पलक झपकने लगे और तभी वह सो गया था। झटपट कपड़े बदले, फ्रेंचकट दाढ़ी लगाई और बैग लेकर होटल के प्रमुख द्वार की ओर चल दिया।

बिना बिस्तर की खाट पर दरबान भीतर सो रहा था। हाथ हिलाकर उसे जगाया और कह दिया - "दरवाजा खोलना ज़रा।"

दरबान ने पहले आंखें खोलीं, फिर यह कहकर पुनः बन्द कर लीं कि मैनेजर साहब !

विजय ने उत्तर दिया —"मैनेजर जानता है कि मैं समय-असमय जाता-आता रहता हूं। कल जो आदमी ड्यूटी पर था, उसने भी इस समय खोल दिया था।"

"साहब, इस वक्त खोलने का कायदा नहीं, इसलिए कह रहा हूं।"

जेब से एक रुपया निकालकर उसके हाथों पर रखता हुआ बोला —"ले, यह तो है कायदे का बच्चा।"

केवल फाटक खोल देने के लिए एक रुपया पाकर उसने प्रसन्नता से फाटक खोल दिया।

विजय तुरन्त सिनेमा हाउस के पास जाकर रिक्शे में बैठ गया और पुनः ब्रजमोहन के दरवाज़े पर जाकर कुट-कुट करने लगा।

राजेश्वरी आहट पाकर तुरन्त उठ बैठी। लैम्प के प्रकाश को कुछ अधिक ज्वलन्त करके, वह झण्डासिंह के पास जाकर पुकारने लगी —"झण्डासिंह, झण्डासिंह !"

झण्डासिंह ऊ-ऊ कर आंखें मलता हुआ उठ बैठा।

राजेश्वरी बोली - "देखो। इस समय कौन बाहर कुट-कुट कर रहा है। कोई भी हो कह देना, साहब बाहर गए हुए हैं।"

झण्डासिंह ने किवाड़ खोले ही थे कि विजय दरवाज़े के भीतर आ गया और कुण्डी स्वयं अपने हाथ से बन्द कर ली।

झण्डासिंह बोला —"साहब घर में नहीं हैं। उनकी पत्नी ही अकेली हैं।"

विजय ने आंगन की ओर बढ़ते हुए कह दिया —"मालूम है।"

इस बातचीत को सुनते ही राजेश्वरी अनेक प्रकार की आशंकाओं से अभिभूत हो, कम्पित हो उठी।

किन्तु विजय बिना किसी रोक-टोक के भीतर चला गया—सीधे उसी कमरे में, जहां लैम्प जल रहा था।

भय-कातर दृष्टि से विजय की ओर देखती हुई राजेश्वरी बोली—"आप तो चले गए थे। फिर कैसे आ गए? और तब जब आपके मित्र घर में नहीं हैं।"

विजय ने अनुभव किया कि परिस्थितियां आदमी को कितनी दयनीय बना देती हैं। आज राजेश्वरी की दृष्टि में मैं कितना हीन बन गया हूं! यद्यपि आज का विजय वह विजय नहीं जो इसी राजेश्वरी के सामने उस दिन था। सच है, परिस्थितियों के बदल जाने पर भी मानव-चरित्र के मूल्यांकन में कोई अन्तर नहीं पड़ता।

बिना समक्ष दृष्टि डाले उसने कह ही दिया—"हां, आ ही गया" फिर दृष्टि ऊंची कर ली और बोला—"किन्तु राजेश्वरी, एक बात पूछूं, अगर तुम बुरा न मानो।" फिर राजेश्वरी के उत्तर की प्रतीक्षा न कर कह दिया, "भाई बना लेने के बाद भी मुझसे डर रही हो?"

राजेश्वरी एक बार विजय के मुख की ओर देखकर अवाक् हो उठी। नत-शिर होकर धीरे से उसने कह दिया—"जान पड़ता है अब भी घाव भरा नहीं है!"

"भर गया है राजेश्वरी। तुमको मालूम नहीं। उस घटना के बाद मेरे अन्दर का वह विजय मर गया है। सन्तोष इतना ही है, यदि मैं वास्तव में मर जाऊं, या किसी तरह फांसी ही पाऊं, तो मुझे कोई दु:ख न होगा।"

इतनी बात विजय इधर-उधर देखता हुआ गम्भीरतापूर्वक कह रहा था, किन्तु इसके बाद वह थोड़ा मुस्कराता हुआ बोला—"उस दिन अपने बहनोई के फोटो-ग्राफ को दिखलाने के लिए मैंने जब तुमसे आग्रह किया था, तब कदाचित् तुमने सोचा होगा कि यह क्षुद्र व्यक्ति मेरी सखी नयनतारा के भाई होने का अनुचित लाभ उठा रहा है। लेकिन जिस अनुचित लाभ की चरम कल्पना में तुमने मुझे क्षुद्र समझने की धृष्टता की, उसकी भूख के नाते भी सभी मनुष्य एक-से नहीं होते। उनमें भी भेद होता है। और उस भेद का परिचय मैं तुमको दे चुका हूं। आज तुम्हारी स्थिति दूसरी है। आज तो ब्रजमोहन की पत्नी होने के नाते तुम मेरी भाभी हो! अच्छा तो है। पहले भाई बनाया। अब देवर बना लिया है। मैं इसको कम उन्नति नहीं समझता। लेकिन कहीं किसी भाभी को मैंने देवर से

डरते हुए नहीं देखा !"

राजेश्वरी ने अनुभव किया, यह स्वर जहां से फूट रहा है वहां कोई व्रण है जो कदाचित् आघात के कारण कच्चा फूट गया है। इसलिए पीव के साथ-साथ रक्त भी निकल पड़ा है।

तब वह बोली—"आप मुझसे बड़े हैं। मैं बहन बनूं या भाभी, आपके प्रति मेरा आदर जो एक बार मन में स्थापित हो गया है वह अपने स्थान से कभी हटेगा नहीं। लेकिन आप यह भूल जाते हैं कि यह संसार, यह समाज वैसा उजला नहीं है जैसे समुज्ज्वल आप हैं।"

इस कथन के बाद एक निःश्वास को भीतर ही भीतर शमन करती हुई राजेश्वरी ने कह दिया—"और जब हमें इसी समाज और दुनिया में रहना है, तो उसकी मान्यताओं की उपेक्षा हम कर ही कैसे सकते हैं !"

विजय सोचने लगा—'इसका अभिप्राय तो यह हुआ कि इसको समाज का ही भय अब रह गया है, अर्थात् अहम् का अब कोई प्रश्न नहीं रह गया।'

तब उसने अपना बैग खोलते हुए कह दिया—"मैं कहां जाऊं, कब जाऊं और कब लौटूं, इसका कुछ ठीक नहीं। मेरे पास ऐसी कोई सुरक्षित जगह भी नहीं, जहां इस रकम को रख सकूं। अब तक किसीको ऐसा बना भी न सका, जिसको सम्पूर्ण रूप से अपना समझ सकता। रुपये ऐसे ज़्यादा भी नहीं, केवल ढाई हज़ार हैं। इनको अपने पास रख लो। ज़रूरत समझना, तो खर्च कर डालना। वैसे है तो यह रकम दीन-दुखियों की सहायता के लिए।···कभी-कभी मेरे पास रुपया रह नहीं जाता था। पर मांगने वाले तो कभी यह जान सकते नहीं थे। फिर सोते समय वे सब दुःखी मुख, उनकी रिरियाती आर्तवाणी, हाथ पसारने की हीनता, डबडबाई हुई आंखें, गलित-जर्जर अंग याद हो आते। जब किसी प्रकार अपने को नियंत्रित न कर सका, तब यह पाप कर बैठा। इसी बहाने अचानक तुम्हारी झलक दिख-लाई पड़ गई। क्षोभ में आकर कुछ नादानी कर बैठा। प्यार के बदले जो बर्बरता हो गई, उसपर रोया बहुत, पर उससे क्या होता है ! दुनिया को तो कार्य से मतलब है। मन के भीतर कितना क्रन्दन आच्छन्न है, कौन देख पाता है !"

राजेश्वरी ने कभी सोचा न था, विजय के आंतरिक रूप की शोभा ऐसी वन्द नीय है। वह कभी कल्पना भी न कर सकती थी कि इस दुबले और ठिगने व्यक्ति का हृदय इतना विशाल होगा। वितृष्णा का स्थान श्रद्धा ने ले लिया। तब सहसा

उसके मुंह से निकल पड़ा—"मगर ये रुपये और मैं !"

विजय उस समय नोटों की गड्डी उसी टेबल पर रख रहा था, जिसपर लैंप जल रहा था। राजेश्वरी की बात सुनकर किंचित् मुस्कान के ब्याज में बोला—"हां, रुपया और नारी ? प्रश्न सर्वथा उचित है। वैसे कहने को ही दो रूप हैं, दो शब्द हैं, पर वास्तव में एक लक्ष्मी शब्द में दोनों घिर जाते हैं। इसलिए मेरी समझ में विरोध का अवसर ही नहीं है। इसके अतिरिक्त नया-नया ब्याह हुआ है। दुलहिन के रूप में देखकर मुझे कितना सुख मिला, कह नहीं सकता ! कहना भी चाहूं, तो अवसर कहां है ! देवर की भेंट लौटाई भी नहीं जाती। रख लो—रख लो !"

कथन के साथ बैग उठाकर विजय खड़ा हो गया और बोला—"अच्छा, अब चलूंगा, नमस्ते।"

फिर वह तत्काल कमरे से बाहर हो गया। बरामदे में कुछ अंधेरा था। राजेश्वरी पीछे हो ली। सामने अंधेरा देखकर एक बार कम्पित हो उठी। फिर श्रद्धा-विनय-द्रवित वाणी में मुंह से निकल गया—"जब आ ही गए थे, तो बने रहते।"

कदाचित् प्रथम बार एक संतोष की सांस लेकर विजय ने स्थिर होकर कुछ घूमते हुए उत्तर दिया—"बना रहता राजेश्वरी, अगर तुम्हारे मन में आशंका और भय का लेश न रहता।" फिर चलता-चलता ठिठुक गया, मानो कुछ सोचने लगा हो, और बोला—"बच गया तो आऊंगा, मगर उस दिन, जब तुम्हारे मन का चोर निकल जाएगा।"

विजय का इतना कहना था कि राजेश्वरी तीर की भांति भीतर जाकर रुपयों की गड्डी उठा ले आई और उसे विजय के आगे बढ़ाती हुई बोली—"अपना रुपया लेते जाइए। मुझे इनकी बिल्कुल आवश्यकता नहीं और इनको रखने की मेरे पास जगह भी नहीं।"

द्वार के पास पहुंचता-पहुंचता फिर घूम पड़ा विजय। अब उसके होंठों पर हास आ गया था। तभी उसने कह दिया—"बन जाती है जगह राजेश्वरी ! तुम तो मनुष्य हो, मैंने तो पत्थर को भी जगह बनाते देखा है। मेरी भेंट समझकर स्वीकार करने में अहम् को ठेस पहुंच रही हो, तो ब्रजमोहन को दे देना। तुमको रुपया काट रहा है; पर उसको बहुत प्यारा है। रख लो, रख लो। बहुत नादानी

अच्छी नहीं होती।"

अब उत्तर की और प्रतीक्षा न कर विजय द्वार की कुण्डी खोलता हुआ बाहर हो गया।

राजेश्वरी क्षण-भर तक स्तब्ध मौन खड़ी रही। झण्डासिंह को सोया जानकर वह स्वयं आगे बढ़ गई। द्वार की कुण्डी बन्द कर कमरे में लौटती-लौटती पलंग पर औंधे मुंह लेट रही। बड़ी रात तक उसे नींद नहीं आई।

इससे पूर्व कभी किसी भी व्यक्ति के मुख से उसने ऐसी मर्मवाणी सुनी न थी। विजय का एक ही पक्ष अभी तक उसने देखा था, प्रतिशोध का। पर आज का स्वर उससे सर्वथा भिन्न था। उसमें दर्प था, भयानक और बर्बर। इसकी निष्ठा-विधा ही अलग है। एक ऐसा वंशी-रव, जिसमें असफलता और पीड़ा के स्वर मिश्रित हैं। एक ऐसा रुदन जो आंखों के बाहर तो नहीं फूटता, पर प्राणों का रस उंडेल देता है। उसे ऐसा प्रतीत हो रहा था, मानो यही एक ऐसा व्यक्ति है, जिसके उपालम्भ में भी प्रेम, विराग में भी राग और विरोध में भी अपनत्व है। अब उसको विजय के सारे कथन सूचि-वेधन-से लग रहे थे—

···'मर गया है राजेश्वरी, तुम्हें मालूम नहीं, मेरे अन्दर का वह बर्बर विजय अब इस संसार में नहीं है।'

···'उसपर रोया बहुत, पर उससे क्या होता है! मन के अन्दर कितना क्रन्दन आच्छन्न है, कौन देख पाता है!'

···'दुलहिन के रूप में देखकर मुझे कितना सुख मिला, कह नहीं सकता!'

···'बच गया तो आऊंगा अवश्य, मगर उस दिन, जब तुम्हारे मन का चोर निकल जाएगा!"

···'अनुचित लाभ की जिस चरम कल्पना में तुमने मुझे क्षुद्र समझने की धृष्टता की, उसकी भूख मिटा लेने के नाते भी सभी व्यक्ति एक-से नहीं होते!'

राजेश्वरी के आंसू रुक नहीं रहे थे! पलंग पर पड़ी हुई इस भांति तड़प रही थी, जैसे पुष्करणी से विलग होकर मीन तड़पती है।

ब्रजमोहन दो दिन बाद वापस आ रहा था। रास्ते में चौराहे के पास पान खाने के लिए रिक्शा रुकवाकर खड़ा हुआ था कि उसी समय एकाएक दिखाई पड़ गया झण्डासिंह जो साग लेकर वापस लौट रहा था। ब्रजमोहन को खड़ा

देखकर नमस्ते करते हुए पास आ गया। ब्रजमोहन ने पूछा—"कहो सब ठीक-ठाक ?"

झण्डासिंह ने उत्तर दिया—"हां भैया, और तो सब ठीक है। पर वही साहब फिर आए थे। जिस दिन आप गए थे न, उसी दिन बड़ी रात को।"

"कौन ? विजय ?"

झण्डासिंह ने कह दिया—"हां, वही।"

ब्रजमोहन ने उत्तर में तो कुछ नहीं कहा, पर भीतर से जैसे 'ए' करेण्ट के आघात ने झकझोर डाला हो। पान खाकर रिक्शा पर बैठते हुए कह दिया—"चलो, तुम भी इधर बैठ जाओ।"

झण्डासिंह लपककर रिक्शे के पांवदान पर बैठ गया। घर पर पहुंचकर ब्रजमोहन चुपचाप रिक्शे से उतरकर भीतर चला गया।

झण्डासिंह ने बिस्तर और साग का झोला उठाकर रिक्शा वाले से पूछा—"कितने पैसे तय हुए थे ?"

"छः आना।" रिक्शा वाले ने रिक्शा मोड़ते हुए कह दिया।

झण्डासिंह के हाथ में बचे हुए पैसे थे। उसने छः आने गिनकर देते हुए कहा—"यह लो।"

पैसे लेकर रिक्शा वाला चला गया।

ब्रजमोहन भीतर जाकर पलंग पर समेटे हुए बिस्तर के सहारे उढककर सिगरेट सुलगाने लगा।

राजेश्वरी उस समय स्नानागार में थी। लौटते ही उसने देखा कि स्वामी आ गए हैं। तब वह भी उस कमरे में जा पहुंची।

ब्रजमोहन ने आंख उठाकर भी उसकी ओर नहीं देखा और न कोई बात ही पूछी। स्वामी की इस अप्रत्याशित गम्भीरता से राजेश्वरी शंकित हो उठी। उसके मुंह से निकल गया—"तबियत तो ठीक है ?"

ब्रजमोहन ने बिना सिर ऊपर उठाए कह दिया—"ठीक ही है।"

राजेश्वरी स्वाभाविक स्वर में बोली—"मुझे तो ठीक नहीं जान पड़ती। रात में ट्रेन पर सोने का अवसर न मिला होगा।"

ब्रजमोहन ने कोई उत्तर नहीं दिया।

तब राजेश्वरी सोचने लगी—ज़रूर कोई खास बात है, फिर भी द्वार तक

आकर बोली—"अरे झण्डासिंह, साहब की चाय तो ले आओ !" कथन के साथ एक कुर्सी खिसकाकर पलंग के पास ही बैठ गई और बोली—"उस दिन जब तुम चले गए, तो बड़ी रात गए तुम्हारे वही मित्र फिर आए थे। दरवाज़े पर कुट-कुट की आहट सुनकर मैंने जो झंडासिंह को भेजा कि देखो कौन है ? जो कोई भी हो, कह दो कि साहब घर में नहीं हैं। पर ज्योंही उसने दरवाज़ा खोला, त्योंही बिना उसकी कोई बात सुने हुए यह कहते हुए वे भीतर आ गए कि मुझे मालूम है। फिर मैंने तो प्रतिक्रियावश कह दिया कि आप तो चले गए थे, फिर इतनी रात गए आ पहुंचे; सो भी यह जानते हुए कि जिनके घर जा रहे हैं वे घर में नहीं हैं।—यह बात उन्हें कुछ बुरी लगी और इसपर अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त किए बिना न रह सके। लूट की रकम कुछ उनके पास थी, वही देने आए थे। मैंने लेने से इनकार किया तो जो मन में आया, बकते रहे। मुझे उनकी बातों में प्रतिक्रिया और हीनभावना दोनों का एकसाथ आभास मिला। फिर यह सोचकर कि ऐसे आदमी से सम्बन्ध रखना अपने को संकटापन्न बनाना है, मैंने वह रकम उनको वापस देने की बड़ी चेष्टा की, तब बोले—फिर वही नादानी ! फिर वही बचपना !—यह भी कहा कि मेरी बहन भी हो, भाभी भी हो। इन सब बातों से मैं इस परिणाम पर पहुंची कि इनका मन विकारग्रस्त है। जितनी देर रहेंगे, घर में अशान्ति बनी रहेगी। इसलिए मैंने रुकने का आग्रह नहीं किया।"

इन सब बातों को चुपचाप सुनकर ब्रजमोहन ने सिर उठाते हुए उत्तर दिया—"तुमने जितनी बातें कहीं, सब सही हो सकती हैं—केवल एक बात को छोड़कर, पर वह बात मुझे पहले भी खटकी थी और आज जब जान-बूझकर तुमने फिर उसे दोहरा दिया, तब तो मेरी आशंका और भी पक्की हो गई है।"

राजेश्वरी की मुख-श्री तत्काल विवर्ण हो गई। भृकुटियां तन गईं और अधर कंपित हो उठे। अनायास मुंह से निकल गया—"आप जो कहना चाहते हैं उसे स्पष्ट क्यों नहीं कहते ?"

ब्रजमोहन ने उत्तर दिया—"अभी विजय के परिचय में तुमने एक शब्द कहा था—आपके मित्र। उस दिन जब विजय ने इस घर में प्रवेश किया था तब भी तुमने यही न कहा था कि देखो कौन आया है ? अब इस सम्बन्ध में मुझे तुमसे यह पूछना है कि क्या उस अवसर से पूर्व उसके साथ तुम्हारा कोई सम्बन्ध, कोई परिचय न था ? एक मेरे मित्र होने के कारण ही तुमने उससे बातचीत की थी ? और

दुबारा जब वह आया, तब यह तो जानता ही था कि मैं घर में नहीं हूं, फिर भी जो आ ही गया, उसके मूल में क्या था ? और दैनिक समाचारपत्र को तुम पढ़ती ही हो। क्या तुमको यह नहीं मालूम कि वह कॉरोनेशन होटल में पकड़ लिया गया है। एक बात और भी है। उसे तुम भी जानती हो और मैं भी अब जान गया हूं। अगर वह बात सही है तो मुझे सबसे अधिक आपत्ति इसीपर है कि तुमने मुझसे उस सम्बन्ध में कभी चर्चा करना तो दूर रहा, संकेत तक नहीं किया। और आज भी तुम जो सफाई दे रही हो उसका अर्थ यही तो होता है कि तुम असूर्यम्पश्या बन रही हो !"

राजेश्वरी एक क्षण स्थिर रही। यह तो उसे विदित हो गया कि जिस संकट की संभावना थी वह सामने है; पर उसी क्षण वह यह भी जान गई कि इन आशंकाओं, आरोपों, निराधार-साधार कल्पनाओं का मूल कारण और कुछ नहीं — मेरा यह अप्रतिम रूप है, जिसका मुझे निरन्तर गर्व रहा है। अतएव इस समय तो इसका उत्तर यही हो सकता है कि बिना ननु-नच किए मैं इनसे विदा ले लूं। तब तत्काल उसके मुंह से निकल गया—"अब मैं तो कुछ कहना नहीं चाहती, पर इन्हीं बातों के लिए तुम स्वयं पछताओगे। तुम समझते हो कि यह कोई ऐसी दुर्बलता है जो एकदम से अमानवीय और अस्वाभाविक है, और तुम स्वयं मानवीय दुर्बलताओं से बिलकुल परे हो। आज जिन आधारों को लेकर तुमको मेरा अपमान करने का साहस हुआ है, उनका मूल्य मैं समझती हूं। मुझे दुःख इसी बात का है कि ऐसा लांछन मैं उस व्यक्ति के मुंह से सुन रही हूं जिनकी मैं तीसरी पत्नी हूं सो भी वैधानिक रूप से !"

कथन के साथ राजेश्वरी तत्काल उठकर दूसरे कमरे में चली गई। द्वार के अन्दर प्रवेश करते-करते उसके नयन सजल हो उठे और पलंग तक पहुंचते-पहुंचते तो वह सिसकियां ले-लेकर रो पड़ी।

इसी समय झंडासिंह चाय लेकर ब्रजमोहन के कमरे में आ पहुंचा। ब्रजमोहन ने एक झटके के साथ सिगरेट दरवाज़े के बाहर फेंक दी और कमर पर हाथ बांधे हुए कमरे में इधर-उधर टहलने लगा।

झंडासिंह यह समझ गया था कि आज मालिक और मालकिन में कुछ मन-मुटाव हो गया है। अतएव वह राजेश्वरी के पास जाकर बोला—"साहब के पास चाय मैं रख आया हूं और आप रो रही हैं। मुझे इस बीच में बोलने का कोई हक

तो है नहीं। स्वामिनी होने के नाते आपका दर्जा मां के समान है। इसलिए मेरी विनती यह है कि इन बातों को भूलकर आप साहब को चाय तो पिला दें।"

राजेश्वरी ने क्रुद्ध सिंहनी के रूप में गरजते हुए कहा—"बको मत, अपना काम देखो। मुझे अपने कर्तव्य के सम्बन्ध में किसीसे सलाह लेने की आवश्यकता नहीं।"

अब उस घर में तीन आदमी थे। लेकिन कोई किसीसे बोल नहीं रहा था। ब्रजमोहन स्नानागार के अन्दर था और राजेश्वरी अलमारी खोलकर अपना सामान इकट्ठा कर रही थी।

इतने में बिजली वाला आकर झंडासिंह से कहने लगा—"मैंने करेण्ट मेन स्विच से ज्वाइन कर दिया है। सब जगह बत्ती जलाकर देख लो और साहब को बता दो।"

राजेश्वरी के कमरे में जाकर झंडासिंह बिजली जलाने लगा, तब राजेश्वरी की दृष्टि बल्व पर जा पड़ी। उसे अपने उस कथन का स्मरण हो आया कि बिजली उस दिन आएगी जब मैं यहां से विदा होने लगूंगी!

रिक्शा कॉरोनेशन होटल के अन्दर चला गया।

रिक्शे वाले को विदा करके विजय नम्बर नौ के कमरे में पहुंचकर पुनः सो गया। सवेरा अभी हुआ ही था। ज्योंही उसने कपाट खोले तो देखा कि पन्ना सामने उपस्थित है। देखते ही बोला—"चिट्ठी मिल गई थी न ?"

पन्ना हंस पड़ी! बोली—"चिट्ठी न मिलती तो यहां कैसे आती ? सो भी किसी तरह समय निकालकर आई हूं।"

"क्या मतलव ?"

"मतलब यह है कि मुझको इसी वक्त एक क्लास लेना पड़ता है। आपको लिखा तो था मैंने।"

विजय कपड़े बदलने लगा। ब्वाय ने आकर पूछा—"साहब, चाय लाऊं ?"

विजय ने उत्तर दिया—"अभी तुम जाओ, फिर बताऊंगा।"

ब्वाय चला गया।

पन्ना बोली—"तुमने घर में आना छोड़ दिया। सब लोग तुम्हारी बहुत याद करते हैं। मैंने और भी एक बात सुनी है!"

विजय ने पंखा प्रथम स्तर में छोड़ दिया, फिर किवाड़ बन्द करने लगा, तो पन्ना ने आपत्ति करते हुए कहा—"ऐसा मत करो। बन्द चाहे कर लो, मगर सिटकिनी मत लगाओ।"

विजय हंसने लगा।

२०

साधारण रूप से पन्ना बहुत बुद्धिमान लड़की थी। वह अपना हित-अहित भली भांति समझती थी। वह जानती थी कि ऐसे असामाजिक और अमर्यादित, एक सीमा तक उच्छृंखल व्यक्ति के साथ मैं सुखी नहीं रह सकती, किन्तु सुख के सम्बन्ध में उसकी मान्यता अभौतिक थी। उसके पिता एक ज़मींदार थे। स्वत: उसका बचपन ग्राम में बीता था। वह देख चुकी थी कि बेझर की रोटी नमक या अचार के साथ खाने वाले बच्चे भी कितने स्वस्थ और सुन्दर होते हैं। उसने देखा था कि जो चरवाहे गाय-भैंस चराने को, प्रात:काल सूर्योदय के बाद ही घर से निकल जाते, और गोधूलिवेला में लौटते हैं, उनकी पत्नियां भी खेतों में काम करती हुई बड़ी प्रसन्न दिखाई देती हैं।···फिर ऐसा बौद्धिक युवक उसे कहां तक सुखी न रखेगा !

इस विचार को वह मन ही मन इतनी दृढ़ता से जमाए रहती कि गोविन्द जब कभी विवाह का प्रश्न उठाता, तब वह अपनी भाभी से यही कह देती — "मैं तो स्वतन्त्र रूप से जीवन बिताना चाहती हूं और विवाह में वह सम्भव नहीं है।" उसके इस कथन में यही भावना निहित रहा करती थी कि भविष्य में जब कभी विजय किसी उत्तम और स्थिर जीवन-मार्ग पर आ जाएगा, तब यदि विवाह आवश्यक होगा, तो यह बन्धन भी कितना प्यारा लगेगा !

सोचते-सोचते पन्ना को वे सभी तर्क याद आ जाते, जिन्हें भैया की बैठक में मित्रों के सामने वह प्रस्तुत किया करता था। उन तर्कों से पन्ना बहुत प्रभावित थी और इसीलिए उसके संवेदनशील मन में यह भावना आ ही जाती

थी कि फिर ऐसे व्यक्ति का जीवन नष्ट हो जाना चाहिए ? और पन्ना के प्रश्न का उत्तर उसकी आत्मा से सदैव विजय के पक्ष में ही मिला करता था ।

जब-जब विजय उसके घर से चला जाता, तब-तब प्राय: ऐसा होता कि उसके मन का सारा उत्साह तिरोहित हो जाता था । वह सोचने लगती—'जब अपने मन का दु:ख किसीसे कह नहीं पाते, तब न जाने इनपर क्या बीतती होगी! कौन जाने, किस आवश्यकता से आए हों !' कई बार उसके मन में आया, 'आज अवसर मिलने पर पूछने की चेष्टा करूंगी ।' पर फिर स्थिति देखकर यह विचार भी धूमिल पड़ जाता । घर में वातावरण कुछ इस ढंग का रहता था कि वह अपने मन की बात भी उससे कह न पाती थी ।

उधर विजय की स्थिति यह रहती कि वह अधिक से अधिक देर तक पन्ना का शारीरिक गठन, देह-यष्टि की भावानुरूप लोच और भाव-परिवर्तन के क्षण भंगिमाओं की सौन्दर्य-दीप्ति निहारता रह जाता ।

उस दिन सड़क पर जब पन्ना उसे मिली और उसने बतलाया कि जब आप चले गए, तो मुझे बिलकुल अच्छा नहीं लगा, तब उसके मन में आया कि अगर स्वतन्त्रता होती, अथवा वह किसी कमरे में उसे अकेला पा जाता, तो स्वतन्त्रता न होने पर भी उसको एक-दो बार प्यार किए बिना किसी तरह न मानता ।

फिर भी विजय अपनी क्षण-क्षण की परिवर्तनशील भावनाओं के प्रति कम से कम अपने मन से तो उत्तरदायी बना ही हुआ था । कदाचित् इसलिए वह सोचने लगता कि यह अनुबन्ध और मर्यादाएं तो उस समाज के लिए हैं जो स्वत: मर्यादाशील है । यदि मेरी मां को न्याय मिला होता और मेरे पिता दूसरा विवाह न करते, तो क्या यही मेरी गति होती ? माना कि, मैं थोड़ा-बहुत उच्छृं-खल भी हूं और अनुकूल परिस्थिति आए बिना जीवन को समझने में कभी-कभी जल्दी भी करने लगता हूं, किन्तु क्या यह स्वाभाविक नहीं है ? एक तृप्त और भूखे आदमी के चाल-व्यवहार में जो अन्तर होता है, वही यदि मुझमें है, तो इसमें आपत्ति और आश्चर्य का स्थान कहां है ?

और भी एक बात थी । माना कि पन्ना के साथ उसका मिलन प्रकारान्तर से ही होता था, किन्तु विजय सोचता था कि आंखों की भाषा तो छिपाए छिपती नहीं । उसी दिन बस में जब वह बैठने लगी और कण्डक्टर ने विजय को उठने का आदेश दिया, तो उसने कह दिया—'बैठ रहिए—बैठे रहिए । दो की जगह

है, मैं भी बैठ जाऊंगी ।'

उस समय वह अच्छी तरह से समझ गया था कि यदि इसके मन में मेरे लिए सुरक्षित स्थान न होता, तो मेरे साथ इस तरह उसका बैठना कभी सम्भव न होता । इसलिए उसने इन परिस्थितियों से लाभ उठाकर अपने मन की बात स्पष्ट कर दी थी । यद्यपि पन्ना के उत्तर से उसे संतोष न हुआ था, फिर भी उसकी आशा को आश्वासन तो मिला ही था ।

उसके बाद विजय ने उसके पास एक पत्र भेजा था, जिसमें उसने लिखा था कि कभी-कभी मैं अपना संतुलन खो देता हूं, इसलिए अगर कोई बात आपकी भावना को ठेस पहुंचाने वाली हो गई हो, तो मुझे क्षमा कर दीजिए । यही समझ लीजिएगा कि मैं चारों ओर से तिरस्कृत एक अनाश्रित प्राणी हूं, उन्माद-ग्रस्त और अशिष्ट । मन को बहुत समझाता हूं, पर क्या करूं, कभी-कभी तो विवश हो ही जाना पड़ता है—सच पूछो तो उसकी यह विवशता ही पन्ना को उसके प्रति इतना उदार बनाती चली जा रही थी । विजय जब कभी अपने को चारों ओर से विच्छिन्न समझने लगता, तो पन्ना उसकी हर आवश्यकता को समझने के लिए विह्वल हो उठती । उसे हर तरह से खुशी देखने के लिए वह पगली इतनी उतावली हो उठती कि यह भी न सोचती, आखिर उसे विजय की इतनी आवश्यता क्यों है ?

उस रात प्रातःकाल होने की प्रतीक्षा में लेटी हुई पन्ना चार बजे से ही जग रही थी । उसका मन उत्साह से भरा हुआ था । उसे लग रहा था, जैसे आज उसके विवाह का दिन हो और बरात के आगमन की प्रतीक्षा में वह नववधू, सर्वस्व-समर्पण की भावी कल्पना में, आत्मविभोर हो उठी हो । तब उसे उस अवसर का स्मरण हो आया । आज की ही तरह वह अपने अध्ययन-कक्ष में लेटे-लेटे कोई पुस्तक पढ़ रही थी और अकस्मात् विजय आ गया था । गोविन्द बाबू घूमने चले गए थे । उसने बैठक खोल दी थी । शची भाभी ने सुना, तो वे अपनी जो साड़ी नहाकर पहनने जा रही थीं, उसीको पहनकर मुस्कराती हुई आ पहुंची थीं । साक्षात्कार होते ही उन्होंने कह दिया था—'आप जब कई दिन का गोता लगा जाते हैं, तब मुझे ऐसा जान पड़ता है कि कहीं किसी जगह फंस गए हैं । वैसे फंस जाने में अच्छा तो लगता है, पर तभी, जब साथी मन का हो । है कि नहीं ?'

—भाभी की हंसी यों भी प्रसिद्ध है । उस समय भी वे खिलखिला रही थीं ।

—वे उत्तर न देकर मुस्कराते-मुस्कराते फाउण्टेनपेन से सामने पड़े हुए दैनिक पत्र पर कुछ लिखने लगे थे।

—तब भाभी के सामने सकुचाते-सकुचाते मैंने पूछा था—'देखूं क्या लिखा है ?' पर हाथ भाभी ने बढ़ा दिया था। पहले वे उनकी आंखों में आंखें डालकर रह गए। मैं सोचने लगी—इनकी यह आदत बड़ी खराब है। जिस तरह मुझे देखना चाहिए, उस तरह ये किसी और को क्यों देखते हैं ?—फिर उनका नीचे का होंठ हिल उठा, एक भ्रू की प्रत्यञ्चा चढ़कर नमित हो गई और उन्होंने समाचारपत्र का वह अंश भाभी के सामने कर दिया। भाभी झुककर देखने लगीं। उसमें लिखा हुआ था—'मन का मीत कहां मिलता है ?'

पंक्ति पढ़कर भाभी उछल पड़ी थीं। बोलीं—'ओः, आप तो कवि हैं ! कितनी सुन्दर पंक्ति आपने लिख दी ! हमें भी कविता लिखना सिखा दीजिए न ?'

—उस समय मेरे मन में आया—काश, इस तरह मुझे भी बातें बनाना आता होता !

—एक-एक बात का स्मरण है। कितना विचारपूर्ण उत्तर उन्होंने दिया था —'जैसे सत्य सिखाया नहीं जाता, प्रेम पढ़ाया नहीं जाता, ठीक उसी भांति कविता लिखना बतलाया नहीं जाता, जैसे भगवान आंखें सबको देता है, पर वह चितवन तो सबके पास नहीं होती, जो एक विचारक को घर जाने से रोक ले।'

—'अच्छा अगर मैं आपको घर जाने से रोक लूं, तो ?'

—भाभी की इस बात पर वे उठकर खड़े हो गए थे। चप्पल पहन ली थीं और उन्मन-गम्भीर-से होकर कहने लगे थे—'क्षमा करेंगी। मुझे एक बहुत आवश्यक कार्य याद हो आया। जाना ही पड़ेगा।'

—आः ! उनकी यह प्रतिक्रिया उस समय मुझे कितनी प्यारी लगी थी ! भाभी का मुख विवर्ण हो उठा था और मैंने उनकी सम्मान-रक्षा के भाव से कह दिया था—'पर आपको आए हुए अभी देर ही कितनी हुई, फिर भाभी के प्रश्न में गर्भित ऐसे अत्यधिक आग्रह पर भी आप चले जाएंगे, तो वे अपने मन में क्या कहेंगी ?'

— उन्होंने विमल हास झलकाते हुए अन्तर की मर्मवाणी में उत्तर दिया — 'उन्हें अधिकार है, चाहे जो कह लें। अप्रसन्न भी हो जाएंगी, तो उन्हें मना लेने

की शक्ति भगवान ने मुझे दी है।'

—अपना मनोभाव व्यक्त करने में उन्होंने पहले तो—ऐसा जान पड़ता है—मेरे प्रति अपने प्रच्छन्न अनुराग की रक्षा की, उसके बाद भाभी के सम्मान की।

—उस समय मुझे कुछ ऐसा लगा, जैसे एकमात्र मैं हूं जो उन्हें ठीक तरह से समझ पाई हूं। पहले जो भाभी गम्भीर हो गई थीं, वही अब प्रमुदित होकर बोलीं—'अच्छी बात है। जाना ही है, तो चले जाइएगा; पर कम से कम चाय तो पीते जाइए। तीन मिनट से अधिक नहीं लगेंगे।'

—कथन के साथ ही भाभी तुरन्त ही चली गई थीं और उन्हें रुकना पड़ा था। ऐसे अवसर पर मुझसे बोलते न बन रहा था। उन्होंने ही मौन भंग करते हुए पूछा था—'पढ़ाई कैसी चल रही है?'

—नतशिर गम्भीर होकर मैंने उत्तर दिया—'पढ़ाई बन्द कर देनी पड़ी।' एक बार मन में तो आया कि वास्तविक कारण बता दूं। फिर जब आत्मा की गवाही मिलने में देर होने लगी, तो मैंने कह दिया—"मां को खर्चा देने में कष्ट होने लगा था और भैया के सिर पर भार डालना मुझे अपने सम्मान के विरुद्ध जान पड़ा।'

—मेरा उत्तर सुनकर वे इतने आश्चर्य में पड़ गए थे कि मुख विवर्ण हो उठा था। क्षण-भर स्थिर रहकर उन्होंने कह दिया—'अब भी अगर तुम पढ़ना चाहो, तो खर्चे की व्यवस्था मैं कर सकूंगा।'

—उनकी इस बात पर पहले तो मैं विस्मय में पड़ गई, फिर प्रफुल्ल-विह्वल मन में विचार हो आया—'चलो, इनको इतना ध्यान तो हुआ।' एक लहर-सी शिरा-शिरा, लोम-लोम में व्याप्त हो गई थी। उद्वेलित मन से मैंने कह दिया था—'आप कैसे करेंगे, इस समय तो यह बात मेरी समझ से बाहर है। हां, अगर कहीं···। मगर कहना व्यर्थ है। आप मेरा कहना क्यों मानने लगे। आपकी यह कविता ही स्पष्ट बतला रही है।'

—सोफे वाली दो कुर्सियां अलग-अलग रखी थीं। एक पर मैं थी, दूसरी पर वे। उत्तर में पता नहीं किस प्रकार उनके पैर का अंगूठा मेरे तलवे से जा लगा। स्पर्श-मात्र से स्तम्भित, रोमाञ्चित हो, अप्रत्याशित विकर्षण से आक्रान्त होती-होती मैंने कृत्रिम विरोध में कहा था—'जल्दबाज़ी में पड़कर जो लोग

अवसर और परिस्थिति का ध्यान नहीं रखते, उनके लिए इस कविता में वर्णित शिकायत सदा बनी रहेगी।'

—उन्होंने तुरन्त कह दिया—'मैं शिकायतों से नहीं डरता। कम से कम इतना तो तुम्हें मालूम ही होगा !'

विजय की इस बात का जो उत्तर उसने दिया था, उसका स्मरण कर वह अपने-आप मुस्कराने लगी। उसकी आंखों से लग रहा था जैसे वे शून्य में लिखे हुए इन शब्दों को पढ़ रही हों—'तभी तो यह हालत बना रखी है। ज़रा शीशा लेकर मुंह देख लो।'

—तब उन्होंने पुनः कहा था—'बहुत सजग रहने लगी हो मेरे विषय में। आज बहुत दिनों के बाद पता चला है। वास्तव में, बहुत दुर्बल जान पड़ता हूं ? वैसे मानवी दुर्बलताओं की मुझमें कमी नहीं।...खैर, मैं चाहूं तो बहुत कुछ कर सकता हूं। मगर फिर सवाल उठता है—चाहूं ही क्यों ? क्योंकि मान लो, चाहूं कि तुम मेरे साथ आज ही चल दो कहीं, तो क्या तुममें इतना साहस उत्पन्न होगा ?'

पन्ना सोच रही थी, 'जब उन्होंने यह उत्तर दिया था, तो मुझे जिस हर्ष, जिस सुख और जिस सौभाग्य का अनुभव हुआ था वह केवल मां पार्वती को उस समय हुआ होगा जब ब्राह्मण का वेश त्यागकर भगवान शिव उनको अपनी पत्नी के रूप में स्वीकार करने का वरदान दे रहे होंगे। फिर भी नारी-हृदय की रहस्यमयी स्वाभाविक सत्ता को अक्षुण्ण रखने के लिए मैंने विरोध की भाषा, किन्तु मनभाई वाणी में कह दिया था—'राम, राम ! यह आपको क्या हो जाता है कभी-कभी ?'

—तब वे पहले मेरी ओर इकटक कुछ इस तरह देखते रहे, जैसे मुझे आंखों से ही पी जाएंगे। फिर एकाएक उनकी आंखें भर आई थीं और रूमाल से उन्हें ढककर उहोंने कह दिया था—'तुम नहीं जान सकोगी पन्ना !'

—उनके आंसुओं को देखकर मेरी आंखें न जाने क्यों अपने-आप छलक पड़ीं। भगवान जानता है, मुझे इन अपने आंसुओं के सम्बन्ध में पहले से कुछ नहीं मालूम था। फिर एकाएक मुझे ऐसा लगा, जैसे जीवन बदल गया हो।

आज भी जब पन्ना विजय से मिली तो साक्षात्कार होते ही उसने देखा कि उसका व्यवहार उत्तरंग है उसकी इच्छाएं भड़की हुई हैं। तब वह विचार में पड़

गई। द्वार की सिटकिनी बन्द न कर जब वह पलंग पर आकर बैठ गया, तो उसने कहा—"तुमने सिटकिनी लगाने से मुझे जिस भाव से रोका है, उसको मैं समझता हूं। किन्तु, फिर हमारे मिलन का अर्थ ही क्या होता है?"

पन्ना गम्भीर हो गई। बोली—"यह मेरे साथ आपका घोर अन्याय है। हम दोनों आज उस जगह पर आकर खड़े हो गए हैं, जहां पहुंचकर पीछे लौटना सम्भव नहीं। इसलिए कुछ आवश्यक प्रश्नों और उनके समाधान के सम्बन्ध में विचार कर लेना अनिवार्य हो गया है।"

"तुम शायद यह कहना चाहती हो कि मैं अन्धा हूं। मुझे कुछ दिखाई नहीं पड़ रहा है। तुम्हारे मन में यह बात भी आती होगी कि मैं निराश्रित और अकर्मण्य हूं, मेरी कोई सुनिश्चित जीविका नहीं है। क्यों, यही बात है न?"

पन्ना ने अभी तक बतलाया नहीं था कि उसने भी कुछ सोचा है; उसने भी एक तैयारी की है। पर जब विजय ने ही अपने मुंह से ऐसा प्रश्न उठा दिया, तो उसने अपनी बात छिपाकर सीधे तौर से कह दिया—"प्रत्यक्ष सत्य से हम कैसे इनकार कर सकते हैं? वस्तुस्थिति का मान तो हमें करना ही पड़ेगा।"

विजय पलंग से उठकर खड़ा हो गया। उसने कह दिया—"तुम्हारी इस बात का उत्तर तो मैं बाद में दूंगा। पहले यह बताओ कि तुमने कौन-सी बात सुनी है और किससे?"

पन्ना बोली—"भैया के मुख से तो नहीं सुनी, लेकिन भाभी के मुख से सुनी है।"

विजय को ध्यान आ गया कि उस दिन हीरा के यहां गोविन्द जा पहुंचा था। शायद यही बात पन्ना कहना चाहती है। तब वह कुछ अधिक गम्भीर हो उठा और उसने उत्तर दिया—"इस सम्बन्ध में आपत्ति तो उस व्यक्ति को हो सकती है, जिसके साथ मैंने अपने जीवन का सम्बन्ध स्थायी रूप से जोड़ लिया हो। गोविन्द यदि ऐसा काम करता, तो शची को ऐसे उपालम्भ का अधिकार था। लेकिन एक ओर तो पन्नारानी यह कहती हैं कि सिटकिनी बन्द मत करो और दूसरी ओर भूले-भटके, सो भी केवल कुछ घंटों के लिए, केवल खाने-पीने के नाम पर, केवल एकान्त में जी भरकर रोने के लिए अगर कहीं मैं चला गया, तो तुमको आपत्ति उठाने का अधिकार कहां रह जाता है? यह केवल तुम्हारा नहीं, उस सम्पूर्ण वर्ग का अत्याचार है, जो आज अधिकार और पद का ऐश्वर्य

भोग रहा है। भैया ने मेरे लिए नौकरी ठीक की थी, शायद इसी अधिकार में तुम ऐसी आपत्ति उठा रही हो। पर जब चपरासी से धक्के लगवाकर मुझे निकलवा देना चाहते थे, तब इस अधिकार के प्राणों में छिपा कर्तव्य कहां मर गया था ?"

यद्यपि पन्ना अपने भैया गोविन्द का पक्ष लेकर उसकी हार्दिकता का स्पष्टीकरण करना चाहती थी, तथापि अवसर प्रतिकूल समझकर वह बात टाल गई। प्रकट में बोली—"आप बहुत क्रोध में हैं। इसलिए आपकी बातों का इस समय मैं कोई उत्तर न दूंगी।····हां, अब यह बताओ कि इस समय सीधे स्टेशन से आ रहे हो ?"

"नहीं, मैं कल ही आ गया था। मुझे ब्रजमोहन से ज़रा मिलना था।"

"पर ब्रजमोहन तो कल कहीं बाहर चले गए।"

"जाने से पूर्व कुछ घंटों के लिए मैं उसके घर में ही था।"

विजय का इतना कहना था कि पन्ना को राजेश्वरी की रूप-राशि का ध्यान हो आया। वह सोचने लगी—'मुझसे मिलना तो एक बहाना था। असल में ये उसीके यहां आए हैं और वहीं ठहरे हैं।' ईर्ष्या की अग्नि उनके मन में सुलग उठी। किन्तु फिर उसने प्रश्न कर ही दिया—"कल ही आए थे, तो फिर इतनी जल्दी मुझसे मिलने की छुट्टी कैसे मिल गई ?"

विजय हंस पड़ा। बोला—"क्यों, ईर्ष्या होती है ? कहां-कहां पता लगाओगी ? लेकिन मुझे सब बेकार मालूम पड़ता है। आखिर इस सन्देह, इस अविश्वास, आशंका और उपालम्भ का आधार क्या है ?"

पन्ना बोली—"मैं आपसे बहस करने नहीं आई। अविश्वास भी मैं आपपर नहीं करना चाहती। आपका कहना भी सही है कि किस अधिकार से आपपर कोई नियन्त्रण लागू हो सकता है ? किन्तु द्यूत-क्रीड़ा में अधिकार अगर किसी पांसे का नाम हो जाए, तो एक दांव मैं भी लगा सकती हूं।"

अब विजय हंस पड़ा। बोला—"वादे वादे जायते तत्त्वबोधः। चलो, एक मतलब की बात तो सामने आई। देर में ही सही।"

ब्वाय को बुलाने के लिए टेबल में एक बटन लगी हुई थी। विजय ने झट उसको दबा दिया, फिर मुस्कराता हुआ बोल बैठा—"अब जिगर थामके बैठो, मेरी बारी आई। अब तक तुम्हारे यहां मोहन-भोग उड़ाता रहा हूं। आज तुम

मेरे इस निलय में जो चाहो सो खा-पी सकती हो ।"

किबाड़ अभी बन्द ही थे । विजय उठा और बिना एक क्षण का भी विलम्ब किए उसने पन्ना के अधरों पर प्रेम-चिह्न अंकित कर दिया ।

पन्ना ने कोई सक्रिय विरोध तो नहीं किया, पर तरंगित मन और सलज्ज मुस्कान के प्रकार में विलग होते-होते इतना तो कह ही दिया—"आज यह तुम को हो क्या गया ?"

"वही जिसको टालते-टालते मैं ऊब गया था ।" कथन के साथ विजय ने द्वार के कपाट खोल दिए ।

पन्ना गम्भीर होकर बोली—"पर तुम जानते हो, यह स्थिति निरापद नहीं है ।"

"जानता हूं । साथ ही यह भी जानता हूं कि हमारा यह जीवन आखिर है क्या ? अगर कल ही मैं कोई ऐसा कार्य कर बैठूं कि मुझे फांसी पर लटक जाना पड़ा, तो स्थितियों के भय से आक्रान्त बने रहकर भूखे ही मर जाने से संसार का कौन बड़ा हित हो जाएगा ?"

उत्तर सुनकर पन्ना कम्पित हो उठी । सहसा द्रवित होती-होती बोली—"भूलकर भी ऐसी कल्पना को मन में स्थान मत देना । मुझे तुम्हारी ऐसी बातें सुनकर कितना दुःख होता है, काश तुम जान सकते !"

कथन के साथ उसकी आंखों में आंसू भर आए ।

इतने में ब्वाय आ गया । पन्ना रूमाल से आंसू पोंछने लगी । विजय ने ऐसी परिस्थिति में ब्वाय के आ जाने की परवा किए बिना उसे चाय के साथ कुछ नमकीन और मिठाई लाने का आदेश दे दिया ।

अब दिन चढ़ आया था । ब्वाय जा रहा था । उसी समय पन्ना बोली—"जहां तक निर्वाह का सम्बन्ध है, अब चिन्ता का कोई कारण नहीं है । मैंने यह जो नौकरी कर ली है, केवल इसीलिए कि समय पर तुम्हारा कोई खर्च तो न रुके ।" और कथन के साथ पर्स निकालकर दस-दस के दस नोट उसने विजय की बुश्शर्ट की जेब में रख दिए ।

विजय पलंग पर लेट गया, कुछ इस विधा से करवट लेकर कि एकदम पेट के बल हो रहा । तकिया उसने छाती से लगा लिया । उसे फिर राजेश्वरी का स्मरण हो आया । जो दृश्य वहां उपस्थित हो गया, उसको लेकर वह सम्भ्रम में

पड़ गया। उसे उस रकम की भी याद हो आई, जो वह राजेश्वरी को सौंप आया था। इसी क्रम में उसे उन सभी दुखी, दरिद्री, निराश्रित और रुग्ण स्त्री-बच्चों के मरे-अधमरे शरीर, पिचके गालों और गड्ढों में धंसी हुई आंखों की याद आ रही थी, जो उसे निरन्तर राह-बेराह, नगर या गांव में मिलते रहते थे। उसी क्रम में वह सोचने लगा – 'पन्ना का यह रुपया भी क्यों न मैं इसी कोष में लगा दूं ?'

यह विचार ज्योंही उसके मानस में उठा, त्योंही उसने उसी तरह औंधे मुंह लेटे-लेटे अपना दायां हाथ कुछ इस तरह फैला दिया कि वह कुर्सी पर बैठी पन्ना की गोद में जा पहुंचा, ठीक उस स्थल पर, जहां स्वयं पन्ना का ही बायां हाथ था।

क्षण-भर तो पन्ना बिना कोई प्रतिक्रिया व्यक्त किए स्थिर बनी रही, पर फिर विजय की एक अंगुली उसके हाथ के उपर ही ऊपर वीणा की मिज़राब बनकर मर्म-स्पर्श का हेतु हुलसाने लगी, तो पन्ना सिहर उठी। बोली—"फिर तुमने मुझे भीतर से कुदेरना शुरू कर दिया !"

विजय ने हाथ थोड़ा समेट लिया। फिर करवट बदलने में एक बार पन्ना की आंखों में अपनी आंखें डालते हुए पूछा – "सच-सच बतलाना पन्ना, दुनिया में सबसे अधिक प्यारी वस्तु तुम्हारे लिए क्या है ?"

पन्ना जो कुछ विचार-मग्न-सी जान पड़ी, तो इतना और जोड़ दिया— "अभिप्राय यह है कि जिसे तुम किसी भी मूल्य पर छोड़ न सको।"

पन्ना अधखुले अधर खोलती हुई बोली —"विश्वास करोगे ?"

"सदा।"

"तुम्हारी वह प्रतिमा, जिसपर मैं आसक्त हूं। यहां तक कि अगर तुम्हारे साथ मुझे भूखा रहना पड़े, कपड़ों के अभाव में बाहर भी न निकल पाऊं, तो भी केवल तुम्हारी ऐसी बातें सुन-सुनकर जीवन काट सकती हूं !"

विजय एकाएक हंस पड़ा। बोला—"बड़ी भावुक हो।···अच्छा, अगर यह बात सही है, तब तो मेरा कोई भी कृत्य तुमको अप्रिय न होना चाहिए !"

पन्ना भी हंस पड़ी। बोली—"तुम कुछ नहीं जानते। तुमको कुछ ज्ञान नहीं है। तुम्हारा कोई कृत्य मुझे अप्रिय लगा है, यह तुम कैसे कह सकते हो ?"

"तुम्हारी इस आपत्ति से।"

"यह आपत्ति है ही नहीं, यह तो उपपत्ति है।"

उत्तर में उसने कुछ ऐसी भंगिमा बना ली कि विजय मुग्ध हो उठा।

इसी समय ब्वाय आ गया। पन्ना झट हाथ बढ़ाकर चाय ढालने लगी। विजय ने वार्तालाप का क्रम रोका नहीं वरन् उसे आगे बढ़ाते हुए कह दिया—"अच्छी बात है। अगले रविवार के दिन सिविल-मैरिज के लिए तैयार हो जाओ। जीवन का एक क्षण अब मैं इस प्रतीक्षा में नहीं खोना चाहता कि अभी अवसर नहीं है।"

पन्ना को इतनी प्रसन्नता कभी नहीं हुई थी। चाय ढालते-ढालते उसका कर-पल्लव एकाएक हिल उठा। प्रफुल्ल वाणी में वह बोली—"ऐसी जल्दी क्या है ?"

"यह बात अभी तुम समझ न सकोगी।"

पन्ना विचार में पड़ गई—'कैसे क्या होगा ?'

थोड़ी देर में जब वह चलने लगी, तो विजय ने रुपये वापस करते हुए कह दिया—"इन्हें मेरी ओर से तुम्हीं अपने पास रख लो। अभी तो मैं यहां हूं ही। जब आवश्यकता पड़ेगी, ले लूंगा।"

फिर द्वार की ओर पैर बढ़ाती-बढ़ाती अपने-आप पन्ना लौट पड़ी। बोली—"अब मैं कहीं न जाऊंगी। यों भी काफी देर हो गई है। दूसरे अब कहीं अन्यत्र जाने में मुझे अच्छा भी न लगेगा।"

विजय ने कमरे में लगा रेडियो खोल दिया। उस समय बूंदें पड़ रही थीं, बादल गरज रहा था और मोर बोल रहा था—पिया ओ !

इतने में एक प्रौढ़ दम्पती आते हुए सामने दिखलाई पड़े। आगे-आगे कीर्ति-देव, पीछे-पीछे उनकी प्रथम धर्मपत्नी कल्याणी।

२१

बरामदे में कुछ आहट की आशंका से राजेश्वरी ने जो चिक के परदे को उठाकर झांका तो क्या देखती है कि उसके भैया राजकिशोर झण्डासिंह से कह रहे हैं—"देख लो, तांगे में कुछ रह तो नहीं गया।"

तब तुरन्त सावधान होकर उसने आंसू पोंछ डाले। अवगुण्ठन को आंखों के

ऊपर ला प्रसन्नमना, बाहर निकल, राजकिशोर को हाथ जोड़कर नमस्ते करती हुई बोली—"मैं जानती थी, भैया आज ही कल में आने वाले हैं।"

"आ तो मैं और पहले जाता। पर तीन-चार दिन पूर्व पानी बरस गया। तब सोचा कि रास्ता तो हो गया खराब, स्टेशन तक सवारी कैसे जाएगी ! दो-चार दिन तक पानी न बरसे और रास्ता सूख जाए, तभी चलना ठीक होगा···और कहो, तुम प्रसन्न हो न ?"

राजेश्वरी ने अन्तिम प्रश्न का कोई उत्तर नहीं दिया। बोली—"मुझे अम्मा और भाभी की बहुत याद आती रही। मैंने कभी सोचा तक नहीं था कि उन्हें छोड़कर मैं रहूंगी कैसे ! वहां गांव में भी दो-चार दिन तक तो भीड़भाड़ रही। फिर धीरे-धीरे बुआ, मौसी, ननद सबकी सब सवेरे से लेकर शाम तक एक ही दिन के अन्दर चली गईं। रह गईं केवल अजिया और बानू। फिर इधर छुट्टियां समाप्त होने को आ गईं। बानू ने तो चाहा था कि छुट्टी और थोड़ी बढ़ा ली जाए। लेकिन ऐसा सम्भव न हो सका।···अरे, आप तो खड़े ही रह गए ! आओ, अन्दर आओ।···झण्डासिंह, भैया को चाय ले आओ।"

कथन के साथ कमरे के भीतर कुर्सी पर बैठ जाने का संकेत करती हुई कहती गई—"यहां इस मकान में, उधर पीछे के हिस्से में, जो किरायेदार रहते हैं, अच्छे-भले आदमी हैं। संग-साथ और मनोविनोद के लिए हमारी उमर की कई लड़कियां हैं। एक तो कालेज पढ़ने भी जाती है। और एक हाई स्कूल में अध्यापिका है। मांजी भी पढ़ी-लिखी हैं। बड़ा सीधा स्वभाव है।"

"तुम्हारी भाभी तो विवाह के बाद से ही बीमार पड़ गई हैं।"

"अरे ! भाभी बीमार पड़ गईं, और झब्बू और सोनी तो ठीक हैं ? उनकी मुझे बड़ी याद आती रही यहां।"

"हां, वे सब ठीक हैं। तुम्हारीभाभी को पहले तो मुहां हो गया। फिर उसकी दवा जो हुई तो आंव गिरने लगी। घरेलू दवा से जब कोई फायदा न जान पड़ा, तो एक वैद्यजी की दवा होने लगी। अब आंव जो बन्द हुई तो बुखार आने लगा।

" बस-बस, मैं सिर्फ चाय पीऊंगा।"

"क्यों, ऐसी क्या बात है ? अभी तुमने खाया ही क्या होगा ?"

"आजकल ऋतु बड़ी खराब चल रही है राज। ऐसा कोई घर नहीं बचा जिसमें कोई बीमार न पड़ा हो। इसलिए बहुत परहेज़ रखना पड़ता है।"

"हां भैया, यह तुम ठीक कहते हो। मुझे तो ऐसा जान पड़ता है कि भाभी के पेट में आंव का कुछ अंश बाकी रह गया है। नहीं तो बुखार नहीं आ सकता था। मैंने जहां खाने के साथ बुकनू की पुट शुरू कर दी, त्योंही झट ठीक हो जाएंगी। बल्कि फ्रूट-साल्ट का डिब्बा मैं यहीं से लेती जाऊंगी। मुझे भी तो रामनगर में डायरिया हो गया था। पहले दिन बड़ी परेशानी रही। पर दूसरे दिन फ्रूट-साल्ट की दो खुराकों से ही तबियत ठीक हो गई। कहां दिन-भर में पांच-सात दस्त आते थे, कहां दूसरे दिन दो खुराक में ही बिलकुल बन्द हो गए। मगर एक बात ज़रूर है। मैंने भगवान का नाम लेकर एकादशी और प्रदोष दोनों दिन लगभग छत्तीस घण्टे कुछ खाना नहीं खाया। यहां तक कि फलाहार तक नहीं किया।"

भाई-बहन पास ही पास बैठे थे। बहन पंखा झल रही थी, भैया खाना खा रहा था। इतने में ब्रजमोहन बाबू आ गए। अपने मनोभाव छिपाकर बोले—"यह भाई साहब को खाना खिलाया जा रहा है या उपवास-चिकित्सा का प्रवचन चल रहा है।"

राजेश्वरी संकुचित हो उठी और राजकिशोर बाबू बोले—"और तो सब ठीक है। पर यह आपने क्या किया कि साथ के लिए बड़ी बहन को भी नहीं बुलाया! आप तो खुद अपने कार्यालय चले जाते होंगे···। और यहां राजेश्वरी···"

बीच ही में बोलते हुए ब्रजमोहन ने कह दिया—"आपको विदित हो भाईजान, कि इस दरवाज़े के उस ओर जो परिवार है वह भी इसी प्रदेश का है और उसमें सब मिलाकर आठ-दस स्त्री-पुरुष हैं। एक लड़की तो बिल्कुल श्रीमान की बहन की उमर की है और बी० ए० में पढ़ती है।"

"मैं अभी सुन चुका हूं। अच्छा, चौका-बर्तन के लिए···"

"जी, मैंने कहा कि उस ओर जो परिवार रहता है उसका पूरा सहयोग हमें मिलता रहता है। तात्पर्य यह कि उसकी महरी हमारे यहां का भी दासी-कर्म निबटा देती है। इसके अतिरिक्त झण्डासिंह भी मदद कर देता है। अच्छा, मैं चला। आप लोग खाना खा लीजिए।···हां, एक सलाह करनी है आपसे। रस्म के अनुसार आप वक्त पर आ गए। आपकी याद भी हो रही थी। यों मुझे भेजने में कोई आपत्ति नहीं है, मगर एक बात जान लेना जरूरी है कि अब हमको कब आने का मौका आप दे रहे हैं? अब, मेरा मतलब यह है कि मुझे जो सुविधा

मिलनी चाहिए, उससे वंचित रखना तो शायद आप भी पसंद न करेंगे ?"

"हं-हं। यह आपने खूब कही ! अरे भाई साहब, अभी तो मैं विदा के लिए आया हूं और आप ही के आंगन में बैठा हूं। अपने घर लौट भी नहीं पाया हूं। और वापसी का सवाल आपने अभी से पैदा कर दिया !"

"ओः सॉरी ! जैसी आपकी मर्ज़ी। वैसे अगर अन्दाज़ा मिल जाता तो मैं अपना कार्यक्रम बना लेता। जब तक आप ऐसा मौका नहीं देंगे, तब तक के लिए कोई विशेष प्रबन्ध करना ही पड़ेगा।"

"आपका संदेशा मैं अम्मा से कह दूंगा। सावन, भादों, कुआंर। बस, आप कुआंर की नौदुर्गा लगते-लगते इस विषय में मुझसे पूछ लीजिएगा। मैं आपकी असुविधाओं को समझता हूं। और ऐसा तो कभी चाहूंगा ही नहीं कि आपको कष्ट हो।"

कथन के साथ ब्रजमोहन की दृष्टि राजेश्वरी की रंगीन रेशमी साड़ी के उस अवगुण्ठन पर जा पड़ी जिसका छोर नयनों के पलकों के ऊपर आ गया था। उन्हें ऐसा प्रतीत हुआ जैसे राजेश्वरी अपना सारा ध्यान इसी बात पर केन्द्रित किए हुए है कि कहीं झगड़े का भेद न खुल जाए।

इसी बीच राजकिशोर बोले—"हमें ज़रा कोआपरेटिव सोसाइटीज़ के डिवीज़नल एकाउंटेंट बाबू के साड़ू साहब के यहां जाना है। वे सिविल लाइंस में कहीं रहते हैं। वैसे पता तो डायरी में नोट है।"

"अच्छी बात है। मैं भी ज़रा कार्यालय जा रहा हूं। वैसे आज तो आप रहेंगे ही ?"

ब्रजमोहन टटोल रहा था कि कितनी जल्दी ये महाशय यहां से विदा लेना चाहेंगे।

राजकिशोर बोले—"घण्टे डेढ़ घण्टे में ज्योंही लौटा त्योंही चाहूंगा कि आप विदा कर दें।"

ब्रजमोहन को मन ही मन बड़ी प्रसन्नता हो रही थी। अतः उसने संदेह न होने की गुंजायश रखते हुए उत्तर दिया—"वैसे मैं जल्दी आने का प्रयत्न तो करूंगा ही। पर यदि शीघ्र छुटकारा न मिला, तो स्टेशन पर तो मिल ही जाऊंगा।"

पांच बजे जब ट्रेन प्लेटफार्म पार कर रही थी तो राजकिशोर बाबू कह रहे

थे—"वायदा तो किया था किन्तु ब्रजमोहन बाबू आए नहीं। चलते समय भेंट न हो सकी!"

राजेश्वरी ने सकुचाते-सकुचाते उत्तर दिया—"आफिस के काम से बाहर गए हुए थे। आज ही सवेरे लौटकर आए हैं। कार्य-भार बढ़ गया होगा और संभवतः इसीलिए छुट्टी नहीं मिल सकी होगी।"

विकल और टूटे हुए मन के साथ लगभग छः बजे जब ब्रजमोहन कार्यालय से वापस होने लगा तो एक रिक्तता का सा अनुभव करता-करता वह एक रिक्शे पर चढ़कर नगर से दूर उसी गढ़ी में जा पहुंचा, जहां विजय के साथ वह बहुत दिन पहले एक बार गया था।

आज वह पुनः पूर्ववत् अचेत हो जाने के लिए स्वयं ही तत्पर था। वह चाहता था कि कितना अच्छा हो, सुषमा या उत्तरा मुझे अपने साथ कर लें। मैं छल-छद्म से भरे इस जगत् से सदा के लिए छुट्टी पा जाऊं!

आज गढ़ी का वातावरण उस दिन का सा नहीं था। चांदनी छिटकी हुई थी और पवन-मन्द-मन्द प्रवहमान था। धीरे-धीरे वह सभी परिचित स्थानों में चुपचाप कुछ खोजता-सा घूमता रहा और एक स्थान पर जाकर बैठ गया, जहां पिछली बार अचेत होकर पड़ा रहा था।

उसे बैठे-बैठे लगभग आधा घण्टा हो चला था। पर कहीं से भी न उसे कोई स्वर सुनाई पड़ा न छाया देख पड़ी। केवल पवन-दोलन से कुछ पत्ते कभी-कभी हिल उठते थे। उन्हींका शब्द सुनाई पड़ जाता था। एकाएक उसके मन में आया—'कहीं कुछ नहीं है, सब मन का भ्रम है। जैसे सुषमा और उत्तरा मेरे लिए अतीत का स्वप्न बन गई हैं और अब राजेश्वरी भी बन रही है, वैसे ही मैं भी इस जगत् के लिए स्वप्न बनकर रहूंगा।'

कुछ समय ब्रजमोहन को इस विश्व से कोई उपालम्भ नहीं था। उसके मन में कोई कामना भी नहीं थी। न किसी प्रकार का आनन्द था न दुःख। रह-रहकर एक ही भावना उभर-उभर उठती थी। जान पड़ता है, कहीं सुषमा भी चली गई। पर उस दिन तो उसने कहा था कि उत्तरा आ रही है इसलिए मैं जा रही हूं। ऐसे समय जो कहीं उत्तरा आ जाए तो मैं जी जाऊं। इतने में उसे कुछ ऐसा आभास मिला जैसे किसीने कैमरा-लाइट के विस्फोट का क्षणिक प्रकाश कर

दिया हो। वह निकटवर्ती शिला पर जान-बूझकर सिर के नीचे हाथ रखकर लेट गया। पहले आंखें खुली रहीं। फिर आपसे-आप पलक मुंद गए।

थोड़ी देर बाद उसे ऐसा जान पड़ा जैसे वह अपने कमरे में पलंग पर लेटा हुआ है। सर्दी की एक रात है और अभी नौ ही बजे हैं। मुलायम गद्दे और रेशमी लिहाफ के बीच वह दुबका हुआ चुपचाप लेटा है और उत्तरा पास खड़ी-खड़ी हंस रही है। वैसी ही खिलखिलाहट है और वैसी ही चपलता। सिर से लिहाफ का छोर थोड़ा-सा हटाकर वह उसके मुख की प्रफुल्ल भाव-भंगिमा चुपके-चुपके देख रहा है।

इतने में कुर्सी खिसकाकर उत्तरा मेरे पास बैठ गई है और कह रही है—'आज यह बात क्या है जो तुम मुझसे बोल नहीं रहे हो? मेरा आगमन, जान पड़ता है, तुम्हें अभीष्ट नहीं है। ऐसा तो कभी हुआ नहीं। प्रवेश करते-करते तुम्हारा मूक औत्सुक्य बोल उठता था। आज वह अमृतवाणी मौन क्यों है? ओह! समझी! आजकल फिर इधर-उधर सैर-सपाटा, मटरगश्ती, ताक-झांक और छेड़-छाड़ बढ़ गई है। अच्छा तो है। इस प्रकार के जीवन में भी तुम्हें अधिक सुख अनुभव हो रहा है तो फिर स्पष्ट कह क्यों नहीं देते कि सुनो, तुम्हें मेरी आवश्यकता नहीं रह गई। बोलो, बोलो न। चुप क्यों हो?'

ब्रजमोहन फिर भी मौन है। शरीर तन्तु-तन्तु से जड़ हो गया है। इतनी भी सामर्थ्य नहीं रह गई है कि वह सिर से लिहाफ ही उठा सके। अधिक नहीं तो इतना ही कह दे कि तुम यह सब क्या बक रही हो उत्तरा। मगर नहीं। 'मैं केवल सुन-भर सकता हूं। देख-भर सकता हूं। सह सकता हूं पर कुछ कह नहीं सकता। मेरे ऊपर उत्तरा यह जो लांछन लगा रही है, वह झूठ न होते हुए भी सत्य नहीं है। प्रत्येक नारी स्वामी के लिए ऐसा सोचती है और प्रत्येक पुरुष अपनी प्राणप्यारी नवपत्नी के लिए ऐसी आशंकाएं करता है।'

इसी क्षण उत्तरा फिर बोल उठी—'अच्छा तो है। मैं चली आई और कुछ ही दिनों के बाद तुमने राजेश्वरी को बुला लिया। मगर इस बार उसने तुमको छकाया खूब। हऽहऽह: ह:! अन्त में सारा रहस्य प्रकट होकर ही रहा। बहुत प्यार करते थे न उसे। मैं सब देख रही थी। जब देखो तब उसके मुंह पर प्रशंसा के पुल बांधे रहते थे। अब क्या करोगे? चली गई न आखिर! अब क्या चौथी करने का विचार है? इरादे क्या हैं आपके? मेरे इरादे जानना चाहते हो? इस

गुमान में न रहना कि अब मैं उसको भी अपने पास बुला लूंगी। ऐसी नारियों के लिए मेरे पास जगह नहीं है। फिर और भी तो एक बात है। अब जब कुछ दिनों तक वह तुमको अकेला रखेगी, तब तुम्हें पता चलेगा कि पत्नी पर व्यर्थ ही अविश्वास करने का परिणाम क्या होता है। लेकिन मैं यह सब क्या बकने लगी! अब तुम स्वयं ही अनुभव करोगे कि सत्य क्या है! और कल्पित सत्य, कृत्रिम सत्य तथा बहुश्रुत किंवदंतियों पर आधारित सम्भावनाओं के भीतर प्रच्छन्न मूल सत्य क्या है। रो रहे हो! रोओ, रोओ! इस प्रकार बड़ी शान्ति मिलेगी। कम से कम मन का कलुष तो धुल जाएगा।'

तभी आ गया रिक्शा वाला और कहने लगा—"वाह बाबूजी, आप तो यहां सो रहे हैं। मैं देखते-देखते थक गया कि बाबूजी अब आते हैं, अब आते हैं। अब तो चलिए साहब—नौ बज गया।"

ब्रजमोहन आंख मलता हुआ उठ बैठा और कह दिया—"चलो।"

ब्रजमोहन ने पुनः एक बार आंख खोलकर देखा—कहीं कुछ नहीं था। केवल पवन डोल रही थी और पत्ते बोल रहे थे। पास के गांव से कुत्तों के भौंकने का स्वर भी बीच-बीच में सुनाई दे जाता था।

भारी-भारी-सा मन लिए ब्रजमोहन रिक्शे वाले के साथ-साथ जाकर रिक्शे में बैठ गया।

तभी एकाएक रिक्शा वाला बोल उठा—"बाबूजी, यहां तो कभी कोई आता नहीं है। लोग इस गढ़ी के सम्बन्ध में तरह-तरह की बातें कहा करते हैं। पर आपको यहां ऐसी सुनसान गढ़ी में अकेले बैठे रहने में आखिर क्या मिल जाता है?"

ब्रजमोहन ने कह दिया—"चलो, चलो।"

जगमोहन ने अब सीधे उपाध्यायजी से मिलना-जुलना प्रारम्भ कर दिया था। पहले तो उपाध्यायजी विजय के विवाह के विषय में कोई निश्चयात्मक बात करने में इसलिए हिचकते रहे कि विजय को वे किसी प्रकार अनुकूल न बना सके थे। किन्तु जब उन्होंने देखा कि परिस्थिति बदल रही है, कीर्तिदेव भी आने-जाने लगे हैं और सत्यवती तो प्रायः आती ही रहती है तथा कीर्तिदेव और कल्याणी में वार्तालाप भी प्रारम्भ हो गया है, तब एक दिन उन्होंने स्पष्ट कह

दिया—"असल बात यह है माई लॉर्ड कि शतरंज की चाल में घोड़े ने हाथी को पछाड़ दिया और वज़ीर की स्थिति हो उठी डावांडोल। तो अब आप सीधे घोड़े के पास ही जाइए और उसके उछलने-कूदने तथा हिनहिनाने की चिन्ता मत कीजिए माई लॉर्ड !"

फलत: जगमोहन एक दिन सीधे कीर्तिदेव के पास जा पहुंचे। कीर्तिदेव ने जब उनसे यह सुना कि उपाध्यायजी ने भेजा है और विजय की शादी के लिए भेजा है, तो उन्होंने सारी बातों की जानकारी प्राप्त करने में उत्सुकता प्रकट की।

जगमोहन बाबू बोले—"मेरे हिसाब से तो जन्म-पत्रियां परस्पर बहुत ठीक हैं। किन्तु आप भी चाहें तो अपने आचार्य को बुलाकर दिखा लीजिए।"

कीर्ति बाबू ने अन्दर जाकर जो सत्यवती से राय ली तो उसने कह दिया—"हां, ठीक तो है, पंडितजी को बुलाकर पहले दिखा लो और इनसे कह दो कि फिर किसी दिन आएं।"

जगमोहन बाबू प्रसन्नतापूर्वक लौट गए। कीर्तिदेव मन ही मन बहुत प्रसन्न हो रहे थे कि अब इस बहाने सत्यवती के साथ जाकर कल्याणी को अनुकूल बनाने का एक और अवसर मिला है। इसी उत्सुकता में फौरन उन्होंने एक ज्योतिषाचार्य को बुला भेजा।

पंडित सदानन्द बड़े माने हुए आचार्य थे। वे किसीके बुलाने पर कहीं जाते नहीं थे। इसलिए कीर्ति बाबू ने उनके पास कार भेज दी और पण्डित सदानन्द के पास जब ले जाने के लिए कार पहुंच गई तब यह प्रश्न नहीं उठता था कि मुझे झुकना पड़ रहा है और वे स्वयं मेरे द्वार पर क्यों नहीं आए। ऐसे समय वे यह मान लिया करते थे कि एक ही बात है। वे नहीं आए तो बीस हज़ार की सवारी तो आई है। अत: वे दस-पांच मिनट के अन्दर एक रेशमी अण्डी कन्धे पर डालकर गाड़ी में बैठ गए।

और आते ही बोले—"कैसे याद किया कीर्ति बाबू !" कीर्ति बाबू ने आदर-पूर्वक सोफे पर बिठाकर दो कागज़ देते हुए उत्तर दिया—"महाराज ! यह आपके चिरंजीव की और एक लड़की की जन्मपत्री है। वैसे तो लड़की वाले कह रहे थे कि उन्होंने भली भांति एक बड़े अच्छे आचार्य से मिलवा लिया है। लेकिन मुझे तो महाराज, जब तक आप नहीं ठीक कह देते, इस सम्बन्ध में किसीकी बात का विश्ववास ही नहीं होता। इसलिए आज आपको कष्ट दिया है।"

सदानन्दजी ने विजय की जन्मपत्री एक ओर रखते हुए बड़े शिष्टाचार-पूर्वक कह दिया—"यह आप नहीं, आपका प्रताप कह रहा है। सब आपकी ही कृपा है। और हां—यह जन्मपत्री तो मेरी ही बनाई हुई है," कथन के साथ उनको यह भी याद आ रहा था कि इसकी बनवाई के उपलक्ष्य में इन्होंने मुझे एक दुशाला भेंट किया था, "इसके अंक तो मेरे मस्तिष्क में सुरक्षित हैं। इस लड़की की जन्मपत्री को देख लूं।"

कीर्तिदेव और सत्यवती किंचित् मुस्कराकर रह गए और फिर दो मिनट बाद ही पंडित सदानन्द ने बताया—"मैंने सब देख लिया।। ब्याह चाहे आप इस लड़की के साथ कर दें लेकिन पटेगी नहीं उससे। और एक बात जो आपसे कभी नहीं कही थी, अब इस प्रसंग में मुझे कह ही देनी होगी। न कभी ऐसा संयोग आया और न आपने ही मुझसे कभी राय ली। सम्भवत: आपको न मालूम होगा कि विजय की जन्मपत्री के अनुसार उसके भाई होना ही चाहिए।" इतना कहकर पंडित सदानन्द ने सत्यवती की ओर उन्मुख होते हुए कहा—"बहन! इस सत्य कथन के लिए आप मुझे क्षमा करेंगी। ज्योतिषशास्त्र बड़ा कठोर और निर्भय होता है। वह जैसे किसीके साथ पक्षपात नहीं करता, वैसे ही अधिकारी को उसके सुन्दर फल-संयोग और भविष्य का पथ-निर्देश देने में कभी चूकता भी नहीं। कीर्ति बाबू! सच्ची बात तो यह है कि बहनजी को बुला लेने के बाद भी आपको विजय की मां के साथ अपने सम्बन्ध बनाए रखने चाहिए थे। हमारे यहां राजन्यवर्ग में अनेक रानियां रखने की एक परम्परा रही है। पर उसका कभी यह अर्थ नहीं लगाया गया जैसे आपने चरितार्थ किया है। मुझे इस बात का बड़ा दु:ख है। ज़रा अपना हाथ तो दिखलाइए!"

पण्डितजी का इतना कहना था कि कीर्ति बाबू द्रवित हो उठे और तत्काल उनकी आंखों में आंसू छलछलाने लगे। पण्डित सदानन्दजी ने हाथ की रेखाएं देखते-देखते कह दिया—"वाह, आप धन्य हैं। आपकी आयु तो सौ वर्ष से भी अधिक है। आशा है, मेरा यह निवेदन अरण्यरोदन न होगा।"

इतना कहकर पण्डित सदानन्द बोले—"और कोई आज्ञा?"

अब इस समय सत्यवती और कीर्तिदेव दोनों एक-दूसरे की ओर देख रहे थे। तब सत्यवती भी सजलनयन हो चुकी थी। दोनों ने पण्डितजी को समुचित दक्षिणा-सहित सादर विदा किया।

दूसरे दिन कीर्तिदेव उपाध्यायजी के यहां आ पहुंचे।

"हूं, तो तुम्हारी शिकायत यह है कि जहां कहीं भी तुमने नौकरी की वहां तुमको ऐसे कार्यों के लिए विवश किया गया जो तुम्हारे अन्त:करण के स्वर के भिन्न और प्रतिकूल थे।"

"जी, केवल मेरे अन्त:करण से भिन्न और प्रतिकूल होने का प्रश्न उतना नहीं है जितना आगे बढ़ती हुई हमारी नई पीढ़ी की मान्यताओं और जनयुग के अनुकूल प्रगति के पथ में बाधा बनने का। जब व्यक्ति समाज के सामूहिक स्वार्थों, हितों और आयोजनों के विरुद्ध किसी भी आचरण के लिए विवश किया जाता है; थोड़े-से पैसों के नाम पर जब उसे अनैतिक और प्रगति-विरोधी कार्यों में बैल की भांति जुए के नीचे कन्धा डालने को विवश होना पड़ता है, तब वह मनुष्य न होकर पशु बन जाता है। और यही वह सबसे बड़ा मर्माघात है जो मुझसे सहन नहीं होता। मैं नौकरी करता हूं तो इसका अर्थ केवल यह होना चाहिए कि मैं देश के वृद्धिशील उत्पादन में योग दे रहा हूं। किन्तु यदि हमारी सेवा का उपयोग इस अर्थ में होता है कि वह कुछ थोड़े-से पूंजीजीवी व्यक्तियों की व्यक्तिगत इच्छापूर्ति का एक साधन-मात्र रह गया है, तब मैं यह सोचने लगता हूं कि अब मैं मनुष्य न रहकर श्वान बन गया हूं। आप अगर इसको मेरा अपराध समझते हैं तो मैं अपराधी हूं।"

कीर्तिदेव विचार में पड़ गए। बोले —"मैंने सुना था कि तुमको एम्पलायमेंट एक्सचेंज में भी कहीं काम मिल रहा था। उसको तुमने स्वीकार क्यों नहीं किया? वहां ऐसी क्या बाधा उपस्थित हो गई जिससे तुम्हारे सिद्धान्तों का हनन होता था?"

कीर्तिदेव पलंग पर बैठे हुए थे और विजय कुर्सी पर। कुर्सी से उठकर विजय फर्श पर टहलता हुआ एकाएक रुककर बोला —"सबसे अधिक आपत्ति मुझे इस शासन-व्यवस्था से है, वह उस वर्ग के प्रति है जो पदों और अधिकारों के लोभ में पड़कर गिद्ध और चील की भांति सड़े हुए पशु-मांस को नोच-नोचकर खा रहा है। आज नौकरी उस व्यक्ति को मिलती है जो किसी न किसी जनता के प्रतिनिधि के नाम पर साला, भतीजा और पोता बन जाने को तत्पर है। सम्पर्क, सम्बन्ध और नाता आज योग्यता और प्रतिभा की छाती पर चढ़कर उनका गला घोंट रहे हैं

और आप टुकुर-टुकुर देख रहे हैं। मेरी समझ में नहीं आता कि आपको यह सब सहन कैसे होता है। एम्पलायमेंट एक्सचेंज में भी ऐसा ही काम मुझे दिया जा रहा था। प्रार्थनापत्र की तिथि के अनुसार जो सूचियां वहां बनी रहती हैं, जब हमको पता चला कि वे केवल इसीलिए रखी गई हैं कि अवसर आने पर यह दिखाया जा सके कि जब आपका नम्बर ही नहीं आया तो आपको नौकरी कैसे मिल सकती है ? और मुझे मालूम हुआ कि जिसका नम्बर आता था उसको सूचना ही इतनी देर से भेजी गई कि उसके पहुंचने की सम्भावनाएं नष्ट हो जाएं। हम तो अपने आसपास देखते हैं कि प्रभुसत्ता का मद इस सीमा तक बढ़ गया है कि जो व्यक्ति मिलना-जुलना और हाज़िरी बजाना नहीं जानता वह आज न नौकरी पा सकता है, न व्यवसाय पा सकता है। अंग्रेजी में जिसे प्रापर चैनेल कहते हैं।"

"हो गया, हो गया। सुन लिया सब। तुम्हारे लिए दो ही स्थान रह गए हैं, या तो किसी सभा का मंच या जेल। दूसरे स्थान की तैयारी हमने सुना कि तुमने शुरू भी कर दी। वारण्ट निकल गया है न ?"

अभी तक कल्याणी चुपचाप बैठी पुत्र का प्रवचन सुनकर मन ही मन प्रसन्न हो रही थी, पर अब वारण्ट का नाम सुनकर वह चौंक पड़ी। बोली—"वारण्ट ! वारण्ट कैसा ? ऐसा तुमने कौन काम किया है ?"

कीर्तिदेव हंसने लगे। बोले—"एक दिन कहीं ठाकुर कर्तारसिंह के यहां पहुंच गए, वहां उनके चेलों के साथ में पड़कर जंगल में शिकार खेलने गए। वहीं झाड़झंखाड़ के कालेज में बन्दूक और पिस्तौल चलाने को शिक्षा ली। और उसके पहले ही प्रयोग में उत्तीर्ण हो गए। वारण्ट उसीका सर्टिफिकेट है।"

इस निःश्वास को भीतर ही भीतर दबाता हुआ विजय बोल उठा—"हां, है सर्टिफिकेट, उस तानाशाही के अहंवाद का, जो मेरी मां को बीस वर्ष तक केवल इसलिए छोड़े रहता है कि वह निरन्तर उसकी हां में हां नहीं मिला सकती; अपने माता-पिता का अपमान सहन नहीं कर सकती। उसकी कुछ अपनी मान्यताएं और भावनाएं हैं, जिनसे किसी प्रकार का समझौता भी वह नहीं कर सकती। यह सर्टिफिकेट उस दौलत का भी है जो पुत्र तक को बीस वर्ष तक इसलिए दूर रखती है ममता और ममत्व से, प्यार और दुलार से, कि उसे मां के आंसुओं की लाज है। उसके स्वाभिमान से निकलती हुई उन सांसों का जिसे ध्यान है जो सम्मान के साथ निकलती हैं और सम्मान के साथ ही अन्त में समाप्त हो जाती हैं। मुझसे आशा

की जाती थी कि मैं मां के आंचल का साया छोड़कर पिता के पैर जा पकड़ूं और उससे प्यार की भीख मांगूं।" कथन के साथ विजय की आंखों में आंसू आ गए।

कल्याणी ने उठकर उसके सिर को छाती से लगा लिया और कहा—"रो मत बेटा विजय! भगवान करे तेरा जैसा बेटा हरएक मां बनने वाली नारी को मिले। मुझे तेरे इस त्याग पर गर्व है।"

कथन के साथ कल्याणी की आंखों में आंसू भर आए। वह तुरन्त आंसू पोंछकर गम्भीरता के साथ कीर्तिदेव की ओर उन्मुख होकर बोली—"तुम ऐसी बातें ही क्यों करते हो कि इसकी सोई हुई पीड़ाएं और भावनाएं जाग उठती हैं?"

कीर्ति बाबू स्वयं ऐसा ही अनुभव कर रहे थे।

उन्होंने कुछ हंसते हुए कह दिया—"मगर सुन तो, यह नाटक समाप्त हो रहा है विजय। यवनिका की डोरी तो स्वयं तुम्हारे हाथ में आ गई है। मुझसे जैसा कुछ हुआ मैंने किया। बुरा किया—भला किया, यह एक भिन्न बात है। मुझको हंसी आ रही है कि तुम मेरे ऊपर दोष लगा रहे हो अहंवादी होने का। अब ज़रा अपने हृदय पर हाथ रखकर पूछो उससे—क्या कहता है? तुममें अहंवाद कम है? तुमने मेरी उपेक्षा नहीं की? जब कभी तुम घर आए, तुम्हें माता-पिता का प्यार नहीं मिला? तुमने स्वयं कब मेरा बनने की चेष्टा की है? तुम अगर मेरे यहां चले आते तो तुम्हारी शिक्षा का क्रम बीच में रुक जाता? हमने सुना—तुम पी० सी० एस० में बैठने वाले थे किन्तु, केवल इसलिए नहीं बैठ सके कि ऐन वक्त पर किसी मित्र ने धोखा दिया। शुल्क का रुपया तुम मुझसे नहीं ले सकते थे? अपने मामा से ही मांगते तो क्या वे इन्कार कर देते? एक तुम्हीं नहीं, तुम्हारी सारी की सारी पीढ़ी आज इस महामारी से आक्रान्त हो गई है। तुम व्यक्ति के दोष का तो मूल्यांकन झट से कर लेते हो, पर वह व्यक्ति जिन परिस्थितियों से प्रभावित होता है उनकी उपेक्षा करते हो। माना कि वीरता बड़ा गुण है। लेकिन फिर विनय को क्या कहोगे? तुम समझते हो कि विनय के बिना भी वीरता पनप सकती है! जिस शील और सौजन्य की मैं तुमसे समय-समय पर आशा करता रहा, उसकी ओर कभी तुम्हारा ध्यान ही नहीं गया! और यह क्या बात हुई कि जब तुम जीवन-संघर्ष से हार मान बैठे तब तुमने प्रशस्त पथ को छोड़कर विपथ का अनुगमन किया। मैंने व्यक्तिगत रूप से तुम्हारी आशाओं की हत्या की तो तुम्हींने क्या उठा रखा है? तुमने मेरी सारी आशाओं पर पानी नहीं फेर

दिया ? जब न्यायालय में अभियोग चलेगा तब मुझको लोग क्या कहेंगे ?"

इतना कहते-कहते कीर्तिदेव का कण्ठ भर आया। वे बोलते जा रहे थे—आंखों में अश्रु छलक उठे थे। स्थिर और रुद्ध वाणी में उनके मुंह से निकल गया—"जबकि मुझे लोग कीर्तिदेव कहते हैं—अच्छी कीर्ति बढ़ाई तुमने मेरी, बेटा !"

आज जीवन में पहली बार विजय ने अनुभव किया कि वह निरपराध नहीं है। और तब वह भी सिसकियां ले-लेकर पिता से लिपट गया। बोला—बाबू !"

कल्याणी अब तक धैर्यपूर्वक सब सुन रही थी। अब वह भी आगे बढ़कर विजय के सिर पर हाथ धरकर उसे सहलाती हुई बोली—"रो मत बेटा ! जो बातें तेरे बाबू ने कही हैं, मैं जानती हूं, उनके भीतर मैं रही हूं। मेरा हाथ रहा है। मेरी आत्मा का एक-एक स्वर रहा है। दोष मेरा भी है।"

थोड़ी देर में सबके आंसू धुल गए। अन्त में कल्याणी ने कहा—"चिन्ता मत करो बेटा ! तुम्हारा बाल भी बांका नहीं हो सकता।" और इस कथन के साथ उन्होंने कक्ष-विभाजन के परदे की ओर संकेत करते हुए कहा—"मैं जानती हूं, दुनिया बदल रही है। फिर भी तुमने उस लड़की का परिचय नहीं दिया !"

कीर्तिदेव उठकर कमरे के बाहर चले गए। तब विजय मां को आगे कर परदा खींचते हुए बोला—"अम्मां ! यह एक पढ़ी-लिखी पगली है। इसके भाई एक डिप्टी साहब हैं। मेरे पुराने मित्र हैं और नवीन शत्रु ! जीविका के लिए इसने एक कालेज में नौकरी कर ली है। पन्ना अब देर किस बात की है ? देख नहीं रही हो ! ये मेरी मां हैं।"

इतने में उसने देखा कि कथन समाप्त होने से पूर्व ही पन्ना कल्याणी के चरणों पर झुक गई। कल्याणी ने आशीष देते हुए उसके सिर पर हाथ रख दिया—"सदा सुखी रहो बेटी ! भगवान करे अतुल सौभाग्यवती बनो। जीवन का सारा ऐश्वर्य सदा तुम्हारे संकेतों की प्रतीक्षा करे। चलो ? यह चिन्ता भी दूर हुई।" और इतना कहकर द्वार के निकट, जाकर परदे से झांकती हुई बोली—"अरे ! कहां गए विजय के बाबू ?"

तब तत्काल पार्श्ववर्ती कमरे से निकलकर कीर्तिदेव बोले—"मैंने तो ध्यान नहीं दिया। तुमने बहू को देखा ?"

कल्याणी मुस्कराती हुई बोली—"सब नई-नई बातें हो रही हैं। लाओ मुंह-

दिखाई कुछ देते हो ?"

कीर्तिदेव ने बटुआ निकालते हुए कह दिया—"क्या देना चाहती हो ?"

"लाओ, सौ-सौ के बीस नोट निकालो !"

"बीस नोट ! क्यों ?"

"इन बीस वर्षों में क्या बीस हज़ार रुपये भी मेरे भाग के जमा न हुए होंगे? कहते नहीं, कहलाते हो मुझसे ।"

"अच्छा लो, तुम बटुआ ही ले लो ! देख लो और ज़रूरत हो तो उसका भी इन्तज़ाम कर दूंगा ।"

कल्याणी ने कहा—"आओ, भीतर आओ !"

ज्योंही दोनों ने अन्दर प्रवेश किया, त्योंही यह देखकर दोनों दंग रह गए कि विभाजन के उस पार पलंग पर लेटा हुआ विजय सिसकियां ले-लेकर रो रहा है, और बहू कह रही है—"अब मुझे ही तुमको समझाना पड़ेगा ?"

कीर्तिदेव और कल्याणी को देखते ही पन्ना एक झटके से अलग हटकर खड़ी हो गई । यह दृश्य देखकर कीर्तिदेव पुन: द्रवित हो उठे और बोले—"रोओ मत विजय ! यह मत समझो कि ये बीस वर्ष मैंने हंस-हंसकर काटे हैं । मेरे अन्दर भी पीड़ा रही है । मैं भी कम दुखी नहीं रहा हूं । लेकिन आज मुझे अनुभव हो रहा है कि वास्तव में सुखी वही है जो दूसरों के सुख के लिए दु:ख उठाता है और इस दृष्टि से मैं तुम्हारे त्याग की सराहना करता हूं । मुझे इसपर गर्व है विजय! अब उठो ! उठो तो ! मुंह धो आओ । बहुत हो चुका ।"

विजय आंसू पोंछता हुआ यह सोच रहा था कि यह मुंह धो आने वाली बात अच्छी मेरे पीछे पड़ी है । फिर सहसा बोल उठा—"बाबू, आप चिन्ता न करें । मैं सहर्ष जेल जाऊंगा और कल ही अदालत में हाज़िर हो जाऊंगा ।" इतने में होटल-मैनेजर स्वयं आ पहुंचा और बोला—"जो बाबू साहब इसमें ठहरे हुए हैं, उन्होंने मेरे रजिस्टर में तो अपना नाम चन्द्रगुप्त लिखवाया है; पर क्या उनका कोई दूसरा नाम भी है ?"

विजय आगे बढ़कर बोला—"क्यों ? क्या बात है ?"

मैनेजर ने कहा—"बात क्या है ! आपका असली नाम तो विजयदेव है और आपने हमें चन्द्रगुप्त लिखाया है ।"

विजय ने आवेश के साथ उत्तर में प्रश्न किया—"कौन कहता है ?"

इतने में पीछे छिपे हुए डी० एस० पी० ने आगे बढ़कर कह दिया—"मैं कहता हूं।"

और पीछे से दो और सिपाहियों ने लपककर हथकड़ी डाल दी।

विभाजन के उस पार खड़ी पन्ना मन में एक झंझावत के प्रकार में यह सोचने लगी कि ऐसे सौभाग्य के क्षणों में यह दुर्घटना!

जिस समय विजय के हाथों में हथकड़ियां डाली जा रही थीं, उसी समय पन्ना की सिसकियां उभर-उभरकर सुनाई पड़ रही थीं।

दूसरी मंज़िल से उतरकर पुलिस विजय को जब नीचे ले आई तब वहां अकस्मात् हीरा को देखकर विजय आश्चर्य में पड़ गया।

हीरा विजय को नमस्कार कर ही रही थी कि डी० एस० पी० साहब ने हीरा के निकट आकर एकाएक प्रश्न कर दिया—"तुम यहां कैसे?"

विजय पुलिस इन्सपेक्टर और कान्सटेबलों के साथ पुलिल की गाड़ी के भीतर जाकर बैठ गया।

हीरा ने उत्तर दिया—"आपने बड़ा गड़बड़ कर दिया। मेरा सारा कार्यक्रम ही चौपट हो गया।"

और भी आश्चर्य के साथ डी० एस० पी० साहब ने पूछा—"क्या मतलब?"

हीरा ने उत्तर दिया—"मैं नहीं चाहती थी कि विजयदेव को आप यहां इस तरह गिरफ्तार कर सकें। वे तो स्वयं ही हाज़िर हो जाना चाहते थे।"

"ये तुम्हारे कौन होते हैं?"

हीरा ने मुस्कराते हुए कह दिया—"जो आप होते हैं? यानी भाई साहब!"

"भाई साहब?"

"हां भाई साहब ही तो कहती हूं आपको। आप चौंकते क्यों हैं? आपकी तरह ये भी मेरे गुरुभाई हैं।"

"मुझे अफसोस है कि तुमने पहले कुछ नहीं कहा जबकि मैंने तुमसे कल चर्चा भी की थी, किन्तु अब तो···"

हीरा ने बात काटते हुए बीच में ही रोक दिया—"अब तो···अब तो क्या? मैंने जो तुमसे वहां कुछ नहीं कहा उसका कारण यह था कि असल में मैं विजय के कमरे में ही अचानक तुमसे मिलकर आश्चर्य-चकित कर देना चाहती थी। किन्तु मुझे आने में कुछ देर हो गई। फिर भी छोड़ना तो पड़ेगा ही आपको। तुम यही

समझ लो कि अपने छोटे भाई को गिरफ्तार कर रहे हो। मैं बताए देती हूं— इसमें ज़रा-सी भी गड़बड़ हुई तो बस कुट्टी समझिए।"

"अरे तुम नाहक बिगड़ रही हो! तुम्हारा तो संकेत ही काफी है।" पुलिस की नम्रता का पहला प्रमाण स्थापित करते हुए डी० एस० पी० साहब ने निवेदन किया।

फिर उन्होंने हीरा को एक तरफ ले जाते हुए कह दिया—"कभी-कभी तुम ऐसी बातें करने लगती हो हीरा कि मुझे शर्मिदा होना पड़ता है। इस तरह की बातें सबके सामने कही जाती हैं भला! यह तो तुम मानती हो कि मैंने तुम्हारी किसी बात को आज तक नहीं टाला। इस मामले में भी सब तुम्हारी इच्छानुसार हो जाएगा। लेकिन अभी तो छोड़ना सम्भव है नहीं। धारा ३९६ का मामला ठहरा, इसमें ज़मानत एक तो होती ही नहीं, और यदि किसी प्रकार हो भी जाए, तो हम उस श्रेय के भागी नहीं बन सकते। क्योंकि यह हम लोगों के अधिकार की सीमा से बाहर की बात है। फिर भी तुम चिन्ता मत करो, अपने हाथ में भी बहुत कुछ है, जैसे अभियोग-पत्र अभी अपूर्ण है। उसमें आवश्यक हेर-फेर करके छुड़वा देने का उत्तरदायित्व हमारा है। लेकिन एक बात है, यह सब तुम्हारी वजह से करूंगा। ठीक है न?"

हीरा संकुचित हो उठी। वह मन ही मन सोचने लगी—'ऐसी महान आत्मा को संकट से बचाने में मेरा क्षणिक विपथगा बनना भी गौरव की ही बात है।' और उसने उत्तर दिया—"जब तक विजय भाई इस संकट से मुक्त नहीं हो जाएंगे तब तक यही समझ लेना कि मैं उपवास कर रही हूं।" और इतना कहते-कहते उसकी आंखों से आंसू छलक पड़े।

और तभी डी० एस० पी० साहब ने जो रूमाल निकाला तो उसका अर्थ समझकर हीरा ने झट अंचल से आंसू पोंछते हुए कह दिया—"धन्यवाद, भाई साहब!"

तभी अचानक बूट पर बूट की 'खटाक' से दोनों चौंक पड़े। और देखा तो एक पुलिस का सिपाही सलाम दागता हुआ कह रहा था—"हुज़ुर, गाड़ी तैयार है।"

"अच्छा चलो!" कहते हुए डी० एस० पी० साहब ने हीरा से विदा मांगी और पिक-अप में जा बैठे।

अब भीड़ काफी छंट चुकी थी और कीर्तिदेव, जो विजय को हर प्रकार से आश्वस्त कर चुके थे, ऊपर बरामदे में कल्याणी और पन्ना को रोते हुए देखकर स्वयं भी आंसू पोंछते हुए सोचने लगे—'अपने घर में यह आग मैंने स्वयं ही लगाई है।' और फिर वे सिर नीचा किए हुए ऊपर चले गए।

उनके पीछे-पीछे हीरा भी ऊपर चल दी।

सीढ़ियां चढ़ती हुई वह सोच रही थी—'जाऊं कि न जाऊं ? क्या कहूं जाकर ? परिचय भी कैसे दूं ?" फिर एक किरण-सी चेतना-लोक में अकस्मात् फूट पड़ी—'हमारे जीवन का और अर्थ ही क्या है ? अहर्निशिव्यापी उत्पीड़न, क्रन्दन और हाहाकार के बीच एक हमारा ही स्वर, हास्य और नृत्य शान्ति और सौख्य का अग्रदूत बनकर रहता है।

इधर-उधर लोग फुसफुसा रहे थे—"कौन था ? ये सज्जन तो कोई भले आदमी मालूम होते हैं ! मुझे तो कोई क्रान्तिकारी मालूम पड़ता है।"

उपसंहार

अब विजय पूर्णतया तत्पर था कि उसकी मुक्ति के लिए कोई प्रयत्न न किया जाए, कर्मभोग के लिए उसे यों ही दंड स्वीकार कर लेने दिया जाए। 'बी' क्लास मिलने के कारण उसे कुछ विशेष सुविधाएं प्राप्त हो गई थीं। वह प्रसन्न भी दिखलाई पड़ता था। कीर्ति बाबू निरन्तर इस प्रयत्न में लगे रहते थे कि विजय को निष्कलंक ही छूटना चाहिए। दिन-रात उनकी कार दौड़ रही थी। वे गोविन्द बाबू से मिले। उन्होंने पूरा आश्वासन दिया कि विजय निर्दोष रूप में ही छूटेगा। चिन्ता की कोई बात नहीं है। उन्हें यह अनुभव कर बड़ी प्रसन्नता हुई कि समर्थ पिता का हाथ अब विजय के सिर पर आ गया है। उसके साथ रहने वाली पन्ना की आत्मीयता भी अब उन्हें सुविधा और सौभाग्यप्रद जान पड़ती थी।

दुनिया शक्ति के पीछे पूंछ बनकर डोलती है।

यह एक ऐसा अवसर था कि विजय को दिन पर दिन अनुभव होने लगा कि

उसका यह बेकारी के नाम पर पनपने वाला प्रयोगशील जीवन भी व्यर्थ नहीं गया है। उसकी साधना का वृक्ष अब पल्लवित हो उठा है।

अब कभी कल्याणी के साथ सत्यवती उसे देखने आती, कभी पन्ना के साथ शची। एक दिन पति के साथ नयनतारा भी मिलने आई। कीर्ति बाबू तथा उपाध्यायजी तो प्रायः मिलते ही रहते थे। अब उन्हें आन्तरिक रूप से डी० एस० पी० की सहानुभूति भी प्राप्त हो गई थी। पेशियों पर पेशियां हो रही थीं। एक पेशी में यह भी पता चल गया कि गेंदासिंह ने डाकुओं को भेद की बातें बतलाई थीं। इसका फल यह हुआ कि वे गिरफ्तार हो गए; यद्यपि उन दिनों ज़मानत पर छूट गए थे, शर्म के मारे वे घर से बाहर न निकलते थे। विजय को ऐसा प्रतीत होता था, मानो सारा जगत् अपना है। जब उसे शची ने बतलाया कि हीरा का प्रयत्न ही सबसे अधिक प्रभावशाली सिद्ध हुआ है, तब तो वह विस्मयाभिभूत हो उठा।

इस क्रम में एक दिन शची ने विनोद से कह दिया—"मैं तो अब तक इतना ही जानती थी कि आपका शिष्यवर्ग हमीं लोगों तक सीमित है। पर चोरी-छिपे भी आप कोई न कोई विद्यालय चलाते रहते हैं, इसका रहस्य अब खुला।"

विजय ने मुस्कराते हुए उत्तर दिया—"खैर, खुल गया, यही संतोष की बात है। पर याद रखकर इतना तो गोविन्द बाबू से कह ही दीजिएगा कि मेरा विद्यालय बन्द नहीं होना चाहिए। हालांकि आप कुछ कहेंगी नहीं, मैं जानता हूं। खतरे की घंटी बज उठने का भय जो है।"

शची सुनकर हंस पड़ी और पन्ना ने संकुचित होकर मुंह फेर लिया।

अन्त में वह दिन भी आया, जब विरुद्ध गवाहों के अभाव में विजय सचमुच काजल की एक भी रेख लगाए बिना छूट गया। यद्यपि अन्य लोगों पर अभियोग चलता रहा।

जिस दिन विजय कारागार से मुक्त हुआ, उसी दिन की बात है। सब लोगों से मिल-मिलाकर दोनों माताओं के साथ पिता का आशीर्वाद लेता हुआ जब वह आगे बढ़ा, तब यह देखकर दंग रह गया कि ब्रजमोहन नीम के पेड़ की छाया में चुपचाप खड़ा रो रहा है। उसे इस बात पर भी कम आश्चर्य नहीं हुआ कि वह मुझसे गले मिलने क्यों नहीं आया, इतनी दूर क्यों खड़ा रहा ?

तब गले में फूलमालाएं डाले विजय स्वयं उसके निकट जा पहुंचा। ब्रजमोहन पहले तो उससे लिपट गया, पर फिर आंसू गिराते हुए अपने-आप हंस पड़ा।

उसे इस दशा में देखकर विजय कुछ शंकित हो उठा। तब उसने उसे और ध्यान से देखा। देखा, उसके वस्त्र अस्त-व्यस्त हैं, केश रूखे और खड़े हो रहे हैं। आंखों में लाल डोरे पड़े हुए हैं। फलतः उसकी शंका और बढ़ गई। सहसा उसने प्रश्न कर दिया—"तबियत तो ठीक है न ?"

ब्रजमोहन उत्तर में अट्टहास के स्वर में बोला—"हां, अब बिलकुल ठीक है। राजेश्वरी चली गई !"

"कहां ? अपने पिता के यहां ?"

ब्रजमोहन ने आकाश की ओर संकेत कर कह दिया—"परमपिता के यहां !"

एकाएक विजय सोचता रह गया। हाथ सिर से लगाकर वह उसी नीम के वृक्ष की छाया में चुपचाप बैठ गया।

इतना दुःख उसे जीवन में कभी नहीं हुआ था। फिर उसे लेने के लिए जो बृन्द उसे घेरकर आ खड़ा हो गया, शिथिल-क्लान्त मन से विजय उसके साथ चल दिया।

कुछ दिनों के बाद उससे पन्ना ने बतलाया—"राजेश्वरी मन ही मन तुमको प्यार करने लगी थी। इधर ब्रजमोहन को भी उसपर सन्देह हो गया था; भैया से पूछना, उन्होंने मुझे बतलाया है। उनका यह भी कहना है कि उसकी मृत्यु विषपान से हुई है।"

तब सन्तप्त मन से विजय सोचने लगा—'उस दिन उसने कहा था—अब तुम मुझे मार ही डालो। हो सकता है, कदाचित् मेरे ही प्रयोग के कारण···'

नयनतारा उन दिनों पिता के घर में ही थी। दोनों माताओं की आत्मीयता उसके लिए जितने विस्मय का विषय थी, उससे अधिक आनन्द का। थोड़े ही दिनों की संगति से कल्याणी के स्वास्थ्य पर अभूतपूर्व प्रभाव पड़ रहा था। विजय के विवाह की तिथि निकट आ गई थी। सारा दिन आनन्द-विनोद, हास-परिहास और गीत-मांगल्य में ही व्यतीत हो जाता था। विजय के भाई होने की सम्भावना एक प्रकार से निश्चित हो गई थी, क्योंकि कल्याणी घर से बाहर बहुधा कम निकलती थी।

एक दिन नयनतारा ने देखा, विजय के प्याले की चाय ठण्डी पड़ गई है किन्तु इस ओर उसका तनिक भी ध्यान नहीं है। तभी वह बोल उठी—"देखती हूं, तुम सदा किसी सोच में रहते हो भैया !"

विचार-लोक से उतरकर विजय ने उत्तर दिया—"तुम ठीक कहती हो नयना। मैं सदा यही सोचा करता हूं कि राजेश्वरी चली क्यों गई? माना कि ब्रजमोहन का तिरस्कार वह सहन न कर सकती, पर मेरा हृदय-द्वार तो उसके लिए खुला था और यह बात वह जानती थी।"

नयनतारा को प्रतीत हुआ, जैसे यही राजेश्वरी के व्रण का वह मर्मस्थल है जिसे उसकी मृत्यु फोड़ गई थी। वह बोली—"विवाह के बाद अपने भाई के साथ जब वह लौटी जा रही थी, तब थोड़ी देर के लिए, प्लेटफार्म पर उससे मेरी भेंट हो गई थी। शायद उसी दिन तुम गिरफ्तार हुए थे। तभी सजलनयन हो, मुझे एकान्त में ले जाकर, उसने संक्षेप में बताया था कि वह ब्रजमोहन से सदा के लिए अपना सम्बन्ध तोड़ आई है। इसपर मैंने जब उससे कहा कि मैं भैया से कहूंगी। ऐसे मामलों में सन्धि कराते उन्हें देर नहीं लगती।—बस, मेरा इतना कहना था कि वह फूट पड़ी। सिसकियां लेते-लेते उसने कह दिया—'नहीं, नहीं, उनसे न कहना—उनसे न कहना।' देखती हूं, मृत्यु के बाद नये जीवन को प्राप्त कर हम पूर्वजीवन की बातें एकदम भूल जाते हैं—किन्तु राज के वे आंसू मैं कभी न भूल पाऊंगी।"

ब्रजमोहन अब बिलकुल पागल हो गया था।

विजय के सामने एक ही कार्य था ब्रजमोहन की चिकित्सा, परिचर्या और देखरेख। उसे अवकाश ही कहां है कि वह रो भी सके। आंखें यदि उसका कहना न मानें तो बात दूसरी है।

○ ○ ○

मुद्रक : भारत मुद्रणालय, नवीन शाहदरा—३२ 1458

आशा है, यह उपन्यास आपको रुचिकर लगा होगा। इसके बारे में हम आपके बहुमूल्य विचारों का स्वागत करेंगे। राजपाल एण्ड सन्ज़ का सदैव यह प्रयास रहा है कि उत्कृष्ट प्रकाशनों से हिन्दी साहित्य को समृद्ध किया जाय; और यह सब आपके हार्दिक सहयोग पर ही निर्भर है। यदि आप कथा-साहित्य पढ़ने में रुचि रखते हैं तो हमारा उत्कृष्ट कथा-साहित्य मंगवाकर पढ़िए अथवा पुस्तकों का चुनाव करते समय हमें लिखिए। हम आपकी हर संभव सहायता करने का प्रयास करेंगे।